डा० रांगेय राघव के उपन्यासों का
शास्त्रीय अनुशीलन

डॉ० लालमोहन सिंह

संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी

पुरोवाक्

उपन्यास हिन्दी गद्य की नवीन विधा है, जिसका आविर्भाव १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुआ है। इसका उद्‌भव पश्चिम के प्रभाव से हुआ है। योरोप में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् वहाँ की सामाजिक-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, जीवन में जटिलताएँ बढ़ीं, नए मूल्य और मान्यताएँ अस्तित्व मे आयीं और मध्यवित्त वर्ग का उदय हुआ। इस नयी सामाजिक स्थिति की अभिव्यक्ति का उपन्यास सबसे सशक्त माध्यम बना।

हिन्दी में उपन्यास-रचना अंग्रेजी और बंगला के माध्यम से प्रारम्भ हुई। विकास की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास के चार चरण माने जा सकते हैं :-

१. वृत्त प्रिय उपन्यास (सन् १८८२ से १९१८)
२. कला प्रिय उपन्यास (सन् १९१८ से १९४०)
३. नूतन शिल्प का युग (सन् १९४० से १९६०)
४. अद्यतन युग (१९६० से अब तक)

डॉ० रांगेय राघव नव्य शिल्प युग (सन् १९४०-१९६०) के कथाकार हैं। प्रेमचर्न्द के बाद हिन्दी उपन्यास में अनेक नई प्रवृत्तियाँ आती हैं तथा कथा और शिल्प दोनों क्षेत्रों में अनेकानेक प्रयोग होते हैं। इस अवधि की दो दशकों की उपन्यास-रचना एक ओर बाहरी विचारकों से प्रभावित होती है और दूसरी ओर आन्तरिक परिस्थितियों से। बाहरी विचारकों में मार्क्स और फ्रायड का विशेष प्रभाव दिखाई पडता है और आन्तरिक परिस्थितियाँ द्वितीय विश्वयुद्ध तथा देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति से परिचालित होती हैं।

डॉ० रांगेय राघव मुख्यतः मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित उपन्यासकार है। डॉ० लालसाहब ने प्रस्तुत कृति में उनके उपन्यासों का शास्त्रीय अनुशीलन किया है। इस सदर्भ में उन्होने आलोच्य कथाकार के उपन्यासो को सामाजिक उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, जीवनचरितात्मक उपन्यास आदि शीर्षकों में विभक्त करते हुए उनके विभिन्न पक्षो का गहराई से विवेचन किया है। आपकी मान्यता है कि डॉ० रांगेय राघव को श्रमिकों तथा शोषितो से पूर्ण सहानुभूति है और शोषक वर्ग से घृणा है। उपन्यासों में उनका स्वतः का चिन्तन विशेष रूप से अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने मार्क्सवाद का अंधानुकरण नहीं किया है। वह मार्क्सवाद को शाश्वत सत्य के रूप में भी नहीं स्वीकार करते हैं। डॉ० रांगेय राघव मार्क्सवादी साहित्यकारों के उस वर्ग के प्रबल विरोधी रहे हैं, जो यथार्थवाद के नाम पर नग्न यौनवाद का चित्रण करते हैं। समाज केवल यौन समस्याओं का ही भण्डार नहीं है। यौन समस्याओं का उतना ही रूप श्रेयस्कर है, जो अपने सापेक्ष रूप में उचित और स्वस्थ है। डॉ० सिंह की मान्यता है कि रांगेय राघव साम्यवाद से प्रारम्भ करके, क्रमश: मानवतावाद की ओर बढ़ते गए हैं। वह मार्क्सवाद की सीमा में आबद्ध नहीं हैं। वस्तुत वह युग के साथ चलने वाले साहित्यकार थे। अतः किसी 'वाद' की संकुचित सीमा में बँधे नहीं रहे। अतिवादी दृष्टिकोण का उन्होंने सदैव विरोध किया। वस्तुतः वह भारतीय संस्कृति के उपासक रहे हैं, जिसका आधार है- सत्य, अहिंसा, त्याग, क्षमा, तपश्चर्या। अतः वह ऐसे कथाकार के रूप में विख्यात है, जिनका दृष्टिकोण उदार और समन्वयवादी है। उनका धर्म मानवता का धर्म है, जो मूलतः मानव जाति की मंगल-कामना से प्रेरित है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि डॉ० लालसाहब सिह की प्रस्तुत कृति आलोच्य कथाकार को नए आयाम से समझने में आलोक-स्तम्भ का कार्य करेगी। मै उन्हें गहन चिन्तन और मौलिक अभिव्यक्ति-क्षमता के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ।

वासुदेव सिह
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

३०.३.१९९८

प्राक्कथन

मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित उपन्यासकारों में डॉ० रांगेय राघव सर्वाधिक सशक्त हैं। उनके विचार प्रौढ़ और सुलझे हुए हैं। समकालीन समाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों की उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा न केवल अगुआई ही की, बल्कि नये भारत के निर्माण की दिशा का दिग्दर्शन भी उनकी रचनाओं द्वारा हुआ। भारतीय अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न डॉ० रांगेय राघव ने दलितों एवं पीड़ितों के प्रति अपने उपन्यासों में जो करुणा एवं संवेदना प्रदान की उससे हिन्दी साहित्य क्षेत्रीय संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, रूढ़िग्रस्त धार्मिकता एवं राष्ट्रीय सीमाओं को पारकर मानवता के हित में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रविष्ट हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि राघव जी एक प्रतिबद्ध उपन्यासकार थे, पर उनकी प्रतिबद्धता आयातित नहीं, बल्कि राष्ट्रीय थी और अपने सम्पूर्ण लेखकीय जीवन में वे युगीन संवेदनाओं के साथ जुड़े रहे। उन्होंने युग के स्पन्दन के साथ निज की आत्मानुभूति को केवल जोड़ा ही नहीं था, अपितु उसका आत्म साक्षात्कार भी किया था। उनका भोगा हुआ सत्य ही कला एवं कल्पना के बल पर उपन्यासों में व्याख्यायित हुआ है। अपने समय समाज में संवेदनात्मक प्रभावों को ग्रहण की मात्रा प्रत्येक लेखक में एक सी नहीं होती, अपनी-अपनी मौलिक संस्थागत विशिष्टता स्नायविक, रसायनिक और ऐच्छिक सामर्थ्य के अनुसार होती है। उनके सम्पूर्ण उपन्यासों से यही लगता है कि सामाजिकता उनकी विशिष्ट वृत्ति है। हाँ, सामाजिकता के साथ आवश्यक निस्संगता एवं स्वतंत्रता उनमें है- समाज के प्रभावों को स्वीकार-सँवार या नकार कर समाज का विकास करना भी उनका दायित्व रहा है और इसके लिए उनका नये-पुराने साहित्य का अध्ययन-मनन एवं समस्याओं की गहराई में पकड़ने की उनकी पुरातत्वों की शोध-प्रवृत्ति तथा विवेक-सम्पन्न वैचारिकता भी काम आयी है; सारांश में वे जीवन से प्रभावित होते हैं, तो उसे प्रभावित भी करते हैं।

डॉ० रांगेय राघव के साहित्य को सामंती कटघरे से निकालकर उसे सामान्य जनता का विषय बनाया। उन्होंने साहित्य के सिंहासन से देवी, देवियों तथा महाराजा एवं महारानियों को हटाकर शोषित जनों को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अपनी रचनाएँ युग के साथ की और वे अपने को निरंतर नये संदर्भों के साथ जोड़ते रहे। उनके उपन्यासों में उनका युग बोल रहा है, युगीन चेतना के ताने-बाने से उपन्यास-साहित्य का सर्जन हुआ है। उन्होंने साहित्य-सृजन प्रेमचन्दोत्तर काल से प्रारम्भ किया, परन्तु समकालीन जन-जीवन के साथ-साथ भारत के अतीतकालीन परिवेश में प्रवेश कर प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक समय के भारतीय सामाजिक जीवन का बहुमुखी चित्रण किया है। 'महायात्रा : गाथा- अंधेरा रास्ता' प्रागैतिहासिक काल से लेकर १५०० ई० पू० तक के भारत, 'महायात्रा :गाथा -रैन और चन्दा' १५०० ई० पू० से लेकर १२०० ई० तक के भारत, 'मुर्दों का टीला' ३५०० ई० पू० के भारत, 'प्रतिदान', 'देवकी का बेटा' तथा 'अँधेरे के जुगनू' महाभारतयुगीन भारत 'राह न रुकी', 'पक्षी और आकाश' वर्द्धमान बुद्ध युगीन भारत, 'चीवर' हर्षकालीन, भारत 'यशोधरा जीत गयी', 'धूनी का धूआँ', 'जब आवेगी काली घटा', 'लोई का ताना', 'रत्ना की बात', 'मेरी भवबाधा हरो', 'आँधी की नीवें', मध्यकालीन भारत, 'भारती का सपूत' सन् १८५० से १८८४ तक के भारत, 'हुजूर' ब्रिटिश युगीन भारत, 'राई और पर्वत', 'पथ का पाप' आधुनिक भारत के महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। राघव जी विचारक वाद-युक्त तथा विवेक-युक्त हैं। इसलिये वे बिना किसी विशेषण के उदार मानवतावादी बन सके हैं। साथ ही अतीत और पुरातन को वे आँख मूँद कर स्वीकारते नहीं हैं और न आधुनिक बनने की होड़ में नकारते हैं। इस कृति में उनके सम्पूर्ण उपन्यासों का अनुशीलन उपन्यास-कला के परम्परागत शासन के आधार पर किया गया है।

-लालसाहब सिंह

अनुक्रम

अध्याय एक

□

डॉ० रांगेय राघव का जीवन-दर्शन

एवं

उनके उपन्यासों का वर्गीकरण

पूर्व स्थान और जन्म-स्थान

डॉ० रांगेय राघव के पूर्वज मूलतः तिरुपति(आन्ध्रप्रदेश) के निवासी थे। वहीं से वे मथुरा गये। मथुरा में जयपुर के महाराज से उनकी भेंट हुई। उनकी विद्वता से अत्यन्त प्रभावित होकर महाराजा ने उनसे जयपुर चलने का निवेदन किया। जयपुर आने पर महाराजा ने उन्हें 'वैर' की जागीर उपहार-स्वरुप प्रदान कर दी[1]। जागीर के अतिरिक्त राजकुल से हजारों रुपये वार्षिक आय होने लगी और यहीं पर परिवार स्थायी रुप से रहने लगा। डॉ० रांगेय राघव का जन्म यहीं हुआ। जन्म के लगभग छः वर्ष पश्चात् इनके पिता रंगनाथ वीर राघवचार्य इन लोगों को सुचारु रुप से शिक्षा दिलाने के लिए आगरा में रहने लगे। शिक्षा प्राप्ति के बाद वैर से डॉ० रांगेय राघव का सम्बन्ध बना रहा। इनके बड़े भाई श्री टी० एन० के० आचार्य का परिवार आज भी 'वैर' गाँव में रहता है। यह गाँव बयाना से लगभग बारह मील की दूरी पर है, जो सामान्य गाँव से भिन्न एक कस्बे के रुप में है। यह परिवार लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व तिरुपति से मथुरा होता हुआ भरतपुर आया था[2]। इस प्रकार राघव-परिवार की कई पीढ़ियाँ यहाँ रहती आयी हैं।

कौटुम्बिक व्यवस्था

राघव-परिवार संयुक्त और आधुनिक परिवार का संगम है। शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी यह परिवार वेश-भूषा और रहन-सहन में प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुकूल है। श्रीरंगाचार्य इस लघु परिवार के पोषक थे। धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण प्रायः मंदिर में ही रहा करते थे। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे, किन्तु उनकी वेश-भूषा अत्यन्त साधारण थी। उनकी मृत्यु के पश्चात् इस संयुक्त परिवार का भार इन तीनों भाइयों पर आ पड़ा। नौकरी करने के कारण डा० रांगेय राघव के दोनों अग्रज बाहर ही रहा करते थे, किन्तु वे डा० रांगेय राघव की आर्थिक सहायता किया करते थे। कालान्तर में उन्होंने भी अपने भाइयों की आर्थिक सहायता की थी।

विवाहादि के क्षेत्र में इस परिवार में नयी सभ्यता ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। श्री लक्ष्मी सिंह आचार्य का विवाह ३८ वर्ष की अवस्था में हुआ था। रांगेय राघव भी विवाह के समय ३३ वर्ष के थे। जहाँ इनके परिवार पर नयी सभ्यता का प्रभाव है, वहीं जाति-पाँति के विषय में यह कुटुम्ब बड़ा पुरातनपंथी भी है। यही कारण है कि इनके किसी भाई का अन्तर्जातीय विवाह नहीं हुआ, यद्यपि विवाह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सबको प्राप्त थी। संस्कृत भाषा के प्रति इन लोगों का विशेष प्रेम था, किन्तु युग-प्रवाह के कारण इन लोगों की शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से ही हुई।

राघव-परिवार की यह विशेषता रही है कि वह छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कार्य करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। डा० रांगेय राघव रुग्णावस्था में माहिम (बंबई) में स्वयं अपना सभी कार्य कर लेते थे, यहाँ तक बिना किसी को बताये चाय आदि बनाने के लिए भी उद्यत हो जाते थे[3]। सम्पूर्ण परिवार मृदु भाषण में पटु है। पत्रादि लिखने में भी कोई सदस्य हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करता। इस सन्दर्भ में इनकी पत्नी श्रीमती सुलोचना नाम विशेष उल्लेखनीय है[4]।

जन्म-तिथि और नाम

डॉ० रांगेय का जन्म १७ जनवरी, १९२३ को प्रातःकाल हुआ था। इनके जन्म का नाम त्र्यंबक वीर राघवाचार्य था। सबसे छोटे होने के कारण ये अनेक स्नेहिल नामों से पुकारे जाते थे। माता वनकम्मा इन्हें 'पप्पू' कह कर बुलाया करती थीं। यही नाम मित्र-मंडली में भी प्रचलित हो गया और बाद में घर से विद्यालय तक सभी इन्हें 'पप्पू' कह कर ही बुलाया करते थे। कुछ लोग इन्हें आचार्य भी कहते थे[5], किन्तु इस नाम को अधिक बल नहीं मिला। वैर गाँव के कृषक इन्हें 'महाराज' या 'भैया' शब्द से संबोधित करते थे। वे गाँव के लोगों के 'भैयाजी' थे। घर के नौकर और अन्य लोग ज्यों ही भैया जी के पास आते, इतने मुग्ध होकर उनसे बातें करने लगते जैसे रांगेय राघव जी सचमुच इन सबके बड़े भैया थे[6]। साहित्यिक-जीवन में पदार्पण के पश्चात् इन्होंने अपना नाम 'रांगेय राघव' रखा, जिससे आज साहित्य-प्रेमी परिचित है। एक बार भारतभूषण अग्रवाल

---

१. डॉ० रांगेय राघव के साले श्री ए०के०एस० अय्यंगर से प्राप्त समाचार।

२. साहित्य-सन्देश : जनवरी फरवरी १९६२, राघव स्मृति-अंक, पृ० ३४४।

३ डॉ० रांगेय राघव के साले श्री ए०के०एस० अय्यंगर से प्राप्त सूचना।

४ स्वयं मै उनके पत्र से लाभान्वित।

५ निष्ठा, रांगेय राघव अंक : १९६६, पृ० २८।

६ साहित्य-संदेश : जनवरी-फरवरी, १९६३, रांगेय राघव स्मृति-अंक, पृ० ३२८।

ने इन्हें उनके विशाल दाक्षिणात्य कवित्वहीन नाम का आतंक दिखाया, जिसके कारण से उनकी कविता सादर लौटा दी जाती थी। तभी से डॉ० रांगेय राघव ने अपना साहित्यिक नाम रखा रांगेय राघव[1]।

इतिहास-चिन्तन

'इतिहास की दरिद्रता' नामक पुस्तक में श्री पौपर ने तथा उन्हीं की भाँत अन्य पूर्जावादी पश्चिमी इतिहासकारों ने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद में प्रतिपादित सिद्धान्तों के विरुद्ध यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या सम्भव नहीं है। इन लोगों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या अवैज्ञानिक है। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध डा० रांगेय राघव ने भारतीय इतिहास और परम्परा की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। इनकी यह मान्यता है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ही वैज्ञानिक है। इनका इतिहास विषयक चिंतन 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास', 'महायात्रा: अंधेरा रास्ता', 'महायात्रा': रैन और चंदा', 'अंधेरे के जुगनू' आदि कृतियों में बिखरा पड़ा है। डॉ० रांगेय राघव यह मानते है कि भारतीय इतिहास के विकास की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, क्षेत्र संबंधी विशेषताएँ इनमें मुख्य हैं तथा यह भी कि इस विराट देश में एकसमय में विकास के विभिन्न सोपान देखे जा सकते है। मार्क्स ने भी 'एशियाटिक' इतिहास को यूरोपीय इतिहास से कुछ भिन्न माना था, किन्तु भारतीय इतिहास इतना विचित्र और अलौकिक नहीं है कि उसका अध्ययन मार्क्सवादी कोटिओं से सर्वथा परे हो[2]।

डॉ० रांगेय राघव ने भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में कुछ परम्परावादी दृष्टिकोणों का खण्डन भी किया है। वे यह नहीं स्वीकार करते कि इस देश का विकास केवल आध्यात्मिक है, भौतिकवादी नहीं। इनके मतानुसार यह धारणा भी भ्रामक है कि भारत के इतिहास में मार्क्सवादी कोटियाँ आदिम साम्यवाद, दास-प्रथा और सामन्तवाद आदि लागू नहीं होती जैसा कि वे यूरोप के इतिहास पर लागू होती हैं। इनकी मान्यता है कि आर्य कबीलों में 'साम्यवाद' था। 'लोकायत' के लेखक श्री चट्टोपाध्याय ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है कि वेदों मे आदिम साम्यवाद का रुप विद्यमान है[3]।

आर्यों का आगम और द्रविड़-संघर्ष का विवेचन 'मुर्दों का टीला' उपन्यास में किया गया है। इनकी महान् ऐतिहासिक कृति 'भारतीय परम्परा और इतिहास' पर २१०० रुपये का डालमिया-पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। 'इतिहास में उन्हें अत्यधिक रुचि थी।' 'महायात्रा' में उन्होंने भारत के इतिहास को एक नवीन दृष्टि से देखने का प्रयास किया है[4]।

पुरातत्व चिन्तन

बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० रांगेय राघव का चिन्तन पुरातत्व के क्षेत्र में भी था। प्रायः सन्ध्या समय वे वैर के खण्डहरों को देखने के लिए जाया करते थे और वहाँ अनेक मूर्तियों का निरीक्षण किया करते थे। 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास इनके उसी चिन्तन का फल है। इन्होंने बुद्धकालीन प्रतिमाओं की भी खोज की, जिसके सम्बन्ध में अनेक विदेशी पुरातत्व-वेत्ता इनसे मिलने वैर आये। इन आगन्तुकों में एक अमेरीकी विद्वान भी थे जो एक विदेशी समाचार एजेन्सी 'नाफेन' से आशय समझ कर वैर आये थे। इस खोज में डॉ० रांगेय राघव को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक समय इनके विरुद्ध यह षड्यन्त्र रचा गया कि डॉ० रांगेय राघव यदि कहीं पास भी फटकें तो मूर्ति की चोरी के आरोप में उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाय। एक तरफ तो यह सब कार्रवाई की गई और दूसरी तरफ जयपुर पुरातत्व संग्रहालय के अधिकारियों ने यह प्रचार किया कि वैर में कोई चीज पुरातात्विक महत्व की नहीं है। वह तो केवल डॉ० रांगेय राघव का 'स्टण्ट' मात्र है[5]। किन्तु इन निन्दाओं की उपेक्षा करते हुए डॉ० रांगेय राघव ने इस क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की।

डॉ० रांगेय राघव का दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त सुखद रहा और ये अपनी पत्नी को साहित्यिक प्रेरणा के रुप मे स्वीकार करते थे। मित्र-मण्डली में आते-जाते सुलोचनाजी उनके साथ रहा करती थीं। ८ फरवरी, १९६० में राघव जी की पुत्री का जन्म हुआ। सुलोचनाजी ने उसका नाम 'कल्पना' रखा, किन्तु डॉ० रांगेय राघव इस नाम से सन्तुष्ट न हुए और उसका नाम 'सीमन्तिनी' रखा। आज वह पितृ-विहीना बालिका जयपुर में अपनी मा के साथ है।

---

१ वही, पृ० ३३७।

२ साहित्य-संदेश : जनवरी-फरवरी १९६३, रांगेय राघव स्मृति-अंक, पृ० ३०१। ३. लोकायत : अंग्रेजी में।

४ अ०भा०रा०प० सम्मेलन १२वाँ अधिवेशन के पर महत्वपूर्ण पुरस्कार १९६६ पृ०२

५ साहित्य संदेश जनवरी फरवरी १९६२ रांगेय राघव स्मृति-अंक पृ०३३४

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व एक इकाई है। उसे आन्तरिक और बहिर्गत पक्षों में विभाजित इसलिए नहीं किया जा सकता कि दोनों एक-दूसरे के पूरक है, कार्य-कारण भी। उसके अध्ययन की सुविधा के लिए आकृति और प्रकृति, व्यवहार और स्वभाव अथवा चरित्र और शील-विषयक अन्तरंग तथा बहिरंग भेद किये जा सकते हैं। व्यक्तित्व का बाह्य पक्ष आकृति, वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान, व्यसन-व्यवहार, हास-परिहास, बोल-चाल आदि से सम्बन्ध रखता है। उसका आन्तरिक पक्ष स्नेह-सद्भाव विविध मनोवृत्तियों तथा स्वभाव आदि से सम्बद्ध है[1]।

मधुर व्यंग्यकार

डॉ० रांगेय राघव बड़े मधुर व्यंग्यकार थे। व्यंग्य के समय वे किसी प्रकार की मर्यादा स्वीकार नहीं करते थे। इनका विनोद सह्रदयता से भरा रहता था, किन्तु तीखा और पैना भी होता था। साहित्यकारों से लेकर गाँव के अशिक्षित कृषक तक इनके विनोद के पात्र बनते थे।' मजाक करने में ये गांव के लोगों के साथ भी बाज न आते। मन्दिर से निकलते ही कभी-कभी रिटायर्ड मास्टर किशनलाल मिल जाते। मास्टर साहब असीम श्रद्धा से 'अर्डीग' (दण्डवत्) करते, लेकिन रांगेय राघव जी एक बार हाथ उठाकर फौरन पास खड़े सुक्खी नाई से कह उठते- अबे सुक्खी, मास्टर साहब के लिए तूठू वे गोल-गोल और लम्बी-लम्बी नहीं लाया, बेचारे कितने परेशान हैं भिण्डियों के बिना। बस यह कहना हुआ कि 'मास्टर किशन-लाल चिढ़ गये और 'राम राम, क्या नाम ले दिया। यह कहते हुए मास्टर साहब भैया-जी पर बरस पड़ते, लेकिन भैयाजी फिर भी सुक्खी से कहते जाते- देख, लंबी और पतली-पतली छांटकर लाना। इस पर बीच रास्ते में ही ठहाके लगाने लगते और दस-पॉच जो उस समय भैया जी के पास खड़े होते उस मनोविनोद में विभोर हो जाते[2]। साहित्यिक व्यक्तियों से भी उनका मजाक चलता रहता था। श्री कुन्दनलाल उप्रेति ने राजनाथ शर्मा के साथ एक मजाक का संकेत करते हुए लिखा है एक दिन की बात है राजामण्डी के चौराहे पर खड़े सिगरेट पी रहे थे। मैं भी साथ था। कुछ देर बातें करने के बाद मुझसे इशारा करते हुए बोले- देख उत्पाती।(मुझसे उत्पाती ही कहते) यह कौन आ रहा है? मैंने उस तरफ देखा, राजनाथ शर्मा थे। जैसे ही शर्माजी करीब आये आचार्य जी ने पीठ फेरकर जल्दी-जल्दी यह जाप करना प्रारम्भ कर दिया- ''भूतपिचाश निकट नहीं आवे! महावीर जब नाम सुनावै।'' बस शर्माजी खिसियानी हसी लेकर रह गये[3]।

डॉ० रांगेय राघव कटु सत्य कह देने में हिचकिचाते नहीं थे। इनके इस स्वभाव का प्रभाव उपन्यास के पात्रों पर भी पड़ा है। यही मूल कारण है कि इनके अधिकांश उपन्यास 'अतियथार्थवादी' हो गये हैं। सभा-सोसायटी में भी ये मौलिकता की अपेक्षा रखते थे 'नीमा' में डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का तन्त्र पर भाषण चल रहा था। चाय के दौर भी चल रहे थे। धुओं का गुबार भी उठ रहा था। मगर भाषण में मजा नहीं आ रहा था। डॉ० रांगेय राघव ने सिगरेट और प्याले से ध्यान हटाकर यकायक उपाध्यायजी को रोकते हुए बोले- 'एक्सक्यूज मी' 'एक मिनट' और जेब से एक सेरीडोन की टिकिया निकाली और चाय की एक चुस्की के साथ निगल गये। कुछ कड़ुवाहट के कारण मुँह बनाते हुए फिर एक चुस्की और लेते हुए उपाध्यायजी की ओर मुखातिब होकर कहा- नाव यू क्वेरी आन। उपाध्यायजी सिर पर गिने बाल झेंप से टटोलते हुए बोले-'मारा'[4]। श्री घनश्याम अस्थाना ने एक उपहार के प्रसंग में भी उनके मजाक का उल्लेख किया है- 'घनश्यामजी।' उनकी आवाज सुनायी पडी। मैं बाहर गया। दरवाजे मे घुसते हुए मेरे कान में बोले- ''क्यों भई, अपनी बीबी को ताले में बन्द करके रखता है, इतना ही डर था तो शादी क्यों की थी।'' और निर्मल से बचाकर मेरी तरफ एक शैतान भरी हसी उडेल दी। सुलोचनाजी के हाथ में ''वेडिंग प्रजेण्ट'' थी। कागज खोला, टैबिल लैम्प था। भालू के सिर पर बल्ब। हम लोग भालू की आकृति देखकर हँस पड़े। रांगेय राघव निहायत अदब की मुद्रा में निर्मल की ओर उपहार बढाते हुए बोले- ''घनश्यामजी से मिलती-जुलती चीज देनी थी'' । सुलोचनाजी हँस रही थीं, निर्मल को शायद पहली बार मेरी बदसूरती का अहसास हुआ[5]।

---

१ डॉ० कमलाकान्त पाठक : मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य, पृ० ५७।

२ साहित्य-संदेश : जनवरी-फरवरी, १९६३ :राघव-संस्कृति-अंक, पृ० ३१८-२१।

३ वही, पृ० ३३८।

४ वही, पृ० ३३८।

५ धर्मयुग : ४ नवंबर १९६२, पृ० २०-२१।

उनके अन्तिम दिन

डॉ० रांगेय राघव जन्म से ही रोगी थे। बचपन में टायफायड, मलेरिया आदि से ये ग्रस्त थे। युवावस्था में पेचिस और अनिद्रा के शिकार हो गये। ये अपने स्वास्थ्य के प्रति सतर्क नहीं थे। अनिद्रा को अभिशाप न मानकर वरदान मानते थे। एक बार इन्होंने अपने एक अनिद्रा से पीड़ित मित्र से कहा- "पागल हुए हो, हम साहित्यकारों के लिए वरदान है। जितना जागो उतना ही लिखोगे"[१]। अनिद्रा और घोर परिश्रम ने इनके स्वास्थ्य को चौपट कर दिया। १९४८ में ही इन्हें अपने स्वास्थ्य पर अविश्वास हो गया था। जीवन के प्रति एक अजीब प्रकार का विराग इनमें आ गया। लिखना एक दम बन्द कर दिया था, सिर्फ एक कविता लिखी थी, "ऐ रे! मेरे मरण आया द्वार!" विभोर होकर उसे गाते और उसी मुग्ध-गम्भीर स्वर में कहते, "रांगेय राघव इज डेड लांग लिव टी०एन०बी०आचार्य।"[२] १९४८ के पश्चात् इनके स्वास्थ्य में सुधार होने लगा और ये कालान्तर में पूर्ण स्वस्थ हो गये। अपने स्वास्थ्य के बारे में ये मित्रों से बहुत कम बात करते थे। १९५७ के पश्चात् ये प्रायः अस्वस्थ रहने लगे और बाद में पर्याप्त कमजोर हो गये। इनके गले में एक गांठ पड़ गयी थी, जिसके कारण असह्य पीड़ा होती थी। दवा कराने के लिये ये अपने भाई श्री एल०एन०आचार्य के पास मुरादाबाद गये, किन्तु कोई लाभ न हुआ। इसके पश्चात् ये १९६१ में आगरा चले आये और गोवर्धन होटल में रुक कर "सरोजिनी नायडू" अस्पताल में इलाज कराने लगे। इनके गले की गांठ भी ठीक हो गयी और ये स्वस्थ होने लगे। स्वस्थ होने पर ये जयपुर चले आये और बापूनगर में किराये के मकान में रहने लगे। थोड़े समय के पश्चात् ही ये फिर बीमार पड़ गये और तेज ज्वर से ग्रसित हो गये। डॉक्टर निदान करते रहे। कोई लिवर का इलाज करता तो कोई पेट में आंव बताता, किन्तु डॉ० रांगेय राघव को कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में १७ मार्च १९६२ में जयपुर के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० हैलिंग ने इनके बड़े भाई श्री टी०एन०के० आचार्य को बुलाकर कहा " पहली गाड़ी से बम्बई ले जाओ, यह कैंसर है।"[३] इसके पश्चात् राघव बम्बई चले आये और 'बम्बई टाटा कैंसर हास्पिटल' में भर्ती हो गये। ४ अप्रैल १९६२ को कैंसर के सबसे बड़े डाक्टर जस्सावाला ने इनकी बीमारी का निदान किया और हाजकिन्स डिडीज़ (रक्त कैंसर) बताया। इंजेक्शन और दवाइयाँ इन्हें नियमित दी जाती रहीं। इस काल में इनके स्वास्थ्य में विशेष सुधार हुआ और इनका वजन लगभग १२० पौण्ड तक पहुँच गया। अपने सुधरते हुए स्वास्थ्य के विषय में इन्होंने श्री घनश्याम अस्थाना को एक पत्र लिखा, मैं धीरे-धीरे सुधार पर हूँ। अगर ईश्वर की मर्जी हुई तो बिल्कुल ठीक हो जाऊंगा। विदेश-यात्रा मैं ठोस आधार पर ही करूँगा। पूछताछ की है, अगर रुस में हाजकिन्स रोग का कोई विशेष इलाज होता हो। उम्मीद है डा० वालिया से जवाब जल्द ही मिलेगा। उसके बाद ही हम कुछ तय कर सकते है।"[४] इंजेक्शन का कोर्स पूरा होने के बाद डाक्टरों ने दवा बन्द कर दी और इनसे ११ जून को पुनः निरीक्षण हेतु आने के लिए कहा। इस बीच में ज्वर की पुनरावृत्ति हुई और तिल्ली तथा जिगर भी अधिक बढ़ा हुआ नजर आने लगा। जब ये निश्चित दिन को फिर टाटा हास्पिटल गये तो डाक्टरों ने बार-बार प्रश्न करने पर कि ज्वर की पुनरावृत्ति क्यों होती है और जिगर तथा तिल्ली इतने क्यों बढ़ गये हैं, तो कोई संतोषजनक उत्तर न मिला। डॉ० रांगेय राघव उनकी दवा से निराश हो गये।[५] उसी दिन इनके मस्तिष्क को एक गहरा आघात तब पहुँचा, जब इन्होंने माहिम में उस फाइल को पढ़ लिया, जिसमें डॉ० जस्सावाला ने जयपुर के डाक्टर हैलिंग को एक पत्र लिखकर इनके भावी जीवन की अनिश्चितता की चर्चा की थी। यह फाइल डॉ० रांगेय राघव के सम्बन्धी श्री निवास की असावधानी के कारण उस कमरे में छूट गयी थी। इसके पहले डॉ० राघव कैंसर की बीमारी तो जानते थे, किन्तु इन्हें यह पता नहीं था कि इसका अन्त प्रायः प्राण लेकर ही होता है। उस दिन से राघवजी अत्यन्त उदास रहने लगे। सुलोचनाजी भी विशेष चिंतित रहने लगीं। इन संकट की घड़ियों में भी इनका अध्ययन चलता रहा। माहिम में एकान्त के अभाव के कारण ये १५ जून, १९६२ को अपनी सास के पास चैम्बूर चले आये। वहाँ पढ़ने-लिखने की पूर्ण सुविधा थी। इस समय भी इनको ज्वर आता रहा, फिर भी ये साहित्य-रचना में जुट गये। पण्डित राजगन्नाथ के संस्कृत के श्रृंगार-काव्य "भामिनी बिलास" का हिन्दी में इन्होंने अनुवाद कर डाला। पद्यानुवाद के साथ ही साथ उसको अलंकृत करने

---

१. साहित्य-संदेश : जनवरी-फरवरी, ६३, रांगेय राघव स्मृति-अंक, पृ० ३३९।

२. धर्मयुग, ४ नवंबर, १९६२, पृ० २१।

३. निष्ठा, रांगेय राघव-अंक, पृ० ८६।

४ धर्मयुग १७ जनवरी १९६५ पृ० ४८।

५ धर्मयुग १४ अक्टूबर १९६२ पृ० १९।

के लिए इन्होंने चित्र भी बनाया। ये महाकवि जयदेव के ''गीत गोविंदम्' का पद्यानुवाद करना चाहते थे, किन्तु बीमारी ने इन्हें ऐसा न करने दिया।

डॉ० रांगेय राघव का स्वास्थ्य निरन्तर गिरने लगा। इन्होंने प्रख्यात वैद्य पं०शिव शर्मा से भी परामर्श लिया, किन्तु कोई लाभ न हुआ। इन दिनों इनके सम्पूर्ण शरीर और विशेषतः पीठ में भयंकर पीड़ा होने लगी थी। श्री पदमकुमार जैन के कहने पर १२ जुलाई, १९६२ को ये चैम्बूर से ''मलबार हिल'' चले गये। श्री जैन की राय से ये वैद्य रतीलाल से दवा कराने लगे। वैद्य केवल मूँगा का पानी व चाय आदि देते रहे। शुरु के एक सप्ताह में उनकी कमर और पीठ की पीडा गायब हो गयी और उनको लगा कि उनकी ग्रन्थियाँ बैठती जा रही हैं। उन्हें वैद्य जी पर पूरा विश्वास हो गया।[1] ज्वर कम हो जाने पर २० जुलाई १९६२ को जैन साहब के पास से चेम्बूर चले गये। वहाँ पहुँचते ही ये पुनः ज्वर पीड़ित हो गये। ३० अगस्त को ये सहसा अधिक बीमार हो गये और ३१ अगस्त को इन्हें टायफायड हो गया। उसी दिन शाम को इन्हें बम्बई अस्पताल में डाक्टर बालिगा के अन्तर्गत भरती करा दिया गया। उस समय इनको पीलिया का भी रोग हो गया, जिससे बुखार बढ़ने लगा। इन्हें ग्लूकोज सौलूशन और विभिन्न विटामिनों के इंजेक्शन निरन्तर दिये जाने लगे। ८ सितम्बर को इन्हें रक्त भी पहुँचाया गया, किन्तु कोई लाभ न हुआ। ११ सितम्बर से ही इनकी स्थिति गम्भीर हो गयी और १२ सितम्बर, बुधवार को अनिद्रा का रोगी लगभग ३ बजकर ५६ मिनट पर सदा के लिए सो गया।'' इतनी बड़ी आस्था टूट गयी। इतना प्रबल वेग रुक गया! एक युवा साहित्यकार चल बसा, जो जिन्दगी से हमेशा प्यार करता रहा, जिसके लिए जीना विवशता नहीं, धर्म था, जिसकी प्रबल ईमानदारी एक मेरुदण्ड का आधार थी। वह नहीं रहा। वह टूट गया। वह नहीं टूटा, वह नहीं मरा-आस्था मर गयी है। बेईमान मौत ने एक हसीन जिन्दगी को छलकर मिटा दिया है।''[2]

शारीरिक सौन्दर्य के धनी इस महापुरुष का चेहरा मृत्यु के समय भी दमक रहा था। ''कैसी दिव्य मुस्कान थी वह! कितना आकर्षक रहा होगा उस जाने वाले का रुप! मन में आया कि भगवान मुझे स्त्री रुप देता तो उसके होंठों को चूम लेता, लेकिन उस मृतक की पत्नी उसके पैरों को अपनी आँखों और माथे से लगा रही थी। काश! उसका ध्यान उसके होंठों की तरफ चला जाता।

मैंने पूछा कि ये महापुरुष कौन है? जवाब देने वाले ने कहा कि ये है देश के एक महान् लेखक श्री रांगेय राघव।[3]

इनकी अल्पायु होने की भविष्यवाणी इनके जन्म के ही दिन मिल चुकी थी। ''एक फकीर ने देहरी पार करते हुए कहा, 'देखो सितारा चमका, लेकिन यह ज्यादा दिन नहीं रहेगा। '' उस समय पिता ने कहा था, 'साई, यह तुम क्या कहते हो? रुस्तम खां की यह बात कितनी सही निकली। विधि की रेखा को कौन मिटा सकता है''।[4] डॉ रांगेय राघव हिन्दी के ऐसे तपःपूत महारथियों में थे, जिन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक मृत्यु से संघर्ष करते हुए साहित्य की सेवा की। इनकी मृत्यु उस समय हुई, जब वे अपने पूर्ण विकास पर थे।

साहित्यिक जीवन की यंत्रणाएं

डॉ० रांगेय राघव को अपने साहित्यिक जीवन में अनेक अवरोधों का सामना करना पड़ा। इन्होंने १९३७ में ही १४ वर्ष की अवस्था में लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इनकी पहली रचना, जो एक गीत थी, कलकत्ते मे प्रकाशित होनेवाले 'साप्ताहिक विश्वमित्र' में छपी थी। कालान्तर में 'विशाल भारत' के मुखपृष्ठ पर छपने वाली कविताओं ने इन्हें प्रगतिशील कवियों की प्रथम पंक्ति में बैठा दिया। 'हंस' मे छपे इनके रिपोर्ताज और कहानियों ने इन्हें सशक्त गद्य लेखक के रुप में ख्याति प्रदान की। १९३८ में इन्होंने कुछ विदेशी उपन्यासों का हिन्दी में छायानुवाद भी किया। शुरु-शुरु में दाक्षिणात्य संज्ञा ने इन्हें ठोकर दिया, जिसके कारण इनकी कविताएँ सादर लौटा दी जाती थी। इसी अपमान से बचने के लिए इन्हें अपना दूसरा साहित्यिक नाम रखना पड़ा। कालान्तर में आर्थिक विषमता ने इन्हे इतना अधिक झकझोर दिया कि परमुखापेक्षी बनने के लिए विवश हो गये। यही कारण है कि 'घरौंदा', 'मुर्दो का टीला', 'कब तक पुकारुँ' का लेखक 'प्रोफेसर और पतझर' जैसा उपन्यास

---

१ वही, पृ० ११।

२ निष्ठा, रांगेय राघव-अंक १९६६, पृ० ५।

३ श्री महावीर अधिकारी : दस्तूर, अप्रकाशित उपन्यास।

४ अ०भा०रा० सम्मेलन, १२ वाँ अधिवेसन, औरंगाबाद, मराठवाड़ा:महात्मा गांधी पुरस्कार, १९६६, पृ० १।

लिखने के लिए विवश हो गया। जीवनयापन हेतु इन्हें प्रकाशकों के निर्देशानुसार लिखना पड़ा, जिसके कारण कुछ रचनाएँ सस्ती हो गयी है। इस प्रसंग में प्रो० जगतपाल सिंह ने लिखा है, मैंने पूछा कि लोग कहते है कि उपन्यास-साहित्य में आपने इतनी कृतियाँ दी है कि वह भर्ती की सामग्री-सी लगने लगी है, यानी कि बहुत सी कृतियाँ केवल शिथिल भाषा में लिखी गयी बिना सिर-पैर लम्बी-लम्बी कहानियाँ ही हैं? इस बार वे थोड़े गम्भीर हुए बोले- सिंह साहब, कभी लिखना मजदूरी भी हो जाता है। जिन कृतियों को लोग भर्ती बताते है वे भी सत्य हैं। मैं कैसे कहूँ कि वे कृतियाँ भी मेरी अनुभूतियों का आधार लेकर बनी हैं[१]।'

डॉ० रांगेय राघव व्यक्ति-पूजक नहीं थे। इसलिए इन्हें व्यक्ति विशेष की आर्थिक सहायता न मिल सकी। स्वतंत्र लेखन ही इनका व्यवसाय बना। थोड़ा लिखने से ही यदि इनको पर्याप्त पारिश्रमिक मिल जाता तो ये अपने जीवन के मूल्य पर अधिक न लिखते। अतः शोषण की पूंजीवादी व्यवस्था भी बहुत कुछ इनकी मौत के लिए उत्तरदायी है। हिन्दी के कई साहित्यकार इसी व्यवस्था के शिकार हो चुके हैं। प्रेमचन्द, निराला, राहुल सांकृत्यायन, गजानन माधव मुक्तिबोध आदि के दुःखद अन्त से साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई हैं। रुग्णावस्था में भी डॉ० रांगेय राघव को कोई सरकारी सहायता न मिल सकी। इनके बड़े भाई श्री टी०एन०के० आचार्य ने लिखा है कि 'रुसी लेखक चालिशेव और इवाम उससे मिलने आये थे जबकि रुग्ण अवस्था में वह शैय्याशायी था। उन्होंने कहा, यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे बड़े लेखक को जिसने १३५ पुस्तकों की रचना की है, जिनमें से अनेक पुरस्कृत भी हो चुकी है, अपने ही देश में उचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ। हम जानते हैं कि हमारे देश में किसी सुलेखक को कितनी जल्दी स्वीकृति मिल जाती है[२]।

जीवन-दर्शन

मार्क्सवाद

प्राचीन काल से ही विश्व में विचारकों के दो दल स्पष्टतः देखे जा सकते है- आदर्शवादी और भौतिकवादी। आदर्शवादी विचारक इस विश्व के मूल में किसी अलौकिक सत्ता को मानते है, जबकि भौतिकवादी भूत तत्व की प्रधानता को स्वीकार करते हैं भौतिकवाद आदर्शवाद का विरोधी है। आदर्शवाद जहाँ भूत तत्त्व के पूर्व चेतना की सत्ता को मानता है, वहाँ भौतिकवाद चेतना के पूर्व भूत तत्व की सत्ता को स्वीकार करता है। आदर्श अपने मूल में किसी अलौकिक सत्ता के विश्वास पर आधारित है। आदर्शवाद दो लोकों में विश्वास करता है- परलोक अर्थात कल्पित लोक और यह वास्तविक लोक। वह इस वास्तविक लोक और जगत् से पारलौकिक जगत को अधिक महत्व देता है[३]। मार्क्स भौतिकवादी विचारधारा के समर्थक है। उन्होंने अपने दर्शन में भौतिक पदार्थ को सबसे अधिक महत्व दिया। धर्म आत्मा, ईश्वर आदि का उनके दर्शन में कोई स्थान नहीं है[४]। वे जीवन जीने के साधनों को अधिक महत्व देते हैं। वे केवल तात्विक विवेचन को अपना उद्देश्य न मानकर समाज को परिवर्तित करना ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इसलिए वे शोषणहीन आदर्श समाज की व्यवस्था प्रस्तुत करते है। इस प्रकार मार्क्सवाद सामाजिक क्रान्ति का एक नवीन दर्शन है। मार्क्स के अनुसार वाह्य भौतिक जगत् विचारधारा पर नहीं, अपितु विचारधारा ही वाह्य जगत और परिस्थितियों पर आधारित रहती है। हीगल के अनुसार विचार ही सत्य है और वस्तुजगत् का निर्माण विचार तत्व की प्रेरणा से होता है। किन्तु मार्क्स का मत है कि वाह्य भौतिक जगत् का मानव-मस्तिष्क में पड़ा हुआ प्रतिबिंब ही विचार है। तात्पर्य यह है कि भौतिक सृष्टि की छाया ही हमारे मस्तिष्क में विचारों के रुप में अवतरित होती है।

मार्क्सवादी का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। प्रकृति की प्रत्येक कार्य-पद्धति द्वन्द्वात्मक है और इस प्रणाली का सिद्धान्त और उसकी व्याख्या भौतिकवादी है। द्वन्द्वात्मक का लक्ष्य संसार के वास्तविक परिवर्तनों और उनके अन्तःसम्बन्धों की खोज है। साथ ही वह सतत् गतिमान और परस्पर सम्बद्ध वस्तुओं पर विचार करता है[५]। इसी के माध्यम से मार्क्स ने वर्गहीन समाज की कल्पना प्रस्तुत की है। मार्क्स के अनुसार समाज का आजतक का इतिहास वर्गसंघर्ष का इतिहास है। साहित्यकार भी एक सामाजिक व्यक्ति है, अतः वह भी वर्ग-संघर्ष की इस भावना से तटस्थ नहीं रह सकता। उसे भी किसी न किसी वर्ग का साथ देना ही होगा। इसलिए

---

१. साहित्य संदेश, जनवरी-फरवरी १९६३, रांगेय राघव स्मृति अंक, पृ० ३२६।

२. वही, पृ० ३४०-३४१।

३. Marr.s Cornforth :Dialectical Materialism. p. 23.

४. Karl Marx :Selected Work Vol. I p. 269.

५. Morris Conforth : Dialectical Materialism. p. 71.

साम्यवाद की स्थापना शोषित वर्ग के हाथों शोषक वर्ग ध्वंस पर होगी शोषित अर्थात् व्यावसायिक श्रमिक-वर्ग ही इस क्रान्ति के उपयुक्त शक्ति साहस और बुद्धि रखता है। मार्क्स ने भी कहा है कि उन सम्पूर्ण परिस्थितियों का अन्त कर देना अभीष्ट होना चाहिए, जिसके द्वारा मनुष्य ताड़ित-शोषित-हेय एवं अपमानित होता रहता है।

मार्क्सवाद मानव-इतिहास का आधार आर्थिक मानता है। उसके अनुसार अर्थ ही जीवन का विधायक है। युग का सामाजिक और राजनैतिक विकास आर्थिक वर्गों के संघर्ष के आधार पर होता है। इस आर्थिक धरातल के आधार पर ही समाज के वैचारिक धरातल का प्रासाद खड़ा होता है। स्तालिन के अनुसार उत्पादन की प्रणाली जैसी होती है, वैसा ही समाज भी होता है। समाज के विचार, सिद्धान्त, राजनीतिक दृष्टिकोण आदि सभी कुछ वैसे ही होते हैं।[१]

डॉ० रांगेय राघव मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में विश्वास रखनेवाले उपन्यासकार हैं। इन्हें श्रमिकों तथा शोषितों से पूर्ण सहानुभूति है और शोषक वर्ग से घृणा है। इनका मत है कि आर्थिक विषमता के लिए किसी एक व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जब तक परिस्थितियों को बदला नहीं जायगा, आर्थिक विषमता समाप्त नहीं होगी। इसके लिए लोगों को उद्‌बुद्ध करना होगा। 'बंगाल के अकाल' को देखकर इनका हृदय वेदना से पसीज गया। इन्होंने रिपोर्ताज में उसका सजीव वर्णन किया है। अकाल-पीड़ित लोगों का हृदय-विदारक वर्णन इनके समाजवादी उपन्यास 'विषाद मठ' में हुआ। उन दिनों इनका झुकाव राजनीति की ओर अधिक हो गया और ये कम्युनिस्ट पार्टी की सभाओं में भी जाने लगे। किन्तु सक्रिय सदस्य नहीं बने[२]।

डॉ० रांगेय राघव का स्वयं का चिन्तन था। यही कारण है कि इन्होंने मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को ठीक उसी रुप में नहीं स्वीकार किया। इन्होंने अपने दृष्टिकोण से मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को ठीक उसी रुप में नहीं स्वीकार किया। इन्होने अपने दृष्टिकोण से मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की व्याख्या की और जो इनकी तर्क कसौटी पर खरे उतरे, उन्हें स्वीकार कर लिया मार्क्सवाद के सम्बन्ध में इनका मत है कि 'मैं मार्क्सवाद की अनेक आस्थाओं को मानता हूँ, स्वयं अपनी कविताएं राजनीति से रंग चुका हूँ, प्रचार के उस रुप को भी काव्य के अन्तर्गत मानता हूँ, जिसका सोता मन से फूटकर निकलता है, परन्तु मैंने मार्क्सवाद को कभी शाश्वत सत्य नहीं माना, न यही माना कि राजनीति और प्रचार के दायरों में कविता का अन्त है[३]। 'गहन चिन्तन के पश्चात् इन्होंने मार्क्सवादी विचारकों और समीक्षकों को दो वर्गों में बांटा। इनके अनुसार एक विचारधारा मार्क्सवाद को ऐसा सत्य मानती है जिसको परखने की आवश्यकता नहीं है। ये लोग परिस्थितियों पर एक हल्की नजर डालते है और परिणामस्वरुप इनका जनता से कोई सम्पर्क नहीं रह पाता। दूसरी विचारधारा मार्क्सवाद को एक वैज्ञानिक खोज के रुप में लेती है और सत्य को सापेक्ष मानकर परख करती है और यह रुढ़ विचार नहीं मानती कि जो मार्क्स ने कहा है, यह सब कोई ईश्वरीय वाक्य है[४]। यह स्पष्ट है कि ये अपने को दूसरे वर्ग में रखते है। सुमित्रानन्दन पन्त, नरेन्द्र शर्मा आदि कवियों की तरह इन्होंने आँख मूंदकर मार्क्स की प्रशंसा नहीं की।

डॉ० रांगेय राघव का मार्क्सवादी साहित्यकारों के उस वर्ग से प्रायः विरोध ही रहा, जो यथार्थवाद के नाम पर नग्न यौनवाद का चित्रण करता है और अपने पक्ष को सबल करने के लिए समाज में प्रचलित यौन-समस्या को उदाहरण के रुप में रखता है। राघवजी का यौनवाद से विरोध नहीं है, किन्तु ये अतिवाद के समर्थक नहीं हैं। इन्होंने स्पष्ट लिखा है 'यौनवाद के समर्थक दुहाई देते है कि क्या हमारे समाज में यौन समस्याएँ नहीं हैं? उनके लिए उत्तर है- हैं। परन्तु नग्न चित्रण यदि रस लेकर भावनाओं को विकृत करने के लिए है तो वह हमें शरीर की उन परिधियों में घेर लेता है, जो समाज की सामाजिकता के स्थान पर व्यक्तिगत उलझनों में डालता है ये व्यक्तिगत पथ को प्रशस्त नहीं करतीं, भाग्यवाद को स्थान देती हैं। हम समाज में दिगम्बर नहीं रहते।

समाज केवल यौन समस्याओं का ही भण्डार नहीं है। यौन समस्यों का उतना ही रुप श्रेयस्कर है जो अपने सापेक्ष रुप में उचित और स्वस्थ है[५]। इस प्रकार यौनवाद के प्रति इनकी अपनी मौलिक व्याख्या है। मार्क्सवाद के द्वन्द्ववाद पर आधारित वर्ग-संघर्ष के सम्बन्ध में भी इनकी अपनी व्याख्या है। इनके अनुसार 'मार्क्सवाद केवल

---

१ स्तालिन : द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद, अनु० श्रीकृष्णदास, पृ० ३३।

२ आलोचना : नवांक जुलाई १९६५, पृ० १५८।

३ महाकाव्य विवेचन, पृ० ११६।

४ काव्य, कला और शास्त्र, पृ० ३१।

५ संगम और संघर्ष, पृ० २।

६ आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार-भूमिका, पृ० ११।

वर्ग-संघर्ष की व्याख्या नहीं है, वह मानव जीवन के समस्त अंगों का व्यापक अध्ययन है, जो सम्पूर्ण मनुष्य को छूने की सामर्थ्य रखता है। प्रत्येक युग में जो भी विचारधारा रही है, उसने मनुष्य को, उसकी संस्कृति को समर्थ बनाया है और उसके चिंतन को उकसाया है।

डॉ० रांगेय राघव की मार्क्सवादी विचारधाओं के अध्ययन के पश्चात् यही विदित होता है कि ये साम्यवाद से शुरू करके निरन्तर मानवतावाद की ओर बढ़ते गये हैं। ये स्वयं मार्क्सवाद की सीमा में आबद्ध नहीं होना चाहते हैं। इन्होंने स्पष्ट लिखा है, 'मैं कभी मार्क्सवादी ही कहला सकूं, ऐसा नहीं रहा। यदि 'सीधा सादा रास्ता' को कोई गौर से पढ़े तो देख सकता है कि उसमें गांधीवाद का विश्लेषण कम्युनिस्टों वाला नहीं लिखा गया। मार्क्स से जो मुझे लेना था, वही मैंने सदैव लिया, जैसे अन्यों से बहुत कुछ लेने योग्य लिखा है। 'युगों में अपराजित मनुष्य की साधना, वह भावना ढूंढ़ने का पता जो वर्तमान और अतीत में मनुष्य की चेतना को उद्बुद्ध करती है, उसके कष्टों को मिलने की प्रेरणा देती रही है, मेरा प्रयत्न रहा है- और वर्गयुद्ध को मैंने स्वीकार किया है, किंतु मनुष्य को कभी यांत्रिक चिंतन का दास स्वीकार नहीं किया।'[१]

इनकी इस स्वस्थ एवं स्पष्ट विचारधारा के पश्चात् भी जो समीक्षक इनकी रचनाओं को मार्क्सवाद की कसौटी पर कसता है वह मेरी समझ से इनके प्रति अन्याय करता है।

विभिन्न साहित्यिक वाद

छायावाद की कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि जनमानस को अपेक्षित विश्वास दिलाने में असमर्थ सिद्ध हुई और हिन्दी-साहित्य ने प्रगतिवाद को जन्म दिया। प्रगतिवाद ने साहित्य और राजनीति की घनिष्ठता के सम्बर्द्धन में विशेष योग दिया। जब स्वांतः सुखाय का नारा सर्वजन हिताय में बदल गया। साहित्यकारों का वायवी चिन्तन समाज के यथार्थ में लग गया। प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त ने छायावाद का 'युगांत' स्वीकार कर प्रगति को युगवाणी के रूप में तुरन्त अपना लिया। देर-सबेर निराला, राहुल सांस्कृत्यायन, नागार्जुन, यशपाल, अश्क, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव भैरवप्रसाद गुप्त आदि ने भी गद्य के क्षेत्र में अपनी-अपनी सीमाओं में इसे स्वीकार किया।

प्रगतिवादी साहित्य का आधार यथार्थवाद माना गया। यथार्थ के अनेक रूप प्रचलित हैं, जिनमें प्राकृतवाद, अतियथार्थवाद, और सामाजिक यथार्थवाद आदि प्रमुख है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने प्रगतिवाद के संदर्भ में लिखा है-प्रगतिवादी काव्य-धारा सामाजिक यथार्थ के अधिक समीप है और उसका लक्ष्य भी अधिकाधिक समीपता की ओर जाने का है।...... प्रगतिवादी काव्य समाजवादी यथार्थवाद के विवेचन-क्रम के अधिक समीप है।[२] डॉ० रांगेय राघव ने समाजवादी यथार्थवाद का समर्थन किया। इनका मत है, यथार्थ है जीवन का वह वास्तविक चित्रण, जो समाज का पूरा चित्र उतार देता है। समाज में उसका रूप है, उन शक्तियों को बल पहुँचाना जो समाज की विकृतियों को दूर करने में लगी हैं। समाज की मूल विकृति है सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण में असमानता, शोषण। धन के माध्यम से जो आज सारे दोष सम्बन्ध नियंत्रित हैं, वह मनुष्य के समाज की सबसे बड़ी विकृति है। धन तो आज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देता है, न सामाजिक।[३]

यथार्थवादी साहित्य जीवन की वास्तविकताओं को व्यक्त करता है। रोमांस जीवन के यथार्थ की कल्पना और गहरी भावनाओं से अनुरंजित करता है। हिन्दी में सर्वप्रथम मुंशी प्रेमचन्द ने सामाजिक यथार्थवाद को प्रश्रय दिया। प्रेमचन्द ने समस्याओं को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया है, किन्तु समाधान देने का लोभ उन्हें आदर्शवाद की ओर ले जाता था। डॉ० रांगेय राघव प्रेमचन्द के इस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पक्षपाती नहीं थे। कल्पना के प्रासाद राघवजी की कला ने नहीं गढ़े, किन्तु जीवन को उसके समग्र संश्लिष्ट और व्यापक रूप में इनकी कल्पना ने अवश्य ग्रहण किया है।

महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित हिन्दू-मुस्लिम-एकता, अछूतोद्धार, नारी-शिक्षा, मद्य निषेध, आदि सामयिक सुधारवादी आन्दोलनों को रांगेय राघव ने अपने कथा-साहित्य की विषय-वस्तु बनाया। गांधीवादी आन्दोलनों का प्रभाव इनके साहित्य पर राष्ट्रीय आन्दोलन के माध्यम से हुआ था, लेकिन गांधी-चिन्तन का प्रभाव उनके कला-मानस पर नहीं था, जो उन्हें गान्धीवादी विचारक बना सकता।

डॉ० रांगेय राघव युग के साथ चलने वाले साहित्यकार थे। ये किसी भी 'वाद' की सीमा में आबद्ध

---

१ साहित्य संदेश : आधुनिक उपन्यास अंक जुलाई-अगस्त १९५६, पृ० ८७।

२ धर्मयुग ६ अगस्त १९६७, पृ० १८।

३ साहित्य संदेश : जनवरी फरवरी अंक १९६३- रांगेय राघव स्मृति-अंक पृ० २६५।

नहीं होना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवादी, प्रयोग-वादी और गांधीवादी साहित्यकारों से इनकी जम न सकी। किसी भी 'वाद' के प्रति समर्पित साहित्यकार ये नहीं थे। अतिवादी दृष्टिकोण का इन्होंने सदैव विरोध किया है। ''वादों'' के प्रति अपना मत व्यक्त करते हुए इन्होंने लिखा है, ''मैं किसी वाद में सीमित नहीं हो जाता, क्योंकि मैंने किसी की नकल नहीं की। मैंने उपन्यास का मूलाधार भी अन्य अभिव्यक्तियों के रुपों की भाँति भाव को माना है, और भाव के विषय में मेरा मत स्पष्ट ही है कि लोक कल्याण को समन्वित करके ही युग सत्य के बीच मनुष्य की चेतना का निखार भाव को लेकर चलता है। न मैं यौनवादी तृष्णा में व्यक्तिवाद और प्रयोगवाद का आश्रय लेना चाहता हूँ, न प्रगतिवाद के चोले में अपने को यान्त्रिक बना सकता हूँ। मेरे सामने इतिहास है, जीवन है, मनुष्य की पीड़ा है और वह मनुष्य की चेतना जो निरन्तर अन्धकार से लड़ रही है और इससे बढ़कर अभी तक कोई सत्य मेरे सामने नहीं आया है। व्यर्थ की समस्यायें मुझे नहीं आतीं और वह भी व्यक्तिवादी टुंटपुंजियेपन की।[१]

मानवतावाद

आज देश-विदेश के साहित्य में सर्वत्र ही मानवतावाद का स्वर एक उद्‌घोष के रुप में सुनायी देता है। मानवीय चिन्तन के सभी क्षेत्रों में मानवतावाद की विचारधारा को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी है। 'मानव-जीवन के अन्तर्बाहय संघर्षों की स्पष्ट व्यंजना, मानव की मर्यादा और महत्ता की स्थापना आदि साहित्य में मानवतावादी चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करनेवाली कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें दूसरे शब्दों में मानवतावादी साहित्यिक विचार-धारा की विशेषताएँ भी कहा जा सकता है[२]।

मानवतावाद मानववाद की अगली कड़ी है। इसमें आध्यात्मिक तत्व का समावेश होना है। यह आध्यात्मिकता 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना से प्ररित होती है। इसमें अन्धविश्वास के लिए स्थान नहीं है। आधुनिक साहित्यकार इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं। इसलिए आधुनिक साहित्य के मूल में मानवतावादी जीवन-दृष्टि एक महत्वपूर्ण तत्व के रुप में कार्य कार रही है।

मानवतावादी दृष्टिकोण चिन्तन-जगत की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। राजनीति, दर्शन, अध्यात्म और संस्कृति की नवीनतम और उत्कृष्ट विचार सम्पदा द्वारा मानवतावादी चिन्तन पुष्ट और समृद्ध हुआ है। इस चिंतनधारा के कारण साहित्य के नये प्रतिमान स्थापित हुए हैं। भारतीय संस्कृति सदैव मानवतावादी रही है। ''सत्य, अहिंसा, त्याग, क्षमा, तपश्चर्या आदि भारतीय संस्कृति के उपकरण रहे हैं[३]।'' डॉ० रांगेय राघव ने भारतीय संस्कृति के मानवतावादी तत्वों का समर्थन किया है। इनके मत से भारतीय चिन्तन का समन्वयवादी दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी है। इसलिए ये उग्रताओं से सदैव दूर रहे। राघवजी के अनुसार भारतीय संस्कृति ने तीन बातें अपनेमें रमा ली हैं, जो मानवतावाद के लिए आवश्यक तत्व हैं। एक यह कि मौत से डरना व्यर्थ है। हर चीज को मरना है। लेकिन मौत का कभी अन्त नहीं है। एक आदमी मरता है पर अपना बेटा संसार में छोड़ जाता है और क्योंकि कड़ी टूटती नहीं, इसलिए मौत केवल रुप का बदल जाना है। दूसरी बात यह है कि संसार में समय के साथ मनुष्य का धर्म भी बदलता है, इसलिए पुराने लोगों ने अपने धर्म को 'सनातन' यानी हमेशा ही बना रहने वाला कहा है। तीसरी चीज यह मानी गयी है कि इस दुनिया में अनेक तरह से प्राणी रहता है, इसलिए सबके प्रति समान भाव रखना चाहिए, सबको ही यहाँ जीने का अधिकार है, और कोई भी सिद्धान्त या सचाई ऐसी नहीं है जो कि एक आदमी या दल को, दूसरे आदमी या दल के विश्वास का नाश कर देने की बात का अधिकार दे सके[४]।

डॉ० रांगेय राघव ने अपने जीवनचरितात्मक उपन्यासों में मानावतावादी साधकों के जीवन को हमारे समक्ष रखा है, जिससे हम अपनी मानवतावादी संस्कृति का दर्शन कर पाते है। 'धूनी का धुआं' की भूमिका में उन्होंने लिखा है- 'भारत के भविष्य में सम्भवतः संसार को पथ दिखानेवाली ज्योति उदय होगी, जो रुस चीन के अनुभवों की अच्छाइयां लेगी, अपनी परम्परा के मानवतावाद को लेगी और लेगी योग में निहित मानव-जाति की अपार शक्ति और नये समाज, संसार और व्यक्ति का उदय होगा, जिसमें समाज के विकास के साथ, व्यक्ति घुटेगा नहीं, विकास करेगा'[५]। इनके सामाजिक उपन्यासों में भी मानवतावादी स्वर मुखरित है। इन्होंने अपने 'दायरे'

१ धर्मयुग ६ अगस्त १९६७, पृ० १८।

२ श्री देवीप्रसाद गुप्त : आलोचना २६, अप्रैल १९६६, पृ० २४।

३ डॉ० बच्चन सिंह : हिंदी नाटक, पृ० १२२।

४ महाकाव्य विवेचन, पृ० ४१। ५. धूनी का धुआं : भूमिका।

उपन्यास म लिखा है, 'हर आदमी ईश्वर का पुत्र है। वह केवल एक नहीं, अनेक हैं। दायरे के बाहर आया, वह दीखता है। मनुष्य को प्रेम करे तो सारे धर्म, सारे वाद उसके पीछे चलने लगते हैं'[1]।

धर्म

धर्म में डॉ० रांगेय राघव की आस्था थी, किन्तु इन्होंने धर्म में व्याप्त बाह्याडम्बरों का घोर विरोध किया है। इन्होंने 'चीवर', 'राह न रुकी' आदि अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। 'चीवर' में वे यशपाल की 'दिव्या' की भांति बौद्ध धर्म का स्खलित रुप स्वीकार नहीं करते हैं। धर्मो का पलायनवादी रुप इन्हें ग्राह्य नहीं है, क्योंकि यह रुप असामाजिक और अस्वस्थ होता है। 'राह न रुकी' उपन्यास का नायक दधिवाहन कहता है, 'लोक में संयम का अर्थ तपस्वियों के कारण पलायन हो गया है। भाग जाओ, छोड़कर भाग जाओ। मैं भागूंगा नहीं। संयम का अर्थ घुटन और सड़ना नहीं है, स्वस्थ बहाव है'[2]। महायात्रा अंधेरा रास्ता, 'महायात्रा रैन और चंदा', 'देवकी का बेटा' आदि उपन्यासों में इन्होंने धर्म के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ० रांगेय राघव का धर्म, मानवता का धर्म है, जो मूलतः मानव-जाति की मंगल-कामना पर आधारित है।

उपन्यासों का वर्गीकरण

आधुनिक युगीन उपन्यास-साहित्य का विकास व्यापक रुप से हुआ है। प्रारम्भ में जब उपन्यास का स्वरुप इतना बहुमुखी नहीं था, तब किसी भी कलात्मक कृति को उपन्यास की संज्ञा देकर सन्तोष कर लिया जाता था। आगे चलकर ज्यों-ज्यों उपन्यास के साहित्यिक स्वरुप का विकास होता गया, त्यों-त्यों विषय वैविध्य की दृष्टि से भी इसका क्षेत्र विस्तार होता गया। आज यदि उपन्यास-साहित्य की विविधता का सम्यक् अवलोकन किया जाय, तो यह ज्ञात होगा कि उसमें इस अल्पावधि में ही इतने अधिक और विभिन्न प्रकार के उपन्यास लिखें गये है कि उन सबका वर्गीकरण करना कठिन है। वस्तुतः औपन्यासिक क्षेत्र में वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक नहीं हो सकते। फिर भी, विश्लेषण और ध्येय की सिद्धि के लिए वर्गीकरण के जोखिम को स्वीकार करना पड़ता है। उपन्यासों के वर्गीकरण के लिए विभिन्न आधार प्रस्तुत किये गये है। डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री ने उपन्यासों के लिए तेरह आधार प्रस्तुत किया है। ये हैं-

१. वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से ।
२. ढांचे की दृष्टि से ।
३. कथावस्तु के स्वरुप और लक्ष्य के अनुसार।
४. क्रियाकलाप की दृष्टि से।
५. उपन्यास-संघटन के अनुसार।
६. चरित्र-चित्रण की दृष्टि से।
७. शैली की दृष्टि से।
८. उद्देश्य की दृष्टि से।
९. जीवन के प्रति दृष्टिकोण के विचार से।
१०. दीर्घ विस्तार तथा प्रभाव की तीव्रता के विचार से।
११. साधारण जन-दृष्टि के विचार से।
१२. ऐतिहासिक वर्गीकरण द्वारा।
१३. वर्ण्य-विषय के प्रति दृष्टिकोण के विचार से[3]।

अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि समीक्षक द्वारा किये गये वर्गीकरण के उपर्युक्त आधारों को केवल दो मुख्य आधारों के अर्न्तगत रखा जा सकता है। ये दो आधार हैं-

१. तत्व विशेष की प्रमुखता।
२. वर्ण्य वस्तु।

---

१ दायरे, पृ० ११६।

२ राह न रुकी, पृ० १२०।

३ हिंदी उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन पृ० २७५।

औपन्यासिक तत्वों के सामान्य आधार पर उपन्यासों को निम्नलिखित प्रकार में विभक्त किया जा सकता है

१. कथानक प्रधान उपन्यास।
२. चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यास।
३. नाटकीय उपन्यास।
४. शैली प्रधान उपन्यास।
५. देशकाल सापेक्ष निरपेक्ष उपन्यास।
६. उद्देश्य प्रधान।

जिस उपन्यास में जिस तत्व का प्राधान्य होता है, उस उपन्यास को उसी वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कथानकप्रधान उपन्यासों में कथानक ही केन्द्र में रहता है। उसमें अन्य तत्वों की प्रधानता न होकर केवल कथा विकास घटनाओं द्वारा ही किया जाता है। अन्य तत्वों का समावेश केवल घटनाओं के स्पष्टीकरण के लिए ही होता है। इसी प्रकार उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों में चरित्र, शैली वातावरण उद्देश्य का प्राधान्य होता है।

उपन्यासों का दूसरा वर्गीकरण वर्ण्यवस्तु के आधार पर किया जाता है। यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण होता है, क्योंकि उपन्यासकार तत्व की अपेक्षा वर्ण्य को अधिक महत्व देता है। इस विचार से उपन्यास के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं:

१. सामाजिक
२. आंचलिक
३. समाजवादी
४. ऐतिहासिक
५. जीवन चरितात्मक

उपर्युक्त वर्गीकरण वर्ण्यवस्तु और डॉ रांगेय राघव के दृष्टिकोण के आधारा पर किया गया है क्योंकि जीवनचरितात्मक उपन्यास लेखक की मौलिक देन है। इसके पूर्व कतिपय ऐतिहासिक उपन्यासों में जीवनचरितात्मक उपन्यासों के लक्षण दिखलायी पड़ते हैं, किन्तु उनमें ऐतिहासिक वातावरण की सजगता अधिक है।इसलिए वे जीवनचरितात्मक उपन्यासों की कोटि में न आकर ऐतिहासिक उपन्यास कहलाते हैं। जीवनचरितात्मक उपन्यासों में लेखक की दृष्टि ऐतिहासिक परिस्थितियों की अपेक्षा कथानायक पर अधिक होती है। जीवनचरितात्मक उपन्यासों को उपन्यास की एक नयी विधा के रुप में स्वीकारना चाहिए। यह हिन्दी उपन्यास साहित्य की नवीनतम उपलब्धि है।

समाज-केन्द्रित उपन्यासों की दो कोटियाँ है, इन्हें हम सामाजिक और समाजवादी कह सकते हैं। समाजवादी उपन्यास अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द के उपन्यासों की सामाजिक परम्परा में आते हुए भी उससे अलग हैं। सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक जीवन का चित्रण रहता है, किन्तु उसे देखने की लेखक की कोई विशिष्ट दृष्टि नहीं रहती। आंचलिक उपन्यासों की भी जन-चेतना इन्हें प्रेमचन्द से जोड़ती है, किंतु अपने स्वरुप और दृष्टि में ये बहुत भिन्न हैं। विशेष भू-भाग-जन्य प्रामाणिक अनुभव ने कथा-विन्यास, चरित्र-जन-तांत्रिक भावना की सच्ची अभिव्यक्ति कह सकते हैं। पिछड़े हुए क्षेत्रों को उपन्यास का क्षेत्र बनाकर उपन्यासकार अपेक्षित जीवन के प्रश्नों, आकांक्षाओं, विषमता, गरीबी और अशिक्षा से उत्पन्न असुन्दरता और इन सबके अन्तराल में मानवीय संवेदना की छवि को अंकित कर इधर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। अतएव इन्हें उपन्यास की एक अलग कोटि में रखना ही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है।

हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह प्रकार-विभाजन विभिन्न उपन्यासों के बीच कोई निश्चित लकीर नहीं खींचता। सुविधा के लिए किए गये इस उपन्यास के प्रकार-विभाजन की मूल प्रवृत्तियों के आधार पर हम उसका नामकरण कर देते हैं। उपन्यासों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में लारेंस ने कहा है कि निर्माण के सभी नियम केवल उन उपन्यासों पर लागू होते हैं, जो दूसरों की नकल हैं[1]। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक श्रेष्ठ-उपन्यास अपना नियम स्वयं लेकर आता है। ऐसी अवस्था में उपन्यासों के असंख्य भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए हेनरी जेम्स ने वर्गीकरण का विरोध किया है। वे घटना-प्रधान और चरित्र प्रधान उपन्यासों की पार्थक्य-सीमा को व्यर्थ बताते हैं, क्योंकि चरित्र घटनाओं से बनते हैं और घटनाएँ चरित्र की उदाहरण मात्र है। इसलिए वे दो

---

1 Iiddel Some principles of Fiction p. 11.

ही प्रकार के उपन्यास मान सके हैं- उत्कृष्ट उपन्यास तथा निकृष्ट उपन्यास[1]। इस प्रकार के उदाहरण से हम वर्गीकरण की कठिनाइयों को समझ सकते हैं। इसलिए औपन्यासिक क्षेत्र में वर्गीकरण पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं हो सकते। उपन्यासों के प्रचलित वर्गीकरण की अपेक्षा मेरे मत से डॉ रांगेय राघव के उपन्यासों का निम्नलिखित वर्गीकरण अधिक संगत है- इस वर्गीकरण से उपन्यासों के मूल कथ्य ढूँढे जा सकते हैं।

(अ) समाजिक उपन्यास

१ घरोंदे : १९४६
२. उबाल : १९५४
३. बौने और घायल फूल : १९५७
४ बन्दूक और बीन : १९५८
५. राई और पर्वत : १९५८
६. छोटी सी बात : १९५९
७. पापी : १९६०
८. दायरे : १९६१
९. आग की प्यास : १९६१
१० कल्पना १९६१
११. पतझर : १९६२
१२ पराया : १९६२
१३ पराया : १९६२
१४. आखिरी आवाज : १९६२

पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित

१५. बोलते खण्डहर : १९५५
१६. अन्धेरे की भूख : १९५५

(ब) आंचलिक उपन्यास,

१. काका : १९५३
२. कब तक पुकारूँ : १९५७
३. धरती मेरा घर : १९६१

(स) समाजवादी उपन्यास

१. विषाद मठ : १९४६
२. सीधा सादा रास्ता : १९५१
३ हुजूर : १९५२

(द) ऐतिहासिक उपन्यास

१. मुर्दो का टीला : १९४८
२. चीवर : १९५१
३. अन्धेरे के जुगनू : १९५३
४. राह न रुकी : १९५८
५. पक्षी और आकाश : १९५८
६. जब आवेगी काल घटा : १९५८
७. महायात्रा : अन्धेरा रास्ता : १९६०
८. महायात्रा : रैन और चन्दा : १९६०

(य) जीवनचरितात्मक उपन्यास

१. देवकी का बेटा : १९५४
२. यशोधरा जीत गयी : १९५४
३. लोई का ताना : १९५४
४. रत्ना की बात : १९५४
५ भारती का सपूत : १९५४
६. लखमा की आँखें : १९५७
७ धूनी का धुआँ : १९५९
८. मेरी भवबाधा हरो : १९६०
९ आँधी की नीवें : १९६१

इन विभिन्न वर्गों की पृथक-पृथक विशेषताओं का विशेष स्पष्टीकरण आगे किया गया है।

***

1. *The Art of fiction : Great Critics, p. 661.*

अध्याय दो

सामाजिक उपन्यास

सामाजिकता की प्रवृति ही उपन्यासों में प्रधानरुप से मिलती है। हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' ही समाज में होने वाले विविध परिवर्तनों का आभास देने में समर्थ है। 'परीक्षा गुरु' के प्रकाशन के पूर्व हिन्दी-भाषी जनता संस्कृत की उपदेशमूलक और विस्मयजनक कथा-आख्यायिकाओं एवं अरबी-फारसी कहानियों के अनुवादों से ही अपना मनोरंजन कर रही थी। आधुनिक साहित्य के प्रतिष्ठाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान हिन्दी में उपन्यासों के अभाव की ओर भी गया और सबसे पहले उन्होंने सामाजिक समस्या पर प्रकाश डालने वाले मराठी-उपन्यास ''पूर्णप्रभा चन्द्रप्रकाश'' का अनुवाद कराकर लेखकों को सामाजिक उपन्यास की सम्भावनाओं के प्रति सचेत करने की चेष्टा की। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने अपने निबन्धों में पुरानी रचना रुढ़ियों को छोड़कर जिस स्वतन्त्रता से समकालीन समाज को चित्रित किया, उसने आधुनिक उपन्यास के आविर्भाव और विकास में परोक्ष रुप से सहायता दी। इसके पश्चात् सामाजिक उपन्यासों की एक परम्परा चल पड़ी, जिसमें सामाजिक मंगल की भावना निहित थी। व्यक्ति एवं समाज की बुराइयों को ढूँढकर भारतेन्दुजी ने तथा उनके समकालीन सहयोगी लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया। परन्तु परिष्कार एवं सुधार की भावना द्विवेदी-युग में आरम्भ हुई। इस सुधारवादी आन्दोलन को चलाने एवं सफलता देने में प्रेमचन्दजी का स्थान सर्वप्रमुख है और उनके व्यापक प्रभाव के कारण तत्कालीन लेखकों से उनका एक युग ही बन गया। प्रेमचन्द्रजी की दृष्टि मूलतः सुधारवादी थी। इन्होंने 'चन्द्रकांता संतति' जैसे तिलिस्मी, ऐयारी उपन्यासों के पाठकों को 'सेवासदन' तक पहुँचाया।

हिन्दी उपन्यास में समाज के यथार्थ रुप का चित्रण प्रेमचन्द्र युग से प्रारम्भ हुआ है, वे केवल समाज की विकृतियों और बुराइयों का तटस्थ होकर वर्णन करना ही कलाकार का उद्देश्य नहीं मानते थे। वे चाहते थे कि समाज की वर्तमान दशा में जो कुछ अच्छा है, उसका विकास हो और जो कुछ घृणित, त्याज्य है, उसका निराकरण किया जाय। इसलिए उन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। वे एक महान् मानवतावादी और आदर्शवादी लेखक थे। उन्होंने सदैव मिथ्यावाद और अन्याय पर सत्य और न्याय की विजय की कल्पना की। समय के बीतने के साथ-साथ प्रेमचन्द सामाजिक यथार्थ की ओर अधिक उन्मुख होते गये। 'गोदान' में वे सुधारवाद एवं आदर्शवाद से बहुत कुछ मुक्त हैं। जीवन के कटु से कटु अनुभवों ने उन्हें आदर्शों और उपदेशों के खोखलेपन से अवगत करा दिया था और उन्हें ज्ञात हो गया था कि उत्कृष्ट उपन्यास-सृजन के लिए आदर्श जीवन की परिकल्पना उतनी आवश्यक नहीं है जितना यथार्थ जीवन का अध्ययन तथा विश्लेषण। उनके इसी मानसिक परिवर्तन का परिणाम है ''गोदान''।

प्रेमचन्द के बाद ऐसे उपन्यासकारों की एक लम्बी परम्परा है, जो सामाजिक जीवन के यथार्थ को लक्ष्य बनाकर चले हैं। ऐसे उपन्यासकारों में जयशंकर प्रसाद, सियाराम शरण गुप्त, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, उदयशंकर भट्ट, डॉ० रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' राजेन्द्र यादव एवं प्रभाकर माचवे आदि मुख्य हैं। समाज-हित के प्रति इन उपन्यासकारों की प्रतिक्रिया के विविध स्वरुप हैं, किन्तु इनकी मूलगत चिन्ता-धारा में सादृश्य के गुण लक्षित होत हैं। अतः इन लेखकों को सामाजिक उपन्यास की प्रवृत्ति के पोषक तथा समर्थक के रुप में स्वीकार किया गया है। सामाजिक प्रवृति के उपन्यासकार परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा विचारधाराओं से प्रेरणा प्राप्त करके अपनी कला को क्रमशः नवीन सांचे में ढालते आये हैं, जिसके फलस्वरुप सामाजिक उपन्यास की परम्परा अवच्छिन्न रहकी उत्तरोत्तर सम्वृद्ध होती रही है। ये उपन्यासकार प्रेमचन्द्र के समान व्यक्ति को सामाजिक जीवन क परिवेश में रखकर चलते है। सामाजिक जीवन व्यक्ति के व्यक्तित्व का बनाता-बिगाड़ता है, प्रभावित करता है। ''व्यक्ति अपनी अर्न्तगुहा में बन्दी सामाजिक सत्यों से अप्रभावित कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और न अकेले उसकी सार्थकता ही है। वह सामाजिक जीवन के प्रवाह में बहता हुआ, उसकी समूची चेतना को झेलता हुआ गतिशील सत्ता है, अपनी जगह स्थित नदी का द्वीप नहीं है[1]।''

सामाजिक उपन्यासों के प्रधान पात्र प्रायः आदर्शवादी हैं। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों के नायकों में जीवन की उदात्त भावनाएँ उभरकर आयी है। ये पात्र प्रेमचन्द के लिए समाज-चित्रण के उपकरण मात्र हैं, एक पात्र के अध्ययन से समाज के उस वर्ग का पूरा ज्ञान मिल जाता है, जिससे उसका जन्म हुआ है। प्रेमचन्दोत्तर सामाजिक उपन्यासों के पात्र भी कुछ इसी प्रकार के हैं। यद्यपि मनोवैज्ञानिक तत्वों के समावेश के कारण पात्रों के व्यक्तित्व में अन्तर आने लगा है। इसी प्रकार सामाजिक उपन्यासकारों के चरित्र निरुपण में उनकी विभिन्न

---

१ डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अर्न्तयात्रा : पृ० ११२।

परिस्थितियों तथा विविध जीवनानुभूतियों के परिणामस्वरुप अनेकरुपता के विद्यमान होने पर भी उनकी जीवन -दृष्टि में साम्य परिलक्षित होता है[१]।

'घरौंदे' (१९४६) डॉ रांगेय राघव का प्रथम मौलिक उपन्यास है[२] और इस उपन्यास से ही लेखक के भविष्य और विस्मयकारी क्षमताओं का संकेत मिलने लगा। लेखक ने 'घरौंदे' बनाए हैं, आगे चलकर वह घर भी बनायेगा। यह विकास का स्वाभाविक क्रम है। जैसी शक्ति श्री रांगेय राघव ने अपने प्रथम प्रयास में प्रगट की है, वह साहित्य की साधारण घटना नहीं। यह हिन्दी में एक नयी सृजन-शक्ति के अभ्युदय की सूचना है[३]।' उपन्यास का कथानक उनतालीस भागों में विभाजित है, जो कॉलेज के जीवन पर आधारित है। प्रथम भाग में एक विचित्र 'भूमिका' प्रस्तुत की गयी है, जिसमें कॉलेज की गतिविधियों की ओर एक व्यंगात्मक संकेत है। लेखक ने उपन्यास के आरम्भ-अन्त पर विशेष दृष्टि रखी है। मध्य भाग में कहीं-कहीं दार्शनिक विवेचन की बहुलता के कारण कथा-गति में शिथिलता आ गयी है। सब मिलाकर उपन्यास का कथानक आकर्षक एवं कलात्मक है।

'घरौंदे' के पूर्व कॉलेज के वातावरण का इतना यथार्थ एवं आकर्षक चित्रण हिन्दी के अन्य किसी भी उपन्यास में नहीं पाया जाता। 'इतने प्रकार के विद्यार्थियों का चित्रण करने वाला भी यह उपन्यास एक ही है[४]। लेखक ने इसमें कॉलेज की बहुविध समस्याओं को उठाया है। छात्र-छात्राओं में पारस्परिक चलने वाले प्रेम, प्राध्यापक एव छात्राओं के बीच होनेवाले घातों-प्रतिघातों तथा कॉलेज की राजनीतिक गतिविधियों को लेकर लेखक ने तीखा व्यंग किया है। प्रोफेसर मिश्रा को लेकर लेखक ने प्राध्यापक-वर्ग के नैतिक पतन की ओर संकेत किया है। प्रोफेसर मिश्रा अपनी पत्नी से असन्तुष्ट होकर कॉलेज को वेश्यालय के रुप में बदल देना चाहते थे। उनका सम्बन्ध छात्रों की अपेक्षा छात्राओं से अधिक था और अध्यापन विद्यालय की अपेक्षा घर के एकान्त कमरे में अधिक होता था। एक दिन घर में विधवा लवंग के साथ प्रो० मिश्रा को देखकर श्रीमती मिश्रा ने कहा- 'तुम्हें शर्म नहीं आती? बेटी की उम्र की लड़की के गले में हाथ डाले बैठे हो[५]।' एक बार उस चित्र को देखकर अश्रद्धा तो अवश्य होती है, परन्तु निश्चित ही लेखक ने एक ऐसी दुर्बलता की ओर संकेत किया है कि जिसके पनपने के कारण एक विशिष्ट समाज की कौन कहे सारा राष्ट्र गिर सकता है[६]। निश्चित रुप से प्रो० मिश्रा जैसे अनेक प्राध्यापक महाविद्यालयों में मिल सकते हैं, किन्तु कहीं-कहीं वर्णन की स्वाभाविकता संदिग्ध हो जाती है। प्रो० मिश्रा का दोनों युवती पुत्रियों की ओर उदासीन होना एवं एवं उन्हें व्यभिचार की ओर प्रेरित करना अस्वाभाविक सा लगता है।

इस उपन्यास में लेखक ने कॉलेज के छात्र-छात्राओं की सस्ती कामुकता का यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। उनके सम्बन्ध बनते-बिगड़ते रहते है। वे भावुकता की धारा में अपना उज्ज्वल भविष्य डुबोकर निरीह बनकर टहलते हैं। रानी और हरी के प्रेम का वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है, 'कल ही जिस लड़की ने कॉलेज में पैर रखा, आज उसने देखा कि वह कितनी शक्तिशाली थी। हरी ने वीरेश्वर से जाकर कहा। वीरेश्वर ने सुना, मुस्कराया, किन्तु हरी को वास्तव में शाम होते-होते प्रेम हो गया। ··उधर रानी जैसे तैयार बैठी थी। यह अन्य लड़कियों पर एक जीत थी। सबसे पहले जो अपना प्रेमी चुन सकी वही सबसे अधिक भाग्यशालिनी है[७]। इसमें सहशिक्षा के दुष्परिणामों की ओर भी संकेत किया गया है। कॉलेज के अधिकांश छात्र-छात्रायें विद्याध्ययन से विमुख होकर वासनात्मक प्रेम की ओर झुकते देखे गये हैं। इसके अतिरिक्त कॉलेज के चुनावों और अविश्वासों के प्रस्तावों का भी चित्र खींचा गया है। लेखक ने चुनावों में व्याप्त जातीयता की विकट समस्या को भी उधारकर रख दिया है। उपन्यासकार की समाजवादी भावना के कारण कालेज में साम्राज्यवाद के विरोध में ही राजनीतिक दलों के स्वर गूँजते हैं, किन्तु लेखक ने यशपाल की भांति किसी दल विशेष के साथ अपनी सहानुभूति व्यक्त

---

१. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास ; पृ० १२।

२. मेरा पहला प्रकाशित उपन्यास घरौंदे था, जो कालेज-जीवन में लिखा था। आधुनिक उपन्यास-अंक, साहित्य-संदेश (जुलाई-अगस्त १९५६) पृ० ८६।

३. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त (आधुनिक हिन्दी साहित्य) एक दृष्टि- पृ० १८३।

४. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव, (हिन्दी उपन्यास), पृ० ४१३।

५. घरौंदे पृ० ४१।

६ डॉ० त्रिभुवन सिंह- हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० १५३।

७ घरौंदे, पृ० ८३।

नहीं की है। कम्युनिस्ट पार्टी का नाम अवश्य लिया है, किन्तु उसकी बुराइयों को भी व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। लेखक का मूल उद्देश्य साम्राज्यवाद के अन्तराल में निहित बुराइयों को व्यक्त करना था। विद्यार्थी-संघ के ऊपर किये गये लाठी-चार्ज की निन्दा करते हुए लेखक ने लिखा है- "यह साम्राज्यवाद का न्याय था, यह पूंजीवाद की दया थी, यह दार्शनिकों की वर्ग-सभ्यता का उपभोग था कि निहत्थों पर वार हो रहा था। किसी का सिर फूटा, किसी का हाथ उतर गया, किन्तु लाठी चलती रही।.... बर्बर साम्राज्यवाद अपने आप अपने पाप से कराह उठा, क्योंकि उन आरामपसंद लड़कों में से एक भी पीछे नहीं हटा, देर तक उनके नारे गूंजते रहे, क्योंकि उनमें सदियों की यातना का विक्षोभ था।[1] लाठी-चार्ज की परम्परा आज भी पूर्ववत् बनी हुई है। भारत के कोने-कोने में विद्यार्थियों की हड़ताल और उनपर पुलिस का लाठी-चार्ज आज की दैनंदिन घटना बन गया है।

लेखक ने धर्म की आड में कुचक्र रचनेवाले पादरियों की आलोचना की है। पादरियों की निंदनीय राजनीतिक गतिविधियों की पोल खोलते हुए उपन्यासकार ने घरौंदे में विनोद के माध्यम से कहा है- 'अंगरेज पादरियों ने धर्म की ओट में हिंदुस्तान में ठाठ करने की दृढ़ दीवार बनायी है। वह यह जानते है कि पददलित को कैसे अधकचरा अंडा बनाया जा सकता है। लोगों का मत दल और फरेब से बदलवाना ही श्रद्धा की माप है।...ये पादरी धार्मिक नहीं, सामाजिक और राजनीतिक मतपरिवर्तन करा रहे हैं। वे बेवकूफों को लूट रहे हैं[2]। इस प्रकार लेखक ने भारतियों को, बहेरी के सांप पादरियों से सावधान रहने के लिए सचेत कर दिया है। आज भी 'घरौंदे' के वाक्यों पर अमल करने की आवश्यकता है। देश में उभरते हुए जनता के विद्रोह का भी चित्र भगवती और जमींदार साहब को प्रजा को लेकर वर्णित किया गया है।

'घरौंदे' में कामेश्वर और नादानी के प्रसंग को लेकर वेश्या का अत्यंत ही कारुणिक चित्र उपस्थित किया गया है। नादानी विधवा होने के पश्चात् गुण्डों के कारण वेश्या हो गई। एम०ए० कक्षा का धनी छात्र कामेश्वर उससे मांसल सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। नादानी, उस कीचड़ से दूर होने के लिए कामेश्वर से कहती है, 'कामेश्वर तुम आजकल के पढ़े-लिखे आदमी हो, तुम.. तुम भी मुझे नहीं उबार सकते? बोलो? जो तुम दोगे, वही खाऊंगी, जो दोगे वही पहनूंगी, मगर यह नरक मुझे जीवित में ही मुर्दा किये हुए है, मुझे इससे बाहर ले चलो [3]।" विवाह-प्रस्ताव को सुनते ही कामेश्वर का हृदय दहल उठा। नादानी उसकी कायरता पर तरस खाती हुई उसके पिता हो जाने की भी सूचना देती है। इसके पश्चात् उसने वेश्याओं के जीवन को व्यक्त करते हुए कहा, "रण्डी किसी की रिश्तेदार नहीं होती। यह तुम्हारी लड़की नहीं होगी। वह सिर्फ मा को जान सकेगी। पन्द्रह साल की तो बात है। आना फिर! तुम्हारी लड़की भी जवान हो जायेगी और वह कुरुपता से ठठाकर हंस पड़ी। कामेश्वर हताश-सा सिर झुकाकर सोचने लगा[4]।"

कॉलेज-जीवन की इस संक्रान्ति का अध्ययन आज के महाकाव्य का विषय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि डॉ० रांगेय राघव ने अपने इस उपन्यास में महाकाव्य के विषय को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और उसे उतनी ही गरिमा तक उठाने और स्थिर रखने का प्रयत्न भी किया है। लेखक की प्रथम रचना होने के कारण अनिवार्य रूप से इसमें बहुत-सी त्रुटियाँ रह गयी है। 'उसने छात्र जीवन की अन्य ज्वलन्त समस्याओं की ओर से आंखें बन्द कर केवल प्रेम, अत्याचार, व्यभिचार आदि की ओर ध्यान दिया है[5]। इस उपन्यास में वस्तुतः कॉलेज और होस्टल की रंगीन दुनिया में चलने वाली प्रणय-कक्षाओं की राजनीति के धागे में पिरोई हुई आकर्षक लड़ियाँ ही दिखायी पड़ती हैं। इसमें शिक्षा सम्बन्धी किसी भी प्रकार की समस्या नहीं उठायी गयी है। इसलिए लेखक का दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने घरौंदे को 'वयःसन्धि' का उपन्यास' कहा है[6]।

रांगेय राघव के उपन्यास 'घरौंदे' में प्रतिभा के भी और अपरिपक्वता के भी स्पष्ट लक्षण है। लेखक ने अनुभव किया है कि मानवीय उद्योग एक महत्तर परिपार्श्व में होता है जिस पर उसका अधिकार नहीं है और

---

१. घरौंदे, पृ० ७३।
२. वही, पृ० १८३।
३. घरौंदे, पृ० २१३।
४ घरौंदे, पृ० २१८।
५. डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास, उद्भव और विकास, पृ० ४८५।
६ आधुनिक उपन्यास अंक, साहित्य-संदेश : जुलाई-अगस्त १९५६, पृ० ५५।

इस अनुभव का आभास पाठकों के देने की उसने पूरी चेष्टा की है। किन्तु जहाँ प्रतिभा ग्रहण-शक्ति और सुझ देती है, वहाँ परिपक्वता अनावश्यक के परित्याग का निर्ममत्व भी देती है, वह निर्ममत्व रांगेय राघव में नहीं है। कुल मिलाकर कहना पड़ता है कि 'घरौंदे' का महत्त्व उसकी उपलब्धि में नहीं, आगमिष्यत उपलब्धियों की संभावना में है[१]।

चरित्र

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'घरौंदे' में हमारा ध्यान सर्वप्रथम पात्रों की बहुसंख्या पर जाता है। उद्देश्य की व्यापकता के अनुकूल तो यहाँ अनेक पात्र आये ही हैं, किन्तु अनेक पात्रों की झांकी छात्र-समाज का भरा पूरा चित्र देने के आग्रह से दी गयी है। इसमें विशेषता यह है कि लेखक इनकी पारस्परिक भिन्नताओं की पहचान करानेवाली सजीव झांकी प्रस्तुत करने में सफल हो सका हैं "पात्रों में मैंने अपने समाज के विभिन्न स्तरों का तथा अपने देश के विभिन्न विचारों का एक साथ चित्रण करने का प्रयत्न किया है[२]।" उपन्यास में पांच प्रधान पात्र हैं-भगवती, कामेश्वर, लीला, इन्दिरा एवं लवग। शेष सभी पात्र मुख्य-पात्रों के सहयोग-प्रतिरोध के प्रयोजन से आये हैं और उनसे परिस्थितियों के स्पष्टीकरण में सहायता मिली है। अनेक पात्रों को एक स्थन पर लाकर प्रस्तुत कर देना और उन्हें स्वतन्त्र व्यक्तित्व दे देना डॉ० रांगेय राघव की चरित्रसृष्टि की विशेषता है। "पात्रों को पूरा विकास-स्वातंत्र्य दिया गया है और सभी प्रमुख पात्रों में अपनी वैयक्तिकता है। समाज चक्र में पिसते हुए व्यक्तियों की दुर्बलताओं के चित्रण में भी सहानुभूति दिखायी गयी है। इतना बड़ा विश्व-युद्ध छिड़ा, तब भी गुलाम देश के नवयुवकों एवं नवयुवतियों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था[३]

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र भगवती है। उपन्यास में उसके चरित्र का चित्रण कुछ इस प्रकार से हुआ है कि उसके चरित्र की रेखाएं एक-एक कर कथा के अन्त तक उभरती रही हैं। कथा की समाप्ति के साथ-साथ उसका चरित्र भी पूर्ण रूप से सामने आ जाता है। भगवती बहुत ही परिश्रमी, मेधावी किन्तु निर्धन छात्र है। उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण है कि लड़कियाँ सहज ही उसकी ओर आकर्षित हो जाती हैं। प्रथम परिचय के पश्चात् ही उसके व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित होकर इन्दिरा अपनी सहेली उषा से कहती है, "मुझे कहने में कभी भी कोई हिचक नहीं है कि आज तक जितने युवक मिले हैं, उन सब में अधिक यदि मुझे किसी ने प्रभावित किया है, तो वह भगवती है[४]।" भगवती जीवन-संघर्षों से प्रताड़ित व्यक्ति है। उसमें निर्भीकता, पुरूषार्थ, स्वावलंबन एवं आत्मविश्वास की भावना प्रबल है, किन्तु धनाभाव के कारण वह दुःखी रहता है। इन्दिरा ने जब उसके घर चलने का प्रस्ताव किया, तब उसने कहा, लेकिन आप मेरे घर में नहीं रह सकेंगी। मेरा घर आपके नौकरों के घर से भी खराब है, छत पर फूस है, दीवालें मिट्टी की है कच्ची। जमीन पर गोबर लिपा होगा न आपको फर्नीचर मिलेगा, न खाने-पीने को टोस्ट और चाय। वही सूखी रोटियाँ खानी पड़ेंगी। तैयार है[५] ? भगवती के व्यक्तित्व से लीला भी अत्यन्त आकर्षित हो गयी। उसके जन्म के रहस्य के खुल जाने पर भी वह भगवती से कहने लगी, "कोई भी मुझे तुमसे संसार में अलग नहीं कर सकता। मैं तुम्हारे बिना कभी भी जीवित नहीं रह सकती, भगवती, मैं तुम्हें प्यार करती हूँ भगवती · · और लीला ने जी भर कर भगवती के गाल को चूम लिया जैसे अंगरेजी सिनेमा में होता है[६]। भावुक नवयुवक होते हुए भी उसमें आत्म-संयम की भावना बड़ी प्रबल है। इसलिए वह रंगीन दुनिया में भी कहीं पथ से स्खलित होते हुए नहीं दिखाई पड़ता। धन को अधिक महत्व देते हुए भी वह उसके पीछे नहीं दौड़ता। विश्व में व्याप्त पशुता का उत्स वह धन में ही देखता है। इसलिए जमींदारों द्वारा दी गयी सम्पत्ति को वह सहजभाव से लवंग को दे देता है। भगवती का चरित्र लेखक ने यथार्थ पर प्रतिष्ठित करने के लिए उसमें मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं और परिस्थितियों के प्रभाव को दिखाया है। भगवती का चरित्रांकन करते समय लेखक ने सामान्य मनोविज्ञान के विभिन्न अंचलों में उसे घुमाया है। नारी उस नर पर नहीं आकर्षित होती जो कुत्तों की तरह उसके पीछे-पीछे घूमता हो। जिसकी आत्मा स्वाभिमान की उन्मुक्त वायु से ऊर्जस्वित होती है, नारी उसी ओर झुकती है। भगवती की ओर लड़कियों के झुकने का एकमात्र

---

१. सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायायन 'अज्ञेय', हिंदी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० १४।

२. घरौंदे, दो शब्द।

३. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : हिंदी उपन्यास, पृ० ४२३।

४. घरौंदे, पृ० ४४-४५।

५. घरौंदे, पृ० १०५।

६ वही पृ० २३२।

कारण यही था।

इस उपन्यास में भगवती के अतिरिक्त प्रो० मिश्रा, कामेश्वर, वीरेश्वर, वीरसिंह, नरसिंह, जमींदार सर बृन्दावन, राजेन्द्र सिंह, मैक्सुअल, इन्द्रनाथ, विनोद, कमल, रहमान, सज्जाद, पीटर, कालीचरन, विवर्टन, मगनराम, धीरेन्द्र, कैप्टन सेन, सुन्दरम आदि प्रमुख पुरूष मात्र हैं। इनमें कामेश्वर का चरित्र केवल व्यक्ति न होकर वर्ग का प्रतीक है। यह मध्यमवर्गीय चरित्र है, जिसे न तो राजनीति से कोई रूचि है न सामाजिक समस्याओं से। यह एम०ए० का छात्र है। शराब पीना, वेश्यागमन आदि इसकी सामान्य आदतें थीं। लड़कियों के सम्बन्ध में उसने कहा, "मैं बंधना नहीं चाहता, चाहता हूँ आजाद रहूँ। नारी एक विलास है, किन्तु उसकी परवशता उसका सबसे बड़ा अधिकार है। मैं किसी के अधिकार में नहीं रहना चाहता[१]। वह वेश्या नाटानी के संपर्क में आने पर सुधरने लगता है। उसके परिवर्तन के अधिक विकास को लेखक ने उपन्यास में वर्णित नहीं किया है।

नारी पात्र

कैप्टेन राय की पुत्री लीला इस उपन्यास की प्रमुख नारी-पात्र है। "एक पतली दुबली मगर मांसल लड़की, सफेद साड़ी पहने चाइनीज डिज़ाइन की चप्पल और सिर के कन्धों तक कटे बालों के बीच में से उसका तोते-का सा मुँह। बड़ी सुन्दर थी[२]।' वह एक धनी लड़की थी, किन्तु उसको धन का मद नहीं था। वह अत्यन्त संवेदनशील, सजग, गौरवमयी, स्नेहकातर, प्रणयकांक्षिणी थी। उसमें समर्पण है, किन्तु दीनता और क्षुद्रता नहीं। कॉलेज के रंगीन वातावरण में उसके संयम की चादर खिसक गयी और वह भगवती के लिए तड़प उठी वह भगवती से एकान्त में कह उठी, "तो चलो, हम-तुम कहीं भाग चलें। परदेश में दोनों कमायेंगे, खायेंगे। कोई बंधन न होगा। नये सिरे से कोई जिन्दगी बसेगी। चारों तरफ सुख ही सुख होगा[३]। " लीला के प्रेम ने भगवती के धैर्य को हिला दिया। सहज भाव से अपने शरीर का समर्पण करने वाली यह नारी पल के लिए भी अपनी गरिमा नहीं खोती, उसकी कांति म्लान नहीं होती। वह भगवती की मार्मिक बातों को सुनकर कहने लगी "भगवती! आज मैं तुमसे सदा के लिए विदा लेती हूँ। आशा है, अब हम दोनों कभी एक दूसरे से नहीं मिलेंगे।"[४] उसके पश्चात वह भगवती के संपर्क से हट गयी।

लीला के अतिरिक्त अन्य नारी पात्रों में इन्दिरा, लवंग, ऊषा, कला, रानी रैनोल्ड, सुन्दर, नादानी आदि प्रमुख है। इन सभी पात्रों में इन्दिरा का चरित्र अधिक संयमित एवं आकर्षक है। वह भगवती की प्रेरक-शक्ति के रूप में चित्रित है। भगवती उससे प्रभावित होकर कहता है, "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ इन्दिरा, जब सारा संसार मुझसे घृणा करता है तब तुम्हें मेरी एकमात्र सहायक हो।[५]"

'घरौंदे' में आदर्शवाद तो नहीं है, पर आदर्श की स्थापना का आग्रह विद्यमान है। भगवती में जो भावुकता, त्याग और कार्यक्षमता की वृत्ति है, वह आदर्श की ओर उन्मुख है। प्रायः सभी प्रधान पात्र गिरते-पड़ते आदर्श की रेखा को छू लेते हैं। "यथार्थ के साथ-साथ इसमें कुछ आदर्श की ओर भी सुन्दर संकेत है। पूंजीवादी-व्यवस्था से उत्पन्न विभिन्न पक्षीय विषमताओं की व्यंजना में भी नूतनता है।[६]"

डॉ० रांगेय राघव की प्रथम औपन्यासिक कृति होते हुए भी कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके प्रथम उपन्यास 'घरौंदे' में राजनीतिक परिस्थितियों की ओर संकेत उभर कर नहीं आता, इसलिए यह रचना कलात्मक दृष्टि से उनकी अन्य कृतियों की अपेक्षा अधिक सफल है। जिस समाजवादी चेतना तथा औपन्यासिक प्रतिभा की झलक उनके प्रथम उपन्यासस में मिलती है, उसका उत्तरोत्तर विलोप होता गया है।[७]" इस उपन्यास को सुन्दर एवं संवेदनशील बनाने का पर्याप्त श्रेय उनकी भाषा-शैली को भी है। यह सरल, व्यावहारिक, प्रवहमान, संयत, काव्यमय तथा विषयानुकूल परिवर्तनशील क्षमता से पूर्ण है। यहाँ संस्कृत के तत्सम, तद्भव शब्दों के साथ अरबी-फारसी के शब्दों का खुला प्रयोग हुआ है। अंग्रेजी शब्द[८] एवं अंग्रेजी कविताओं[९] के प्रयोग के कारण उपन्यास में क्लिष्टता आ गयी है, क्योंकि लेखक ने उनके अर्थ की ओर संकेत नहीं किया है।

---

१. घरौंदे, पृ० ६३। २. वही, पृ० १८।
३. वही, पृ० ३४४। ४. वही, पृ० २४५।
५. घरौंदे, पृ० ३४७।
६. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्याय, पृ० ४२३।
७. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास. पृ० ३११।
८ घरौंदे पृ० २४ ६३ १२४ १६२
९ वही पृ० १४४।

इस उपन्यास में कथोपथन की भी योजना प्रशंसनीय है। कथोपकथन की भाषा पात्रों के अनुसार है और उन्हें अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए विदेशी शब्दों का प्रयोग किया गया है। कविताओं के प्रयोग से उपन्यास अधिक आकर्षण हो गया है।

डॉ० रांगेय राघव ने 'घरौंदे' को हर प्रकार से यथार्थवादी बनाने का सजग तथा सफल प्रयत्न किया है। इस सफलता का रहस्य इसमें भी है कि लेखक ने अपने परिचित क्षेत्र को ही चुना। यद्यपि इसमें लेखक को समाजवादी जीवन-दर्शन का प्रतिपादन अभीष्ट है, किन्तु गृहीत जीवन-क्षेत्र की परिमिति, वैचारिक पक्ष की एकांगिता एवं अति यथार्थवादी भावना के कारण उसे सामान्य से अधिक सफलता नहीं मिल सकी। सब मिलाकर यह कहना पड़ता है कि 'घरौंदे' डॉ० रांगेय राघव का एक सफल सामाजिक उपन्यास है।

उबाल

उबाल (१९५४) डॉ० रांगेय राघव का एक लघुकाय सामाजिक उपन्यास है। इसमें इन्होंने देहाती तथा शहरी जीवन के विभिन्न स्तरों का बड़ा ही सूक्ष्म और बहुमुखी चित्रण प्रस्तुत किया है एक प्रकार से इसमें दो भिन्न-भिन्न जीवन-पद्धतियों और जीवन-दृष्टियों का वर्णन है। उपन्यास का कथानक कुशलतापूर्वक संगुफित है। सपूर्ण कथानक छोटे-छोटे उन्नीस मार्गों में विभक्त है, जिसमें सत्यपाल, मनोरमा, सरस्वती और बिलास के जीवन के उतार-चढ़ाव का वर्णन है। इसका मुख्य आधार प्रेम-कथा है प्रेम-कथा में अत्यन्त नाटकीयता, संघर्ष एवं यथार्थवादिता है। सनसनीपूर्ण एवं दार्शनिक उपसंहार को उपन्यास के प्रारम्भ में रखकर लेखक ने कथा की रोचकता बढा दी है। कृति के अन्त को कारुणिक बनाकर उन्होंने पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करने की सफल चेष्टा की है। उनके अधिकाश सामाजिक उपन्यासों का अन्त लगभग एक ही पिटी-पिटाई लीक पर होता है। प्रायः सबमें नायक की हत्या करायी गयी है।

सत्यपाल और मनोरमाकी आधिकारिक कहानी के साथ-साथ विलास और सरस्वती तथा इन्द्रनाथ और रीता की प्रासंगिक कहानी भी चलती है। लेखक ने बड़े कौशल से इन सभी कथाओं को सत्यपाल की प्रमुख कथा से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। इन कथाप्रसूनों को उन्होंने एक ही अनुभूति-तन्तु से आबद्ध कर लिया है।

उपन्यास का मूल उद्देश्य प्रेम के महत्व को व्यक्त करना है। उसमें लेखक की आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी भावना व्यक्त हुई है। अधिकांश पात्रों की सृष्टि शुद्ध रूप में मानव-आदर्शों से प्रेरित है और वे आदर्शवाद की प्रतिष्ठापना के लिए निर्मित हुए है। सत्यपाल प्रेम की गरिमा का पाठ सरस्वती के जीवन से सीखता है। वह पहले सरस्वती और विलास के बीच में आना चाहता है, इसलिए उसने मनारमा को ठुकरा दिया। सत्यपाल की इस भावना से परिचित होने पर सरस्वती कहती है, "औरत जिन्दगी में एक बार प्यार करती है, बार-बार नहीं, क्योंकि वह प्यार को जीवन की पवित्रतम अनुभूति समझती है।" ...मुझे लगता है, तुमने औरतें देखी है उनके दिल नहीं देखे। तुमने उन्हें अपने विलास की वस्तु समझा है ...।"[१] सरस्वती के निर्देशन से सत्यपाल की आंखें खुल जाती हैं। वह सरस्वती से अत्यन्त कृतज्ञ भाव से कहता है, "मैं इस दुनिया में खुशी ढूँढ़ने निकला था, लेकिन मैं दलदल में डूब गया। तुम जैसी पवित्र और महान् स्त्री की सेवा से अपने पापों को अगर मै धो सका तो मेरा जीवन भी धन्य हो जायेगा।[२]" मनोरमा का चरित्र भी वहीं से सहानुभूति पाने लगता है, जब वह सत्यपाल को समर्पण कर देती है। इसके अतिरिक्त लेखक ने नारी की विवशता, वासना का उदात्तीकरण तथा जीवन की निराशा आदि जैसे प्रश्नों को उठाया है। चन्दा की अपनी एक अलग समस्या है। वह उन नारियों का प्रतिनिधित्व करती है, जो विवाहित जीवन में किसी के बहकावे में आकर भाग जाती हैं और जिन्दगी भर सिसकती रहती है। चन्दा के संदर्भ में लेखक ने उन सामाजिक कुरीतियों की ओर भी संकेत किया है, जो किसी नारी को भगाने अथवा उसके जीवन को बर्बाद करने में सहायता देती हैं। चन्दा समस्त भौतिक सुखों से सम्पन्न होने पर भी घर की चहारदीवारी में अकेले तड़फड़ा उठती है। वह स्वतन्त्रता के भावी सुख की कल्पना में सत्यपाल जैसे देवतुल्य पति को छोड़कर भाग जाती है। उसको भगानेवाला हरीश सत्यपाल से कहता है, "पागल! तूने स्त्री को सब कुछ दिया, पर उसे घर में बन्द करके रखा। उसे तूने इतनी भी आजादी न दी कि वह अपना भला बुरा सोचने की ताकत रखती।[३]" इस प्रकार लेखक ने नारी-जागरण एवं नारी-स्वतंत्रता की बात चलायी है किन्तु

---

१ उबाल- पृ० ९१।

२ वही पृ० २

३ उबाल पृ० ११२ १३

उसने चन्दा को जीवित रहने के लिए कोई मार्ग नहीं सुझाया प्रश्न उठता है कि क्या ऐसी नारियों के लिए मृत्यु ही अन्तिम समाधान है? क्या उन्हें प्रेमचन्द की सुमन की भाँति सेवासदन में भेजकर जिलाया नहीं जा सकता? क्या उन्हें सन्मार्ग पर लाया नहीं जा सकता? केवल समस्या को प्रस्तुत कर देना ही लेखक का कार्य नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में समाधान करवा देना भी उसका कार्य है।

शीर्षक की सार्थकता की ओर लेखक विशेष सजग रहा है। उपन्यास की जितनी भी घटनाएँ हुई हैं, सभी पात्रों के भावनात्मक उबालों के कारण हुई है। अवेश में आकर चन्दा भाग जाती है और आवेश में ही सत्यपाल मनोरमा की हत्या कर देता है। इस प्रकार मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन बहुत-कुछ उसके मन से चालित होता है। उबाल के विषय में लेखक का मत है कि "उबाल का अंजाम भाप होता है, लेकिन कोई नहीं जानता कि जिन्दगी की तपिश के लिए पानी कहाँ-कहाँ से इकट्ठा होता है।"[१]

पात्र

उपन्यास पढ़ लेने के पश्चात् घटनाओं की अपेक्षा पात्र अधिक याद रह जाते हैं। लगता है कि हमारा उनका कहीं साक्षात्कार हुआ है इतने जीवन्त पात्र उनके कम उपन्यासों में मिल पाते है।

इस उपन्यास का सबसे प्रमुख पात्र सत्यपाल अपनी महानता और त्याग के आदर्श की उच्चतम भूमि पर प्रतिष्ठापित है। वह शहर का एक प्रतिष्ठित चालीस वर्षीय अधेड़ व्यापारी है। उसे देश-विदेश का गहरा अनुभव है। वह अपनी पत्नी चन्दा के प्रति भी बड़ा ईमानदार है, किन्तु परिस्थितियों के कारण वह उसे प्राय अपनी तरफ आकर्षित नहीं कर पाता। चन्दा के भाग जाने के पश्चात् उसके जीवन में एक नया मोड़ आता है वह अपने मैनेजर इन्द्रनाथ के साथ नर्तकियों के सम्पर्क में चला जाता है और जीवन को एक रंगीन चश्मे से देखता है। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मनोरमा उसे प्यार करने लगती है, किन्तु वह मनोरमा में प्रेम की भव्यता नहीं देख पाता। इसीलिए वह सरस्वती के व्यक्तित्व से प्रवाहित होकर कहता है "मै समझता था कि मै सारी जिन्दगी इसी तरह काट दूँगा, लेकिन यह मेरी भूल थी। मैं तुम्हारी इज्जत करता हूँ सरस्वती। मै तुम्हें प्यार करता हूँ।"[२] सत्यपाल में त्याग की भावना प्रबल है। वह अपने नाम को सार्थक करता है। सरस्वती और विलास के परस्पर अटूट प्रेम को जानकर वह दोनों के बीच से हट जाता है और अपने प्राण की बलि देकर सरस्वती एवं विलास को मिला देता है। उसके इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर सरस्वती कहती है, 'तुम आदमी नहीं, देवता हो, क्योंकि देवता ही एक साथ इतनी नफरत और इतना प्रेम कर सकते है। तुमने वह किया जो आदमी नहीं कर सकते।'[३]

उपन्यास का दूसरा पात्र है विलास, जिसका चरित्र अत्यन्त दुर्बल है। वह सरस्वती जैसी नारी के पुनीत प्रेम में भी संदेह करने लगता है और बन्दी बन्दर की भांति मनोरमा के संकेतों पर नाचता है। वह मनोरमा के साथ बड़ी ही सजगता से भाग जाता है। वह अपने स्कूल के पेशे के विषय में भी रंचमात्र नहीं सोचता है जैसे नौकरी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस मुख्य पात्रों के अतिरिक्त और भी पुरूष पात्र है, जो विशेष महत्व के नहीं हैं। इन्द्रनाथ, जीवन काका, हरीश, किशन, रामदीन आदि गौण पात्र हैं।

जीवन काका की भतीजी सरस्वती इस उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र है। वह अत्यन्त संवेदनशील, सजग एव गौरवमयी नारी है। दीनता और क्षुद्रता उसमें कहीं नहीं है। अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए वह मनोरमा को बार-बार तर्क से पराजित कर देती है। उसके इन्हीं गुणों के कारण सत्यपाल आकर्षित होकर प्रेम करने लगता है। लेखक ने सचमुच उसे बड़ी ही सूक्ष्मता और तन्मयता से अंकित किया है। वह विलास के प्रेम में समर्पित होकर भी अपने कर्तव्य के प्रति सदैव सजग रहती है। धनी सत्यपाल के प्रेम को ठुकराती हुई वह कहती है "मै केवल विलास के लिए जीती हूँ, मैं केवल विलास की हूँ।"[४] इस प्रकार सरस्वती भारतीय नारियों का प्रतिनिधित्व करती है। संयम और सीमा उसमें साकार है। उसका व्यक्तित्व बहुत कोमल है और बहुत सम्पन्न। सत्यपाल मानता है, "अगर कोई आदमी ऐसा हो सकता है जिसे तुम जैसी स्त्री प्यार कर सकती है तो वह आदमी धन्य है।"[५]

---

१ वही, पृ० २,भूमिका।
२ उबाल, पृ० ७०।
३ उबाल पृ० ११४
४ उबाल पृ० ७० ५ वही पृ० ७३

मनोरमा उपन्यास की दूसरी प्रमुख नारी पात्र है। उसमें कामुकता, ओछापन, वैमनस्य और ईर्ष्या आदि विशेषताएँ एकसाथ दिखाई पड़ती है। सत्यपाल के सम्पर्क के पूर्व वह एक नर्तकी के रूप में चित्रित हुई है, जो पैसे को ही अपना सर्वस्व मानती है। सत्यपाल के विषय में वह इन्द्रभान से पूछती है "सत्यपाल के पास पैसा है?"[१] बाद में वह सत्यपाल के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उससे प्रेम करने लगती है। उसमें ईर्ष्या की भावना बड़ी प्रबल है, इसलिए वह सरस्वती की प्रशंसा सुनना नहीं चाहती। सरस्वती के प्रति सत्यपाल के आकर्षण को देखकर वह नीच से नीच कार्य करने के लिए तैयार हो जाती है। इसी प्रतिशोध की भावना से विलास को उड़ा ले जाती है। उसके कर्मों से क्षुब्ध होकर सत्यपाल उसकी हत्या कर देता है। इन अवगुणों के होते हुए भी वह एक सामाजिक नारी है। पूर्व संस्कारों के कारण ही उसका चरित्र अधिक टूटता है। सरस्वती और मनोरमा के अतिरिक्त अन्य नारी पात्र प्रायः भरती के ही है।

शिल्प

'उबाल' में वर्णन-विश्लेषण, चिन्तन तथा संवादों की सानुपातिक योजना है। संवादों में अत्यन्त सरल शब्दावली का प्रयोग किया गया है। पात्रों के स्तर से संवादों का विशेष सम्बन्ध नहीं है। ग्रामीण और शहरी तथा शिक्षित और अशिक्षित पात्र प्रायः एक ही भाषा में बोलते हैं। आरम्भ में ही सत्यपाल और मनोरमा के संवाद[२] में उपन्यास की अग्रिम कथा का संकेत देकर लेखक ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक संस्कृत क आचार्यों की -सी पूर्व संकेत की पद्धति का अनुसरण किया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उपन्यास का मूल स्वर आदर्श प्रेम, सेवा एवं त्याग के प्रतिष्ठापन में मुखरित हुआ है। सत्यपाल का जीवन त्याग आदर्श से अनुप्राणित है। वैभव-विलास के वातावरण में पोषित मनोरमा के जीवन में आमूल परिवर्तन प्रदर्शित किया गया है। शिल्प की दृष्टि से भी यह एक सफल उपन्यास है।

बौने और घायल फूल

'बौने और घायल फूल'(१९५७) डॉ० रांगेय राघव का मध्यमकाय सामाजिक उपन्यास है। इसमें एक विचारक तथा संवेदनशील अन्वेषक की जिज्ञासा से जीवन के विविध पक्षों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है, जिससे यह विचार प्रधान उपन्यास बन गया है। उपन्यास का कथानक तेरह भागों में विभाजित किया गया है। इसका आदि और अन्त बड़ा ही नाटकीय है। मध्य भाग में दार्शनिक विचारों की बहुलता के कारण कथानक की गति मन्द पड़ गयी है। कतिपय अन्य उपन्यासों की भाँति यह भी उनका एक प्रयोगात्मक उपन्यास है। प्रायोगिक नव्यता इस उपन्यास का प्रमुख आकर्षण है। लेखक ने स्वयं भूमिका में लिखा है, 'इसमें मेरे वही विचार व्यक्त हुए हैं, जिन्हें कला के दृष्टिकोण से मैंने नये ढंग से अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है।[३]"

उपन्यास का ध्येय स्पष्टतः सामाजिक है। इस उपन्यास में लेखक ने मध्य वर्ग के जीवन का सप्राण एवं मर्मस्पर्शी चित्र उरेहा है। इसमें मध्यवर्गीय समाज की एक ज्वलन्त समस्या -नारी-जीवन की समस्या- पर प्रकाश डाला गया है और उससे सम्बन्धित अनेक प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। समाज की जिन मान्यताओं के कारण मध्यवर्गीय परिवारों का भयानक पतन होता है, वे ही समस्याएँ इस उपन्यास का केन्द्र है। विधवा, असंगत-विवाह आदि का इसमें निरूपण है। नारी के लिए सबसे बड़ा दुःख है और विधवा का दयनीय जीवन मध्यवर्गीय समाज में अत्यन्त करूण है। वैधव्य का अभिशाप आ पड़ने पर नारी निःसहाय हो जाती है। एस०पी० के अमानवीय व्यवहारों से क्षुब्ध होकर विधवा कमला ने यह पहली बार अनुभव किया कि वह आज एक तिनके की तरह हो गयी थी, जो आंधियों पर चढ़कर घूमने की उमंग से मर कर कहीं भी गिरकर मरने के डर को खो चुकी थी। उसका अस्तित्व वास्तव में इस संसार से मिट चुका था। उसका मन अब केवल घुटने के लिए रह गया था।[४]' विधवा की इस समस्या पर लेखक ने गम्भीरतापूर्वकर विचार किया है। उसकी इस समस्या का रूप यह है कि यदि कोई व्यक्ति उसकी दीन-हीन अवस्था का लाभ उठाकर उसके प्रति संवेदना प्रकट कर उसे अपने स्वार्थ का उपादान बनाना चाहे, तो उस स्थिति में वह क्या करे। इसी उलझन में पड़कर विधवा कमला स्वयं को विकट स्थिति में आबद्ध पाती है। वह परमेश्वर के उपकारों में पड़कर विधवा कमला स्वयं को विकट

---

१. वही, पृ० १९।

२. उबाल, पृ० २४।

३. बौने और घायल फूल- भूमिका।

४ वही पृ० ६७।

स्थिति में आबद्ध पाती है। वह परमेश्वर के उपकारों को स्वीकार करती हुई भी एकान्त में उससे पढ़ना नहीं चाहती। वह अपने स्थान पर नीलिमा को भेजकर सतीत्व की रक्षा करती है। कालान्तर में वह दुर्गाप्रसाद के बहकावे में आकर उसके घर चली जाती है। दुर्गाप्रसाद उसकी मजबूरियों का लाभ उठाकर उसे विधवा-विवाह के माध्यम से बेचना[1] चाहता है। इस विकट स्थिति में वह मायके भागकर अपनी मर्यादा बचाती है। उस अभागिनी के लिए कहीं भी सुरक्षा नहीं है। इसलिए वह महंत चंदनदास की शरण में चली जाती है। यहीं उसके सतीत्व का भवन चरमराने लगता है। किन्तु लेखक ने महन्त तथा कमला के पारस्परिक सम्बन्ध को अंकित करने में अतुल संयम और कौशल का परिचय दिया है। समग्र उपन्यास का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लेखक ने इस समस्या का अन्त विधवा-विवाह में नहीं देखा है। सुरेश, परमेश्वर, राधारमण आदि ने अनेक समाजसेवी एवं कार्यकर्ता इस उपन्यास में भरे पड़े हैं, किन्तु कोई भी कमला के पुनर्विवाह की चर्चा नहीं करता। लगता है कि सन्तान होने के पश्चात् लेखक पुनर्विवाह का समर्थन नहीं करता। इसलिए उन्होंने दुर्गाप्रसाद की विवाह-योजना को अत्यन्त व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने कमला को महंत की शरण में पहुँचाकर विधवाओं की मजबूरियों की ओर भी संकेत किया है। इसके अतिरिक्त 'स्त्री संघ' की ओर भी संकेत किया गया है, किन्तु कमला उसमें भी भाग नहीं लेती है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि लेखक ने इस समस्या को यथावत् रूप में प्रस्तुत किया है और किसी भी स्वस्थ समाधान का सुझाव नहीं दिया है।

नारी के अतिरिक्त लेखक ने युग के अन्य दलित एवं पीड़ित व्यक्तियों के जीवन की समस्याओं को समेटकर रख दिया है और उनकी पीडा का परिहार एव परिहार के रास्ते के व्यवधानों को भी प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द ने अछूतोद्धार के जिस आन्दोलन को अपने उपन्यासों में उठाया है, उसकी एक हल्की झांकी इस उपन्यास में भी प्रस्तुत की गयी है। मन्दिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह करवाया गया है और आन्दोलन में कमला का पति नीलकान्त भी मारा गया है। इसके अतिरिक्त इस कृति में स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों के बलिदानों का अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया गया है।

सुरेश महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन की उपज है। गांधीवादी नीति की स्पष्ट झलक सुरेश और परमेश्वर के संवादों में मिल जाती है। नीलकान्त की हत्या के पश्चात् परमेश्वर को समझाते हुए सुरेश कहता है, 'धीरज धरो। यह युद्ध है अहिंसा युद्ध।..... गांधी ने कहा है मृत्यु पराजय नहीं है। महान् की साधना में हुई मृत्यु विश्वशान्ति के विशाल दुर्ग पर एक और सत्य की सफेद पताका का फहर जाना है। ... रियासतों का आंदोलन छोटा है, वह इन्हीं बलिदानों के बल पर बढ़ेगा।[2] महात्मा गांधी के अहिंसा-आन्दोलन का अनुयायी होने के कारण सुरेश सदैव हिंसा का विरोध करता है। उसकी राष्ट्रीय चेतना गांधीवादी सत्यअहिंसा के शुचि चिन्तन से संजीवित है। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह प्रेमचन्द की परंपरा का उपन्यास है।

पात्र

'बौने और घायल फूल' में पात्रों की संख्या कम है। ये पात्र भी व्यक्ति न होकारा वर्ग के ही प्रतीक हैं। सुरेश, परमेश्वर, नीलकान्त, दुर्गाप्रसाद श्यामलाल आदि इसके प्रमुख पुरूष पात्र हैं और कमला, नीलिमा आदि प्रमुख नारी पात्र।

सुरेश इस उपन्यास का सबसे अधिक सिद्धान्तवादी पात्र है। वह लेखक के विचारों का वाहक तथा आदर्शों का प्रतीक हे। परमेश्वर, नीलिमा, कमला आदि सभी प्रमुख पात्र कहीं न कहीं,किसी न किसी प्रकार लडखड़ाते हुए स्वार्थ साधते दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु सुरेश आदि से अन्त तक अपने चरित्र को ऊँचा उठाये रखता है। नीलकान्त भी बड़ा ही चरित्रवान पात्र है, किन्तु उपन्यास में उसको इतना कम स्थान मिला पाया है कि वह पाठक को पूर्णतया प्रभावित करने में सफल नहीं हो सका है। सुरेश कमला की जितनी सहायता करता है, वह स्तुत्य है। इसमें मानव-सुलभ सहृदयता और कोमलता भी है। अनेक अवसरों पर उसने अपने इस गुण का परिचय दिया है।वह देश की स्वतन्त्रता के प्रति समर्पित है। 'जब इसको पहली बार जेल में डाला गया था, जब इसकी तीन पसलियां पुलिस ने लाठी चार्ज में तोड़ दी थीं और यह तीन दिन बेहोश रहा था, तब इसका लड़का-सात बरस का बच्चा-बीमार होकर मर गया था। जब यह दूसरी बार जेल गया था तब इसकी स्त्री मर गयी थी। और नेताओं की सी ईर्ष्या इसमें नहीं।[3]'

---

१ वही, पृ० २०२।

२ बौने और घायल फूल पृ० ४७।

३ वही पृ० ५३ ५४।

सुरेश से मिलता जुलता चरित्र परमेश्वर का है। वह सच्चा कांग्रेसी कार्यकर्ता है। नीलकान्त की मृत्यु के पश्चात् वह उस अनाथ परिवार की प्रशंसनीय सेवा करता है। सुरेश के समान वह भी अकेला है और देश की स्वतन्त्रता के प्रति समर्पित हैं। उसके पास असीम साहस और जीवट का व्यक्तित्व है और हर प्रकार की कटुताओं को सह कर भी वह संघर्ष में रत रहता है। वह सजीव पात्र है और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया उस पर होती है। इन्हीं परिस्थितियों के अनुसार वह ढलता गया है। उसके चरित्र के मनोवैज्ञानिक पहलू को लेखक ने बड़ी सफलता के साथ रखा है। नीलिमा को अकेले पाकर वह अपना संयम खो बैठता है। कमला के सौन्दर्य के प्रति भी वह आकर्षित है, किन्तु प्रत्येक समय वह संयमित है। स्वतन्त्रता का महान् नेता बन जाता है।

दुर्गाप्रसाद एक ढोंगी एवं निर्बल पात्र है। कमला जैसी सर्वगुण संपन्न नारी का आदर पाकर भी वह उसकी रक्षा नहीं कर पाता, उल्टे उसे बेचैन करने की योजना बनाता है। उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर नीलिमा स्वतन्त्र विचरण करती है और उसे ढाल बनाकर रखती है।

इस उपन्यास में लेखक को पुरूष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों के निर्माण में अधिक सफलता मिली है और इसके नारी पात्र अधिक मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थ हैं। उपन्यास की सबसे प्रमुख पात्र कमला नीलकान्त की पत्नी है और उसके जीवन में विधवा-जीवन की समस्त दयनीयता, विवशता एवं दुबर्लता प्रतिफलित हुई है। वह अपने दिवंगत पति की स्मृति में ही जीवन व्यतीत करना चाहती है। उसमें स्वाभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। परिवार की सहायता के संदर्भ में वह माताजी से कहती है- 'नहीं माताजी! हमें धन की क्या जरूरत है। कौन से हमें चादी के महल बनाने हैं। जब वे ही नहीं रहे तो यह धन कितने दिन चलेगा।'[1] 'वह दुर्गाप्रसाद के बहकावे में आकर उसके घर चली जाती है और अनेक व्यवधानों को झेलते हुई अपने सतीत्व की रक्षा करती है। इन संघर्षो ने उसके जीवन में कटुता भर दी। इसलिए वह महन्त चन्दनदास की शरण में चली जाती है। उसमें उसका दोष नहीं, उसकी परिस्थितियों का है। इस कृति में लेखक ने 'घायल फूल के रूप मे उसे ही चित्रित किया है। वह अनिंद्य सुन्दरी जीवन के घात-प्रतिघातों के बीच अपना अस्तित्व बनाये रखती है। उसके चारों तरफ के बिखरे कांटे उसकी रक्षा नहीं अपितु उसे कष्ट देते हैं। वह भाग्य से लेकर समाज तक के द्वारा प्रताड़ित नारी है। कमला के पश्चात् नीलिमा का चरित्र आता है। वह अत्यन्त नीच, चरित्रभ्रष्ट, कटुभाषिणी एवं विश्वासघातिनी नारी है। उसका जीवन वासना का पर्याय बन गया हैं वह ऐन्द्रिय सुख के लिए परमेश्वर एवं बांके से अपना मांसल सम्बन्ध स्थापित करती हैं। यह बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि नारी में एक बार परकीया भाव उत्पन्न होने पर अवसर मिलने पर पत्नी बनी रहने पर भी उसकी वासना की भूख नहीं मिटती। वह पति को मूर्ख समझती है और उसका उपयोग केवल ढाल के रूप में करती है। वह अपना वास्तविक बालम बांके[2] को मानती है। इस प्रकार लेखक ने नीलिमा को एक घृणित नारी के रूप में चित्रित किया है, यद्यपि इस प्रकार के चरित्र समाज में सहज उपलब्ध हैं।

शिल्प

'बौने और घायल फूल' कथोपकथन-प्रधान उपन्यास है। इसमें वर्णन का तत्व स्वल्प है। अतएव कथोपकथनों को अनेक कार्य करने पड़ते हैं। ये उपन्यास की समस्या के संकेतक, विभिन्न परिस्थितियों के नियामक, चरित्रव्यजक तथा विचार-प्रकाशक हैं। संवादों की भाषा व्यावहारिक बोलचाल की है। ये प्रायः छोटे, चुटीले, नाटकीय तथा सजीव हैं। विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। कुछ अंग्रेजी शब्दों का अर्थ[3] न देकर लेखक ने सामान्य पाठकों के सामने एक समस्या उत्पन्न कर दी है, किन्तु ऐसे शब्द कम हैं। इसमें देशज शब्दों का भी खुला प्रयोग हुआ है। इसमे प्रतीकात्मक[4] एव पत्रात्मक शैली भी प्रयुक्त हुई है।

समग्र आलोचना के बाद यह कहा जा सकता है कि लेखक संकीर्ण मान्यताओं से ऊपर उठकर जीवन और सत्य का अधिक गहरा और व्यापक अनुभव अपने इस उपन्यास में कर सका है। इन्होंने अपने अनुभव का वर्णन सीधी-सादी शैली में किया है। इस उपन्यास की शैली नदी के तीव्रगामी जल के समान अबाध और निर्बन्ध है।

---

१. बौने और घायल फूल पृ० ७७।

२. बौने और घायल फूल पृ० २०१।

३ वही पृ० १२२।

४ वही पृ० १२५ २६।

बन्दूक और बीन

बन्दूक और बीन : १९५८ युद्ध की समस्या पर आधारित डॉ० रांगेय राघव का एक मौलिक उपन्यास है। सैनिक-जीवन को लेकर लिखा गया यह हिन्दी का पहला उपन्यास है, जिसमें युद्ध की विभीषिका का अंकन अत्यन्त गहराई से हुआ है। इसमें देश, जाति, समाज की व्यवस्था, राज्य की व्यवस्था, विज्ञान तथा कला सम्बन्धी मान्यताओं के बारे में एक नये ढंग से विचार किया गया है। उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक लेफ्टिनेण्ट कर्नल रनवीर की स्मृतियों पर आधारित है। इसलिए इसे संस्मरणात्मक उपन्यास भी कहा जा सकता है। उपन्यास का कथानक बहुत छोटा है। लेखक ने अपनी कलात्मक प्रतिभा से इसे आकर्षक विस्तार दिया है। इस उपन्यास की टेकनीक में लेखक की कला चलचित्र-निर्माण की उस पद्धति से मेल खाती है, जिसे क्लोजअप (Close-up) और स्लोअप (Slow-up) कहते हैं। इन दोनों पद्धतियों के विचित्र संयोग से उपन्यास में एक अनूठी सुन्दरता आ गयी है, जो अन्य उपन्यासों में प्रायः दुर्लभ है।

उपन्यास का कथानक तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें 'एक', 'दो', और 'तीन' की संज्ञा दी गयी हैं कथानक में दार्शनिक सिद्धान्तों की बहुलता के कारण कथा के प्रवाह में कहीं-कहीं बाधा पहुँची है। ये वर्णन उपन्यास-कला की दृष्टि से नीरस हैं। लेखक ने चित्रों में रेखाओं से काम न चलाकर आवश्यकता से अधिक रंग भरने का प्रयास किया है।

शीर्षक-निर्वाह की ओर लेखक सजग रहा है। इसको चरितार्थ करने के प्रयत्न में लेखक ने प्रतीकात्मक सांकेतिक विधियों का सहारा लिया है। पात्रों के विवाहादि की समस्याओं के माध्यम ऐसे विचार व्यक्त किये गये है, जो शीर्षक का उल्लेख किये बिना उसकी पुष्टि करते हैं। "बन्दूक और बीन" युद्ध एवं प्रेम के प्रतीक है। उपन्यास के अन्त में लेखक कहता है, ·· "इस दुनिया में मौत नहीं जिन्दगी जीतेगी, नाश नहीं, निर्माण, पाप नहीं करुणा, अत्याचार नहीं, समानता, गुलामी नहीं आजादी ···बन्दूक नहीं बीन· ।[१]"

इस उपन्यास में लेखक ने युद्ध की भयंकरता, उसकी उपयोगिता एवं उसके दुष्परिणामों को प्रगतिशील दृष्टिकोण से चित्रित करने का प्रयास किया है। लेखक ने जापानियों की बर्बरता का अति यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया है[२]। जापानी पूँजीवादी सभयता के प्रतीक थे, जो राज्यलिप्सा के लिए मानवता का गला घोंट रहे थे। निरीह प्राणियों को मार डालना, नारियों के साथ बलात्कार करना,[३] उनके लिए सहज कार्य हो गया था। अन्त में लेखक ने शान्ति की महत्ता प्रतिपादित की है, जो मानवीय संस्कृति का मूल तत्व है। "···वर्गहीन समाज बनाओ शांति से व्यक्ति का विकास करते हुए व्यक्ति और समाज को मिलाते हुए · हिंसा है अत्याचार अहिंसा है आत्मरक्षा ।"[४] लेखक ने हिंसा की निन्दा की है, किन्तु अत्याचार के विनाश के लिए युद्ध को आवश्यक माना है। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' के ये पक्षपाती थे।

लेखक का युद्ध-विषयक उद्देश्य उपन्यास में पूर्णतः सिद्ध हो गया है। पूरा उपन्यास पढ़ लेने पर लगता है कि लेखक जो प्रमाणित करना चाहता है उसमें पूर्ण सफल रहा है। इसके अतिरिक्त उपन्यास से हमें परिस्थितियों से जूझने और निरन्तर आशावादी बने रहने की शिक्षा भी प्राप्त होती है। लेफ्टिनेण्ट कर्नल रनवीर विकट परिस्थितियों के अन्तराल से गुजरता हुआ पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही लेखक ने भारतीय सैनिकों के देशप्रेम की ओर भी संकेत किया है। दाण्डेकर मृत्यु के समय भी "भारत माता की जय" बोलता है। इसके अतिरिक्त कर्तव्य, व्यथा और करुणा के अनेक प्रसंगों से उपन्यास भरा हुआ है। लेखक ने अजहर के माध्यम से मनुष्य की परिस्थितिगत विवशताओं का बड़ा ही यथातथ्य और सजीव चित्र उपस्थित किया है। द्वितीय महायुद्ध के समय अजहर अपने अधिकारी रनवीर के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर देता है, किन्तु भारत-पाक विभाजन के पश्चात् वह हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर संघर्षों के कारण पाकिस्तानियों का गुप्तचर बनकर लेफ्टिनेन्ट कर्नल रनवीर पर गोली चला देता है। पकड़े जाने पर वह रनवीर से कहता है " ··मुसलमान हिन्दुओं को पंजाब में पूरब को खदेड़ रहे थे, पूरब के हिन्दुओं ने मुझे उधर खदेड़ दिया और मै जहाँ पहुँचा, वह मेरे लिए एक ऐसी दुनिया थी हुजूर कि जो कुछ मैंने जंग में सीखा था ·· वह सब सिर्फ नफ़रत बनकर मुझमें समा सका और मै नफरत के बल पर जिन्दा रहने लगा हुजूर ····।[५]"

---

१ बन्दूक और बीन, पृ० १७४-७५।

२ वही, पृ० १४, १५, ५६, ५८, ६४, ७८, १३५।

३ वही पृ० ७८।

४ वही पृ० १६५।

५ बन्दूक और बीन पृ० १७१ १७२

इस उपन्यास में मार्मिक प्रसंगों का आधिक्य है और इनकी योजना लेखक ने बड़े ही कौशल से की है। रनवीर का विदेशियों के साथ कैद हो जाना ही बड़ी कौतूहलपूर्ण घटना है, फिर ऐसा लगता है कि जापानी लेफ्टिनेण्ट कर्नल का प्राण अब लेंगे, पर वह बच जाता है। दाण्डेकर एवं जापानी कर्नल मत्सुओका की घटना बड़ी ही नाटकीय है।

चरित्र

सम्पूर्ण उपन्यास लेफ्टिनेण्ट कर्नल रनवीर के जीवन पर आधारित है। इसमें भी रनवीर के जीवन का खण्डचित्र है, सम्पूर्ण चित्रण नहीं। मुख्यत: इसमें सन् उन्नीस सौ चालीस से लेकर सन् उन्नीस सौ सत्तावन अर्थात् सत्रह वर्षों की जीवन-गाथा अंकित है। उपन्यास में रनवीर का आगमन एक बीस वर्षीय सैनिक के रूप में होता है और अपनी प्रतिभा से वह शीघ्र ही लेफ्टिनेण्ट कर्नल बन जाता ह पिता की मृत्यु के पश्चात् परिवार का सम्पूर्ण भार इस युवक पर आ जाता है, जिसे वह जीवन मे जूझता हुआ सहन कर लेता है। बर्बर जापानियों द्वारा दी गयी अट्ठाइस दिन की घोर यातना के पश्चात् भी वह विचलित नहीं होता। रनवीर असीम साहस और जीवट का व्यक्ति है और हरप्रकार की कटुताओं एवं बाधाओं को सहकर भी वह संघर्षरत रहता है। मलाया एवं सिंगापुर में अनके यातनाओं को सहता हुआ अपने कर्तव्य-पथपर सदैव अडिग है। उसका जीवन सैनिकों के जीवन को प्रतिबिंबित करता है। मानवीय तत्व उसमें इतने अधिक हैं कि वह जापानी कर्नल मत्सुओका के अमानवीय व्यवहारों को भूलकर उसका भारत में स्वागत करता है। जापानी कर्नल उसके चरित्र से प्रभावित होकर कहता है, "·····आदमी नहीं हो रनवीर। तुम बुद्ध हो तुम बुद्ध ··· ।[१]" पात्रों के अन्तर्गत चरित्रांकन में अर्न्तद्वन्दों का अंकन स्वाभाविक है क्योंकि भीतरी द्वन्द्व मानवजीवन का अविकल अंग है। लेखक ने रनवीर के चरित्र में भीतरी अन्तर्द्वन्द्व को अधिक महत्व दिया है। वह सदैव अपने दार्शनिक विचारों में डूबा रहता है। इंजीनियर की लड़की का फोटो पा जाने पर उसके मन में अनेक अन्तर्द्वन्द्व चलते हैं। और वह अन्त में विवाह के लिए तैयार हो जाता है।

रनवीर के अतिरिक्त डा० अहूजा, डा० कावसजी, कर्नल मत्सुओंका, अजहर, दांडेकर, नीलम आदि पुरुष पात्र एवं सुषमा, मिसेज अहलूवालिया, मिस सक्सेना एवं आइड आदि नारी पात्र हैं। ये सभी पात्र उद्देश्य में सहायक आवश्यक पात्र है। लेखक ने इन पात्रों का परिचय नहीं दिया है। पात्रों के चिन्तन तथा उनके कार्यों से ही उनका चरित्र व्यंजित हुआ है।

चरित्र

इस उपन्यास में लेखक ने विषय-वस्तु की नव्यता के साथ नूतन-शिल्प-सजगता का सफल परिचय दिया है। इन्होंने स्वयं भूमिका में कहा है, "क्राफ्ट के सम्बन्ध में कहूँ कि इस उपन्यास में मैंने सदा की तरह कुछ नये ही प्रयोग किये हैं[२]।" पत्र-शैली के उत्कर्ष से कथा का सांकेतिक अनुबन्धन, स्मृत्यवलोकन, संवाद-वैचित्र्य तथा भाषा-शैली का अभिजात वैशिष्ट्य "बन्दूक और बीन" को शिल्प-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखने की अनुशंसा करते हैं। इस उपन्यास की भाषा कहीं बोझिल एवं दुरुह नहीं हुई है-एक सरल-तरल प्रवाह सर्वत्र लक्षित होता है। अरबी, अंग्रेजी, फारसी तथा तद्भव शब्दों का यहां सफल प्रयोग हुआ है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि "बन्दूक और बीन" एक सौष्ठवसम्पन्न आकर्षक उपन्यास है। लेखक को इस नये प्रयोग में सफलता मिली है। युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी गुलेरीजी की अमर कहानी "उसने कहा था" जैसी मार्मिकता एवं प्रभावशीलता इस उपन्यास में भी पायी जाती है।

राई और पर्वत

राई और पर्वत : १९५८ डॉ० रांगेय राघव का एक मध्यम काय सामाजिक उपन्यास है। इस उपन्यास में आधुनिक युगीन भारत का ग्राम्य जीवन चित्रित किया गया है। उपन्यास का कथानक भारत के एक ऐसे गाव पर आधारित है, जो राजस्थान ओर उत्तर प्रदेश के सन्धि-स्थल पर बसा हुआ है। उपन्यास की आधिकारिक कहानी रामभरोसे और विद्या के कार्य-व्यापारों से ही निर्मित है। साथ ही हरदेव एवं फूलवती की प्रासंगिक कहानी भी चलती है, जो मुख्य कथा से इस प्रकार मिला दी जाती है कि कहीं पर भी जोड़ नहीं प्रतीत होता। चार भागों में विभक्त कथानक एक साथ ही विद्या और रामभरोसे तथा फूलवती एवं हरदेव की कहानी को लेकर चलता है।

---

१ बन्दूक और बीन पृ० १२।

२ बन्दूक और बीन- भूमिका

पहले अध्याय में विद्या द्वारा हरदेव के कुल और थाने के परिवेश का चित्र है। दूसरा अध्याय विद्या की पूर्व दीप्ति के रूप में कथा के पिछले कोणों को जोड़ता है। तीसरे-चौथे अध्याय सामाजिक कुरीतियों को व्यक्त करते हैं।

'राई और पर्वत' में कथानक का आरम्भ सामान्य क्रम से नहीं, मध्य के निकट से किया गया है। इससे उपन्यास के आरम्भ में ही पाठकों की जागरूकता बढ़ जाती है। कथानक का अन्त जिस भावपूर्ण वातावरण संयुक्त सकेत-शैली की मार्मिकता से किया गया है, उसमें विद्या-रामभरोसे के जीवन के नये विकास की ओर सकेत हो जाता है। यदि लेखक अभिधात्मक विधि से उनके जीवन के नये मोड़ के आरम्भ की सूचना दे देता, तो शिल्प में यह उत्कर्ष न आता और उपन्यास के अंत की मार्मिकता को भी क्षति पहुँचती। कथानक यथार्थ जीवन के परिवेश में ही फैलता है, जिससे घटनाओं के प्रति सहज ही विश्वास हो जाता है।

इस उपन्यास में लेखक ने जाति-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि अनेक सामाजिक रूढ़ियों एव जर्जरित मान्यताओं का बड़ा ही तीखा एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। समाज अपनी थोथी मान्यताओं एव कृत्रिम मानदण्डों के कारण जर्जरित हो रहा है। फूलवती हरदेव के प्रेम में आबद्ध होकर सदैव अपने पति को अधकार में रखती है। विवाहोपरान्त उसका शारीरिक सम्बन्ध देवर से भी हो जाता है, किन्तु पति की चिता पर जल जाने के कारण वह अंध समाज में सती के रूप में आदर पाने लगी। निरन्तर अपने सतीत्व की रक्षा करने में जूझती हुई विद्या समाज में व्यभिचारिणी की संज्ञा से अपमानित हुई। इस प्रकार लेखक ने नारी-दुर्दशा के सदर्भ में ग्राम-विकृति का उद्‌घाटन किया है। विभिन्न गौण-प्रमुख पात्र उसके सामाजिक-नैतिक ह्रास के स्पष्टीकरण एव सामान्यीकरण में सहायक रहे हैं। ससुराल के ब्राह्मणों की रूढ़िवादिता, स्वार्थन्धता एवं अनैतिकता की सताई विद्या मायके को भी भिन्न नहीं समझती। वह गांव के अणु-अणु से पीड़ित थी। लेखक ने सप्रयोजन ससुराल एव मायके के दो गांवों की कथा चलायी है, जिससे भारत के सभी गांवों की समस्याओं का उद्‌घाटन हो सके। इसके साथ ही लेखक ने पदाधिकारियों की घूसखोरी का बड़ा नग्न चित्र प्रस्तुत किया है। रामभरोसे आठ हजार रुपया सिपाही, दरोगा, पत्रकार, वकील, जेलर, सेशन जज एव एम०एल०ए० की सेवाओं में समर्पित कर विद्या को छुड़ा लेता है। एम०एल०ए० से मिलने के पूर्व प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता बटुक विहारी ने राम भरोसे से कहा, "...इसके लिए एम०एल०ए० साहब के पास चलना होगा। तुम तो जानते हो कि वोट लेते वखत जो कुछ उन्होंने लोगों पर लुटाया है, अगर उसे लोगों से ही नहीं भर लेंगे, तो अगला चुनाव कैसे लडेंगे।[१] "इस प्रकार लेखक ने राजनीतिक नेताओं के अनैतिक कार्यो की ओर भी संकेत किया है। लोभ ओर व्यभिचार के कारण ही प्रायः नेता लोग अपने सिद्धान्तों का गला घोंट कर पार्टियां बदलते रहते है। इसके अनन्तर लेखक ने निम्न वर्ग एवं मध्य वर्ग की आर्थिक विपन्नता, शोषण, समाज के अत्याचार आदि को भी उदात्त पात्रों के जीवन्त चित्रण के माध्यम से व्यक्त किया है।

इस उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है। शीर्षक-निर्वाह की ओर लेखक सजग रहा है। इस संसार में मनुष्य का अस्तित्व एक राई के समान है, जिसे पर्वताकार विषमताओं का सामना करना पड़ता है। विद्या, रामभरोसे आदि प्रमुख पात्र विपत्तियों से जूझते हुए चलते हैं और अन्त में उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। एक समीक्षक ने उपन्यास के शीर्षक की विचित्र प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है, "यह उपन्यास राई के समान लघु है। पर इसका कैन्वैस पर्वत के समान विराट है।[२]"

चरित्र

यह एक चरित्र-प्रधान उपन्यास है। इसमें एक विशाल जन समूह ही एकत्र हो गया है। पुरुष पात्रों में रामभरोसे, हरदेव, गिरिधर, रामचरन उमेश, जुझार सिंह, सुखदेव, बटुकबिहारी, लालाराम, गंगासहाय, जैबिहारी, बदन सिंह, मनसा, विसम्बर, माधोनारायन, चिरंजीवग्याप्रा, वकील साहब, डाक्टर साहब, दारोगा आदि और पात्रों में फूलवती, विद्या आदि प्रमुख हैं।

विद्या इस उपन्यास की नायिका है। सोलह वर्ष की अवस्था तक उसका जीवन अतयन्त सुखमय था। इसके पश्चात पति मास्टर उमेश की मृत्यु के साथ ही वह लुट जाती है। ससुराल मे जेठ, श्वसुर आदि की दुर्गन्धिमयी वासना से ऊबकर वह अपने पिता से कहती है, 'दादा! मुझे ले चलो, नहीं तो कुएँ में कूदकर जान दे दूगी। यहां बड़ा पाप है[३]।' मायके में भी उस अभागिनी का दुर्भाग्य पहुँचा और माता फूलवती के कारण उसे

---

१ राई और पर्वत पृ० १२२।

२ डॉ० सुरेश सिन्हा हिन्दी का उद्भव और विकास पृ० ४२१

३ राई और पर्वत पृ० ५२

आवारे रामभरोसे की वासना का सामना करना पड़ता है। समाज अपने छिछलेपन के कारण उसे व्यभिचारिणी घोषित कर देता है। सतीत्व की इस विकट परीक्षा में भी वह बड़े धैर्य एवं साहस के साथ खरी उतरने का प्रयास करती है। माता के अनैतिक सम्बन्धों से परिचित होने पर वह उससे घृणा करने लगती है, किन्तु कहीं भी वह रहस्योद्‌घाटन नहीं करती। अपने जीवन-दर्शन को व्यक्त करती हुई वह फूलवती से कहती है- " अमा तू पापिन है, मै नहीं। तू मुझसे डरती है । मैंने नाम गवांया है, लेकिन जान रहते सत नहीं गंवाऊंगी। चाहे कुछ भी हो, पाप पाप ही रहेगा।"[1] उसमें भारतीय नारी-जीवन पवित्रता इतनी भरी हुई है कि वह कामी हरदेव की हत्या करने में रंचमात्र भी हिचकती नहीं वह सच्चे प्रेमी रामभरोसे के निष्कलुष प्रेम को भी ठुकरा देती है। अन्त में वह समाज की थोथी मर्यादा से घृणा करती हुई रामभरोसे से कहती है-'रात बीत गयी रामभरोसे उजाला हो गया - तू मेरा है मै तेरी हूँ अब मुझे डर नहीं ---सुनता है न?'[2] इस प्रकार उसकी शक्ति के दो पहलू है-एक तो यह कि वह अपनी माँ के रास्ते पर चलने से इनकार कर देती है और दूसरा यह कि आडम्बर-प्रदर्शन और रूढ़ियों को लात मारकर वह रामभरोसे को स्वीकारती है।

विद्या का चरित्र भारतीय नारियों के आदर्श जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए लेखक ने उसको सामान्य भारतीय ग्रामीण नारी की विशेषताओं, परिस्थिति-निरपेक्ष पतिनिष्ठा, भाग्य, भगवान और विश्वास, सत्य, धर्म, प्रेम से युक्त प्रतिनिधि मात्र के रूप में प्रस्तुत किया है।

फूलमती उपन्यास की दूसरी नारी-मात्र है, जिसे एक व्यभिचारिणी एवं निराश प्रेमिका के रूप में चित्रित किया गया है। वह अभागिनी पिता की मृत्यु के पश्चात् एक अधेड़ व्यक्ति के हाथ बेच दी जाती है और अपने बाल-प्रेमी हरदेव से अलग कर दी जाती है। ससुराल में देवर के बलात्कार के कारण वह माँ बन जाती है, किन्तु हरदेव के संकेत पर वह देवर को जहर देकर मार डालती है। अपनी वासना की तुष्टि के लिए वह विधवा बेटी विद्या को भी बदनाम कर देने में चूकती नहीं है। अन्त में अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के कारण वह पति की चिता पर जल जाती है। लेखक ने फूलवती का चरित्र-चित्रण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। आज अनेक हिन्दू नारियाँ अनमेल विवाह के कारण अपने चरित्र को नष्ट करती हुई देखी जाती है। विधवा बेटी को बदनाम करते समय अवश्य ही उसका चरित्र अत्यन्त गिर जाता है, किन्तु वह इसी आत्मग्लानि के कारण ही पति से अपने अपराधों को व्यक्त कर देती है।

रामभरोसे इस उपन्यास का नायक है। उससे चरित्र में कुत्सा और आदर्श का समन्वय स्थापित किया गया है। जीवन के प्रथम चरण में वह अत्यन्त उच्छृंखल, जुआरी एवं आवारा व्यक्ति था। हरदेव द्वारा पालित रामभरोसे फूलमती के संकेत पर विद्या का चारित्रिक पवित्रता को भी कलंकित करने का प्रयास करता है, किन्तु उसके द्वारा दरांत से मारे जाने के पश्चात् रामभरोसे के जीवन को एक नयी दिशा मिलती है। वह कटोरी से कहता है, "यह घाव कितना अच्छा था। पुर गया, पर मन पर गहरा घाव कर गया। औरत को ऐसा ही होना चाहिए। पवित्तर हुए तो जैसे आग की लौ की तरह जला दे।"[3] वह विद्या की पवित्रता एवं सात्विकता से प्रभावित होकर एक आदर्श प्रेमी के रूप में जीवन व्यतीत करता है। वह विद्या को छुड़ाने के लिए अपनी सारी कमाई फूँक देता है। उसके मानापमान का ध्यान न देते हुए वह निरन्तर उसकी सेवा करता है। अन्ततः वह अपने निष्कलुष प्रेम के कारण विद्या को प्राप्त कर लेता है। रामभरोसे के चरित्र को लेखक की विशेष सहानुभूति मिली है। वह सदैव अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ता रहा है। रामभरोसे का चरित्र उपन्यास की उपलब्धि के रूप में रखा जा सकता है। यह सामाजिक मान्यताओं के खोखलेपन एवं अन्तर्विरोधों को उभारता है। जहाँ तक समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार और नैतिकस्खलन का प्रश्न है, उसे उसकी सम्पूर्ण भयावहता में उभारनेवाला अकेला पात्र रामभरोसे है। इस उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य आधुनिक ग्राम्य-जीवन का यथार्थ चित्र खींचकर भारतीय संस्कृति के आदर्श को प्रस्तुत करना है। अनेक घातों-प्रतिघातों का सहन करते हुए उपन्यास के प्रायः सभी विशिष्ट पात्र आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाने के लिए विवश हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त लेखक ने शुद्ध प्रेम के प्रति समाज की असहिष्णुता कठोरता, ईर्ष्या आदि की भी यथार्थवादी व्याख्या की है और इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है।

---

१ वही पृ० ७७
२ राई और पर्वत पृ० ११[illegible]
३ वही पृ० १०३

शिल्प

शिल्प की दृष्टि से यह लेखक की अत्यन्त सशक्त एवं आकर्षक रचना है।[1] लेखक ने उपन्यास के आरम्भ में ही पात्रों की भाषा-ब्रज एवं खड़ी-बोली की ओर संकेत कर दिया है[2]। उपन्यास के अन्त तक अधिकांश पात्र इन्हीं दो भाषाओं का प्रयोग करते हैं। अशिक्षित ग्रामीण-पात्रों की भाषा में स्थानिक शब्दों की बहुलता हो गयी है, जिससे भाषा में और अधिक स्वाभाविकता आ गयी है। कथोपकथन के माध्यम से प्रायः चुटीले, व्यंग्य तर्क, चिन्तन, विचार-विमर्श, रीति-नीति, मनोविनोद आदि प्रस्तुत किये गये है। अंग्रेजी शब्दों के अर्थ नीचे दे दिये गये हैं,[3] जिससे भाषा में दुरूहता नहीं आने पायी है।

निष्कर्ष में यह कहा जासकता है कि 'राई और पर्वत' एक चरित्रप्रधान सामाजिक उपन्यास है। कथा की सरल एकान्विति, करुण स्थितियों के प्रचुर विनियोग, ग्रामीण वातावरण के यथार्थ निरूपण तथा कलात्मक अभिव्यंजना ने मिलकर इस उपन्यास को रोचक बना दिया है।

छोटी सी बात

(१९५६) : डॉ० रांगेय राघव का एक लघु सामाजिक उपन्यास है। पत्र-शैली में लिखा गया उच्च-मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों, उनकी मान्यताओं और आचरणों पर यथार्थवादी ढंग से विचार करनेवाला उपन्यास है। इसका कथानक नौ पत्रों में विभाजित है। ये सब पत्र सुशीला ने अपनी एक सहेली के नाम लिखे है, जो एक डाक्टर की पत्नी है। इन पत्रों में लेखक के चिन्तन में एक बौद्धिक पकड़ है। इस बौद्धिक पकड के कारण उपन्यास का कथानक अत्यन्त सशक्त एवं आकर्षक हो गया है। 'जैसे-जैसे' हम लेखक के साथ आगे बढते हैं और ज्यों ही वह अपने व्यंग्य-वाण इधर-उधर फेंकना और जो भी सामने आये उसे निशाना बनाना शुरू करता है तो यह रोचकता और यह आकर्षण और बढ़ता है।"[4]

इस लघु उपन्यास में लेखक ने अनेक सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक समस्याओं को उठाया है। इसलिये साधारण से साधारण लगनेवाले पात्र भी खूब सोचते हैं। इस कृति में उच्च-मध्यमवर्गीय नारी-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं उनके खोखले व्यक्तित्व का निरुपण किया गया है। वे ऊपर से जितने सभ्य और शिष्ट जान पड़ते हैं, भीतर से उतने ही दम्भी और क्रूर हैं। इनकी कथनी और करनी में महान् अन्तर है। सभ्यता की चादर ओढ़े वे एक अत्यन्त संकुचित परिधि में घूमते हैं। समाज, देश एवं राष्ट्रभाषा 'आदि से उनका कोई लगाव नहीं है। पाखंड ही उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। मिस्टर राज अपनी पत्नी सुशीला से कहते है- 'मैने मैडम, शेक्सपियर के दो ड्रामे कोर्स में पढ़े हैं...। एक का तो फ़िल्म भी बना था पिक्चर तो भाई वे ही लोग बनाना जानते है। इंडियन फिल्म तो मैं देखता नहीं।[6]' अफसर राज अपनी पदोन्नति के लिए सदैव सेक्रेटरी शिवपुरी की चापलूसी करता है। उसका इतना नैतिक पतन हो जाता है कि वह इस उन्नति के लिए अपनी पत्नी सुशीला को भी शिवपुरी की सेवा में पेश करना चाहता है[7]। लेकिन सुशीला इस अनैतिक कार्य को लात मारकर अपने सतीत्व की रक्षा करती है। इस विरोध में लेखक की सहानुभुति नायिका के साथ जान पड़ती है और इसी के माध्यम से लेखक ने अपनी बात पाठकों तक पहुँचायी है। उपन्यास के अन्त में राज सुशीला के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कहता है-"सुशी! तुमने मेरा सिर उठा दिया है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। तुम बहुत अच्छी हो। मैं अब किसी से नहीं डरता। क्या करेगा साला। अरे मै नौकरी छूट जाने से भी नहीं डरता।[8] राज के बॉस शिवपुरी की उन्नति का कारण भी उसकी चचेरी बहन मिसेज रैना थी।[9] समाज की घोर विषमताओं से अवगत होने के कारण लेखक को इस वर्णन में पूरी सफलता मिली है। आज भी अनेक पदलोलुप पदाधिकारी अपनी पदोन्नति के लिए पत्नी, बहन आदि को 'बॉस' की सेवा में अर्पित करते हुए देखे जाते हैं।

---

१ डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास का उद्‌भव और विकास पृ० ४२१।

२ राई और पर्वत पृ० ३।

३ वही, पृ० २२, २३।

४ श्री राजहंस रहबर, समालोचक, जून १९५९, पृ० १५।

५ छोटी सी बात, पृ० १६-१७।

६. वही, पृ० १६।

७ वही, पृ० १५।

८ वही पृ० १२८

९ वही पृ० २८।
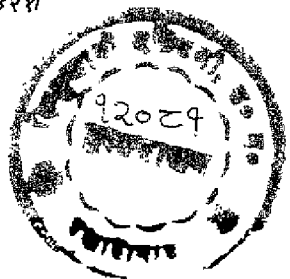
इस आलोच्य कृति में नारी की सामाजिक स्थिति, नारी-जागरण एवं नारी-आन्दोलन आदि विभिन्न पहलुओं पर भी विचार किया गया है। फ्रायडवाद से प्रभावित होने के कारण लेखक नारी की स्वतन्त्रता का पक्षपाती नहीं है। क्योंकि फ्रायडवाद भी स्त्री की स्वतन्त्रता नहीं मानता है। उपन्यास के पहले पत्र में ही नायिका अपने सहेली को लिखती है, "जब तुम्हारी माताजी ने कहा था कि लड़कियाँ मालिक नहीं होतीं, तब मैं नहीं समझी थी। लेकिन अब समझती हूँ तो मुझे माताजी की याद करके आश्चर्य होता है। क्या प्रत्येक स्त्री अपनी परतन्त्रता जानती है? फिर भी वह उसके विरुद्ध विद्रोह क्यों नहीं करती? मैं भी तो नहीं कर रही हूँ, कर भी नहीं सकती। उस विद्रोह का अर्थ ही क्या है? उस विद्रोह में स्त्री की स्पर्धा अवश्य ही जागती है, परन्तु उसे क्या उसमें सुख भी मिलता है?नहीं। सुख स्त्री को अपनी संतान से मिलता है[१]।' संतान-प्रेम के कारण ही मातृसत्तात्मक व्यवस्था चल न सकी[२] क्योंकि अन्य बच्चों की अपेक्षा वह अपने बच्चों को अधिक प्यार करती है। समाज में नारी को उसके व्यक्तिगत नाम से पुकारना उसका अपमान है। उसके जीवन का उद्देश्य पति को रिझाना और सन्तान को पालना है। मार्क्सवाद की धारणा है कि समाज तथा परिवार पर पुरुष का शासन है। नारी आर्थिक रूप से पुरुष के आधीन है और उस पर आश्रित है, किन्तु लेखक इस कृति में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित नहीं है। वह किसी भी स्थल पर नारी की विवशता का कारण अर्थ नहीं अपितु माता होने की इच्छा मानता है। पुरुष ममत्व के बन्धन के शिथिल कर समाज पर शासन करता है।' पुरुष बर्बर है, वह बर्बर ही रहेगा ... जो बर्बर नहीं है वह पुरुष नहीं है... वह बर्बर है तभी तो पत्नी का रक्षक है[३]। नारी-पुरुष के विषय में व्यक्त किए गए लेखक के विचारों से पूर्णतया सहमत होना कठिन है। जीवन में 'सेक्स' की प्रधानता है, किन्तु वही सर्वस्व नहीं है। इसके अतिरिक्त लेखक ने जातिवाद, घूसखोरी, दहेज, भाई-भतीजावाद आदि सामाजिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत औपन्यासिक कृति में लेखक ने 'समाज-कल्याण-केन्द्र' के विविध पहलुओं का अत्यन्त यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया है। यह संस्था मानव-प्रेम, शांति, सेवा के बड़े-बड़े पोस्टर पालती है, किन्तु सच तो यह है कि यह स्वप्नों का भीतर साक्षात्कार कम करती है, पास्टर की तरह उन्हें टांगती अधिक है। साक्षात्कार के अभाव में इन पोस्टरों की छाया में रहती है।[४] सेवा का व्रत लेकर आये हुए सांसारिक लोग अपने रागद्वेष और चापलूसी की वृत्ति से उसे भीतर-भीतर कुत्सित बनाते रहते हैं। कालान्तर में संस्था का जर्जर ढांचा टूट कर बैठ जाता है और सामान्य लोगों के मस्तिष्क में उसके प्रति उपेक्षा की भावना उत्पन्न होती है।

प्रस्तुत उपन्यास में अनेक स्थलों पर डॉ० रांगेय राघव का व्यक्तिगत दर्शन उभर आया है। वे पुरानी एवं आधुनिक दोनों सभ्यताओं के विरोधी हैं। उन्होंने गांधीवाद[५] एवं मार्क्सवाद दोनों की की आलोचना की है। विनाबाभावे के सिद्धान्तों[६] पर भी गहरा प्रहार किया हैं उनके अनुसार जैसे-जैसे सभ्यता और विज्ञान का विकास हो रहा है, संसार उसी गति से विनाश की ओर, रसातल की ओर बढ़ रहा दिखाई देता है।[७] इस प्रकार वे अपने सिद्धान्तों में जेम्स ज्वाइस के सिद्धान्तों के अधिक निकट हैं। 'जेम्स ज्वाइस का कहना है कि इस तथाकथित सभ्यता का जो विकास होना था वह हो चुका। मनुष्य मूलतः बर्बर है। समाज और सभ्यता के विकास से पहले बर्बर युग की याद उसके भावचेतन में सुरक्षित है और आज वह सभ्यता की कैंचुली उतार कर फिर उसी बर्बर युग की ओर लौट रहा है।[८] 'डॉ० रांगेय राघव के अधिकांश उच्चवर्गीय पात्र भी इसी प्रकार सोचते है और सभ्यता का विरोध करते हैं। लेखक अपने सिद्धान्त की पूर्ण स्थापना में सफल नहीं हो पाया है। उसकी व्यक्तिगत मान्यता क्या थी? इसका स्पष्ट संकेत उपन्यास में नहीं हो पाया है। लेखक अपनी बात सुशीला के पति राज के माध्यम से कहता है-'अरे मर्दों की सारी जिंदगी इसी धोखे धड़ी में बीत जाती है।......तुम क्या जानो कि जिंदा रहने के लिए कितनी कशमकश उठानी पड़ती है। मैं पहले सार्त्र के एग्जिस्टेन्शियजिल्म (अस्तित्ववाद) को मानता था। मगर जब मुझे मालूम पड़ा कि वह कमबख्त खुद अपनी बात नहीं मानता, तब मैंने भी छोड़ दिया।[९] इसके अतिरिक्त लेखक ने प्रसंगवश आत्मा, काम, मोक्ष आदि विषयों पर भी स्पष्ट प्रकाश डाला है।

---

१. वही, पृ० ७। *२. वही, पृ० ९।*
३. छोटी सी बात, पृ० ११३। *४. वही, पृ० ३४।*
५. वही, पृ० ८५। *६. वही, पृ० ७४*
७. वही, पृ० १५
८ श्री हंसराज रहबर समालोचक जून १९५९ पृ० १७
९ छोटी सी बात पृ० १४।

चरित्र

उपन्यास के प्रमुख पात्र उच्च मध्यवर्गीय जीवन में चेतना के विविध स्तरों के प्रतीक और विभिन्न दृष्टिकोणों के प्रतिनिधि है। सुशीला एवं राज अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तथा वैयक्तिक चेतना को क्रमशः सामाजिक चेतना से समन्वित करने में सफल होते है। लेखक की दृष्टि नारी-पात्रों पर अधिक गहरी है, क्योंकि वे ही अधिक शोषित और पीड़ित हैं। नारी-पात्रों में सुशीला, मिसेज रैना, रमा रस्तोगी, लेडी दास, श्रीमती तारादेवी, रागिणी आदि मुख्य हैं।

सुशीला इस उपन्यास की नायिका है। अंग्रेजी में एम०ए० करने के पश्चात् उसका विवाह मिस्टर राज के साथ हो गया। वह अत्यन्त स्वाभिमानिनी एवं पति-परायणा नारी है। इसलिए राज के संकेत पर भी वह सेक्रेटरी शिवपुरी की सेवा में प्रस्तुत नहीं होती। वह पति की खुशामद को पसन्द नहीं करती और अपने सतीत्व की रक्षा करती है। सुन्दर होने के साथ-साथ वह चतुर और गुणी है। नृत्य, संगीत, अभिनय आदि सभी गुण उसमें वर्तमान हैं, जो परिस्थितियों के साथ उसमें प्रकट होते है। समाज-कल्याण-केन्द्र द्वारा आयोजित नाटक में वह अपने कुशल अभिनय से सबके ध्यान को आकर्षित कर लेती है। सुशीला के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर लेडी दास उसे संस्था की सेक्रेटरी बना देती है। सेक्रेटरी बन जाने के पश्चात् वह श्रीमती तारादेवी से जीवन के विविध पहलुओं पर विचार करती है और अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करती है। इन गुणों से युक्त होने पर भी उसमें नारी-सुलभ दुर्बलताएँ भी पायी जाती हैं। वह राज को रमा रस्तोगी की ओर आकर्षित होते देखकर बौखला उठती है और रमा से ईर्ष्या करने लगती है। इसी प्रकार वह सुरेश के व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाती है और रागिणी के साथ उसे एकान्त में देखकर जल उठती है। सुशीला मित्रता के प्रति भी सजग है और वह अपनी सहेली को लिखती है, 'तुमसे अपना मन कभी भी नहीं छुपाऊंगी। हर बात लिखूंगी। जीत भी, हार भी।' 'अन्ततः वह अपने कार्य से प्रभावित कर राज को स्वाभिमानी बना देती है यही उसके जीवन की सबसे बडी सफलता है।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक चेहरे उभरते हैं, जो मनुष्य के अनेक रूपों को उद्‌घाटित करते है। सामाजिक विसगतियों को प्रकट करते हैं। राज ऐसे सरकारी पदाधिकारियों का प्रतिनिधित्व करता है, जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए नैतिकता का बलिदान कर देते है। राज के अतिरिक्त डॉ० निमोलिया, शिवपुरी, सुरेश, कटारा आदि प्रमुख पुरुष पात्र हैं, जो अपनी व्यक्तिगत चेतनाओं के साथ बहुत जीवित रूप में उभरते है।

शिल्प की दृष्टि से यह अत्यन्त साधारण उपन्यास बन पाया है। पात्रानुकूल भाषा बनाने के प्रलोभन में पडकर लेखक ने अंग्रेजी शब्दों की भरमार कर दी है, जिसके कारण उपन्यास में नीरसता आ गई है। व्यंग्यात्मक एव चुस्त शैली का प्रयोगकर लेखक ने उपन्यास को रोचक बनाने का प्रयास किया है और उसे सफलता मिली है। हास्य-पुटों का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि 'छोटी सी बात' उपन्यास लेखक का एक नया प्रयोग है। कलात्मक प्रौढता के कारण ही पत्र-शैली का सफल निर्वाह हो पाया है। पत्रों से विचारधाराएँ भी स्पष्ट हो गयी है और पात्रों के व्यक्तित्व पर यथेष्ट प्रकाश पड़ गया है।

पापी

पापी : १९६० डॉ० रांगेय राघव का एक मौलिक सामाजिक लघुउपन्यास है। इसका कथानक आगरा के निकट के गॉंव बरौठा के अंचल पर आधारित है इसमें लेखक ने अंचल के जीवन के नानावर्णी चित्रों को उरेहा है, जिससे भारतीय ग्राम्य-जीवन बोल उठा है। इस कृति में जहाँ भारतीय जन-जीवन की शुभ्रता प्रतिबिंबित होती है, वहीं दूसरी ओर ग्राम्य-जीवन की धूमिलता और मटमैलापन भी दिखायी पड़ता है। जिस सूक्ष्म दृष्टि से उन्होंने अपने परिचित ग्राम्य-जीवन का चित्र अंकित किया है, वह आज के लेखकों में बेजोड़ है। बड़ी गहरी अनुभूति एवं आत्मीयता से लेखक ने इस जीवन के अश्रु और हास, कर्कशता एवं मधुरता, सरलता तथा वक्रता को अपनी रचना में संजोया है।

उपन्यास का कथानक अत्यन्त सपाट है। आदि से अन्त तक कथा में समान गति है, जिससे रोचकता बढ गई है। छः भागों में विभक्त इस उपन्यास का केन्द्रवर्ती पुरुष है किशनलाल, जिसके व्यक्तित्व से सम्पूर्ण घटनाएँ सम्बद्ध है। वह एक ऐसा व्यक्ति है, जो अपनी सारी व्यक्तिगत-सामाजिक बुराइयों के बावजूद समाज का सबसे सुखी और सफल व्यक्ति है। उपन्यास का रूढ़, भोला-भाला किसान न होकर वह ऐसा हरफ़न मौला

१ वही पृ० ६५।

हे जो धोखा देने में गजब की हद तक माहिर और इससे भी बड़ी बात यह है कि अन्त तक वह अपने असली चेहरे को ढंककर रख सका है। वह हाकिम सिंह, रूपनारायन, शिवलाल, चमेली, सौमौती आदि सभी पात्रों को ठगकर अपनी माया के जाल में फँसा लेता है। इन कुकृत्यों के पश्चात् भी उसकी प्रतिष्ठा निरन्तर बढती जाती है। मदन की बहू प्रेमी कहती है कि किसनलाल मनुष्य नहीं देवता है। चमेली कहती है, वह स्वयं भगवान् है। जावित्री कहती है वह तो भोलानाथ है' और सौमौती कहती है कि वह तो भगवान् शिव है, जिन्होंने दूसरों के लिए जहर पी लिया था·····चार औरतें एक स्वर में बोलती है, तो सारे गाव की स्त्रियां कहती है··लोग बाग अपने लड़कों से कहते हैं, इधर-उधर डोलकर वखत मत विगाड़ो। जब भगवान् ने ऐसा आदमी दिया है तो उससे कुछ सीखो।"[1] इस कृति में लेखक ने किसनलाल के माध्यम से इस सत्यको स्थपित करने का प्रयास किया है कि समाज में चरित्रहीन, बेईमान, धूर्त, स्वार्थी व्यक्तियों की प्रगति होती है और वे ही समाज में पूजे जाते हैं। सज्जन व्यक्ति राम लाल आदि की भांति टूट जाता है और जीवन भर कष्ट में ही करवटें बदलता है। इस प्रकार के व्यक्ति समाज में सुलभ है, इसलिए कथा की विश्वसनीयता को आंच नहीं लगती। इस उपन्यास में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि व्यभिचारी और नैतिक मानव मूल्यों मे हीन व्यक्ति ही समाज का सबसे सफल व्यक्ति है और समाज का उससे भी बड़ा व्यंगय यह है कि वही व्यक्ति समाज का आदर्श व्यक्ति भी समझा जाता है।'[2] इस प्रकार सम्पूर्ण उपन्यास व्यंग्य से भरा पड़ा है।

आलाच्य कृति में ग्रामीण-जीवन की कतपय प्रमुख समस्याओं को भी उभारने का प्रयास किया गया है। इनमें जातिवाद, घूसखोरी, मुकदमा, दहेज, अधविश्वास आदि मुख्य है। इसमें सन्देह नहीं कि गॉव कीआत्मा जातिवाद के आधार पर टूट रही है। किसनलाल, बदनी, मदनलाल आदि बार-बार अपनी जाति की दुहाई[3] देते हुए दिखायी पड़ते हैं। किन्तु इस उपन्यास में समस्याओं की चर्चा ही हुई है। इसमें समस्याओं को न तो गंभीर स्तर पर उठाया ही गया है और न उनके निर्वाह का ही कोई प्रयास मिलता है।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें गॉव के अनैतिक दुर्बल और अमानवीय पक्ष को ही लिया गया है। सब मिलाकर वे गॉव की एकांगी, तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। जीवन के उदात्त पक्ष से उनका अधिक सम्बन्ध नहीं है। गॉवों में फैले बहुविध व्यभिचार को ही इसमें विस्तार अधिक मिला है।

पात्र

यह चरित्रप्रधान उपन्यास है। इसके पात्र कहीं भी लेखक के स्वर को प्रचारात्मक स्तर नहीं प्रदान करते। इनका जीवन-क्रम इस प्रकार से प्रवाहित होता रहता है कि उनकी समग्रात्मक प्रभावान्वितित से उपन्यासकार का सम्पूर्ण दृष्टिकोण व्यंजित हो जाता है। इसके लिए लेखक उन्हें व्यक्तित्व की स्वाधीनता प्रदान करता है। ये पात्र जीवन के प्रवाह में बहते दिखायी पड़ते है और इस तरह अपना रूप भी व्यंजित करते चलते है।

बत्तीस वर्षीय युवक किसनलाल इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है। वह भोले-भाले चरित्रवान किसानों से नितांत भिन्न है। वह असभ्य, चरित्रहीन, विषयी, वंचक, आचारहीन एवं अति क्रूर है। काम के क्षेत्र में वह किसी भी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को नहीं स्वीकारता। भाभी सौमौती, पद में लगने वाली बहन चमेली के यौवन को लूटता है। वह इतना नीच है कि भावी अनुज बधू प्रेमी तक को भी छेड़ता है। वेश्यागमन [4] उसके लिए सहज बात है। काम के अतिरिक्त वह चोरी और ठगी में माहिर है। बड़ी सफाई से कौधनी को चुराकर बिहारी को फंसा देता है। नकली सोने के आभूषण को बदरी के यहाँ गिरवी रखकर पैसा इकट्ठा कर लेता है। वह इतना धूर्त है कि रूपनारायन की हत्या कर साफ निकल जाता है और शिवलाल को जेल की सजा काटनी पडती है। आश्चर्य है कि सर्वत्र उसकी जीत है। इससे भी बढ़कर आश्चर्य यह है कि इतने पतित पात्र को भी श्री सुरेश सिन्हा ने श्रेष्ठ बताया है। उनका कहना है कि 'वह गांव वालों की भलाई के लिए अनेक कार्य करता है। उसके हृदय में सेवा भाव है, उदारता है और सहृदयता है'।[5] इस प्रकार किसनलाल समाज के ऐसे व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है, जो अपनी कुनीतियों को छिपाकर ढोंग से समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं।

उपन्यास का दूसरा चर्चित पात्र रूपनारायन है, जो चरित्रभ्रष्ट और मूर्ख है। अपनी अल्पबुद्धि के कारण

---

१. पानी, पृ० ११०।

२. श्री मधुरेश : आलोचना ३१, जुलाई १९६४ पृ० ३८।

३. पानी, पृ० ४७-५१।

४ पानी पृ० २३

डा० सुरेश सिन्हा हिन्दी उद्भव और विकास पृ० ४१७

हा वह किसनलाल का शिष्य बनकर ठाकुर के यहा जाता है। छल-कपट और विश्वासघात में वह अपने मित्र किसन के निकट है। ठाकुर की पत्नी से तुरन्त अपना मांसल सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। जावित्री के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने में उसकी हत्या हो जाती है। किसनलाल और रूपनरायन के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्रों में रामलाल, मदनलाल, शिवलाल, मास्टर आलूबुखारा, मंगल, बदरी, केदारनाथ, ठाकुर हाकिम सिंह आदि मुख्य हैं, किन्तु ये सभी बड़े ही दुर्बल पात्र हैं।

नारी-पात्रों में जावित्री, सौमौती, चमेली, प्रेम, ठकुराइन आदि मुख्य हैं। जावित्री किसनलाल की पत्नी है। वन्ध्या होने के कारण वह बच्चे के लिए मनौतियां मानती है और बाबा संन्यासियों के दर्शन करने जाती है। उसमें नारी-सुलभ दुर्बलताए अधिक हैं। वह अपने पति को लेकर परिवार से अलग हो जाना चाहती है। गर्भवती सौमौती से वह ईर्ष्या करती है। उसका चरित्र भी बड़ा शिथिल है। रूप को अकेले पाकर उसकी गोद में टूट पडती है। उसकी हत्या के पश्चात् वह दयनीय होकर पति की सेवा करती है।

जावित्री के अतिरिक्त सोमोती का चरित्र प्रमुख है। वह सुन्दरी भी है ओर सुखी भी। पति-पुत्र दोनों का सुख उसे प्राप्त है। पति की हत्या के पश्चात् वह निःसहाय होकर किसनलाल का सहारा लेती है। वह किसनलाल के फंदे में पड़कर मृत पति से घृणा करने लगती है और उसे पूर्ण समर्पण कर देती है। इस उपन्यास के सभी नारी-पात्र अत्यन्त साधारण हैं। उनमें गांव की नारियों की सामान्य विशेषताएं व्याप्त हैं।

शिल्प

'पापी' में वर्णन के साथ कथोपकथन भी समुचित मात्रा में आये हैं। ये कथोपकथन भाव और शैली दोनों दृष्टि से पात्रानुकूल[1] हैं, अतएव चरित्र प्रकाशक हैं। इसके अतिरिक्त कथा को अग्रसर करने वाले और उसके भावात्मक वातावरण के अनुकूल काव्य भी हैं। देशज शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है। कहावतों[2] को अधिकता के कारण भाषा की स्वाभाविकता बढ़ गयी है। व्यंग्य-प्रहार से पाखण्डियों की खबर ली गयी है। शैली और कथ्य दोनों व्यंगात्मक है।[3] सारतः शैली ने विषयाभिव्यक्ति तथा वातावरण-निर्माण में विशेष योग दिया है और इसका अपना पृथक सौन्दर्य भी है।

यह उपन्यास कथावस्तु की अन्विति (यूनिटी आफ प्लाट) चरित्र-चित्रण की सजीवता, सामाजिक चित्रण की जागरूकता और स्पष्टता तथा भाषा-शैली की परिपक्वता का श्रेष्ठ नमूना है।

दायरे

'दायरे' : १९६१ डॉ० रांगेय राघव की छोटी, परन्तु विचारपूर्ण सशक्त औपन्यासिक कृति है। इस उपन्यास में लेखक ने सामाजिक विकृतियों का यथार्थ तथा सजीव चित्र प्रस्तुत किय है और वादों से मुक्त एक स्वस्थ मानव-समाज के निर्माण की कल्पना की है। उपन्यास सत्यदेव की आपबीती पर आधारित है, जो वह अपने मित्र भटनागर को सुनाता है। कथा को अधिक आकर्षक बनाने के लिए कट्‌ली के अतीत जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओं का भी आकलन किया गया है। उपन्यास का कथानक आदि से अन्त तक आकर्षक,सुगठित एवं गतिमान है।

आलोच्य उपन्यास में लेखक ने मानव सभ्यता और संस्कृति के एकात्मस्वरूप का चित्रण किया है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और वैभव की बलवती स्पृहा के कारण मानवता को पैरों तले कुचल डालता है। इसके अतिरिक्त यह धर्म विशेष के सीमित क्षेत्रों में आबद्ध होकर अमानवीय कार्य करने लगता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए सत्यदेव ने रोजालिण्ड सिंह से कहा-"नहीं रोज जितने भी लोग किसी की बात ऑख मूंदकर मानते है, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, सिख, कम्युनिस्ट आदि सब ही मतों के पीछे चलने वाले लोग सीमित दायरों के मनुष्य होते है, क्योंकि वे अपने गुरु की न कही हुई बात को नहीं समझते, वे तो उसकी कही हुई बात को भी नहीं वे अंधे और जाहिल होते हैं। जड़ होते हैं। -इन दायरों से पार होकर देखो, आगे देखो, मनुष्य केवल मनुष्य है। जो इसे स्वीकार नहीं करता वही असली, असभ्य और असली बर्बर है।[4] इस विचार-भेद का परिणाम हिंसा, वर्गगत संघर्ष, सम्प्रदायगत विद्वेष, युद्ध और पारस्परिक घृणा आदि का भाव है। इसलिए लेखक विश्व हित के लिए एक सामंजस्यकारी एकता मूलक संस्कृति की कामना करता हुआ सत्यदेव के माध्

---

१ पापी, पृ० ५, ५४, ८१।

२ वही, पृ० ८, २४, २८, ६१, ८०, ८१, ८४।

३ श्री मधुरेश आलोचना ३१ जुलाई १९६४ पृ० ३८

४ दायरे पृ० १६

यम से कहता है-संस्कृति की जड़ है आत्मविश्वास। अब पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों के दिन लद गये फादर। अब तो सारे संसार को एक ही संस्कृति की आवश्यकता है। वह दिन आयेगा जब धर्म, सभ्यता और न जाने ऐसे कितने-कितने भेद सदा के लिए मिट जायेंगे।[१]

दायरे उपन्यास में लेखक ने भारतीय संस्कृति की उदात्तता का चित्र विशेष रूप से खींचा है। समन्वयकारिणी वृत्ति भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता है। इसमें विभिन्न वर्ग, धर्म एव विभिन्न जातिगत मान्यताओं का एकीकरण हुआ है। भेद में अभेद की स्थापना करके मानव के सही रूप का निखार करना भारतीय चिंतन का प्रमुख पक्ष रहा है। रोज के भ्रमों का निवारण करते हुए सत्यदेव ने इस देश की संस्कृति की विशेषताओं को व्यक्त किया है, 'आप नहीं जानती कि इस देश की असली परम्परा तो यही है कि इसने हरएक पुरूष का सम्मान किया है, इसने परमात्मा के मानने वाले न मानने वाले, इस तरह के सज्जन और पवित्र व्यक्ति का सम्मान किया है। अगर इस्लाम और ईसाई मत के पीछे तलवारें न होती तो शायद मुहम्मद और ईसा भी भारत के महापुरुषों और सन्तों में गिन लिये जाते।[२] इस प्रकार इस कृति में लेखक का यह दृष्टिकोण मानवतावादी है, जो आशा का संचार करता है और आदर्श की नवीन प्रतिमाओं की स्थापना करता हुआ मूल-मर्यादा युक्त जीवन जीने पर बल देता है।[३]

'दायरे' में लेखक ने अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं को उद्घाटित किया है। भारतीय समाज में विदेशीपन के अनुकरण की विकृति पाश्चात्य प्रभाव, अपने धर्म और भाषा के प्रति उदासीनता आदि विषयों पर लेखक ने यथार्थ रूप से प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त मंत्रियों ,नेताओं और पदाधिकारियों की समही नीतियों का भी पर्दाफाश किया गया है। आज घूस लेना आवश्यक-सा हो गया है। मार्केटिंग आफिसर कट्ली सत्यदेव से कहता है- साली रिश्वत न ली तो आफत।बात यह है कि सब लेते हैं।[४] 'औसत मिनिस्टर लेता है, सेक्रेटरी लेते हैं, इसलिए सबको लेनी पड़ती है। मै न लूँ तो मेरे ऊपर वालों की रसद बन्द हो जाये, लिहाजा मैं मारा जाऊं।'[५] छुआछूत[५] की विकट समस्या को भी उठाया गया है और उसके समाधान की ओर संकेत किया गया है।

आलोच्य कृति में डॉ० रांगेय राघव ने नारी-समस्या को उपस्थित किया है। उपन्यास में उपेक्षित, उत्पीडित शोषित और समाज द्वारा तिरस्कृत मिसेज सिंह अनेक अविवाहित माताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो पुरूषों की वासना का एक बार शिकार होकर अपने जीवन भर भटकती रहती है। उनको लोग कलंकिनी, व्यभिचारिणी और कुलटा समझते हैं। इसलिए लेखक ने नारी-पुरुष के सेक्स पर आधारित प्रेम की निन्दा की है। वह सेक्स को ही नारी की परतंत्रता का मूल कारण मानता है। नारी की स्वतन्त्रता को श्रेयस्कर मानते हुए सत्यदेव ने कहा, "हे भगवान! वह दिन कब आएगा जब स्त्री स्वतंत्र होगी और पुरुष से होड़ बदने की जगह प्रेम करेगी। जब पति के नाम को वह ढोये-ढोये फिरना छोड़ देगी और संसार में सारे बच्चे अपने बच्चे की तरह प्यारे लगेंगे।[६]" इसके अतिरिक्त जारज संतानों की भी समस्या अत्यन्त विकट होती है। वे निर्दोष बालक अपने माता-पिता के अपराधों के कारण दण्डित किये जाते हैं। पादरी स्कूल के प्रधानाचार्य आर्नल्ड के वैधानिक पिता न होने के कारण कहते हैं, "नाजायज औलाद! यहाँ अनाथ पढ़ते हैं, पर ऐसे पाप के बच्चे नहीं......[७]।" आर्नल्ड के साथ हुए इस अन्याय का उत्तर सत्यदेव ने अपने त्याग और अपनी संवेदना के द्वारा दिया। सत्यदेव संकीर्ण दायरे से ऊपर उठकर बच्चों विषय में मिसेज सिंह से कहने लगा, "वैज्ञानिक सत्य यह है कि हर बच्चा किसी बाप के कारण किसी माँ से होता है, लिहाजा जायज-नाजयज का सवाल गलत है। परमात्मा की दृष्टि में जो जन्म लेता है वह परमात्मा का है, इसलिए उसे जन्म लेने के कारण ही दण्ड नहीं दिया जा सकता। अतः यह बात ही अनुचित है कि नाजायज कहकर उसे जिन्दगी भर सताया जाये। अगर दण्ड दिया जाता है तो माँ-बाप को दिया जाय[८]।"

---

१. वही पृ० १२३।
२. दायरे, पृ० १७।
३. डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास, उद्भव और विकास पृ० ४९८।
४. दायरे, पृ० ७०।
५. वही, पृ० २३, ३६।
६ दायरे पृ० १२४
७ वही पृ० ११४।   *८ दायरे पृ० ११*

पात्र

पात्रों की सम्यक् योजना में डा० रांगेय राघव पर्याप्त सफल हुए है। इस लघु उपन्यास के उद्देश्य का व्यापकता के कारण बहुसंख्यक पात्र लाये गये हैं। ये भिन्न देशीय एवं भिन्न धर्मावलम्बी हिन्दू, ईसाई, ऐंग्लो-इंडियन तथा यूरोपियन-सभी प्रकार के पात्र हैं।कुछ असहाय पात्रों के प्रसंग इसलिए लाये गये ज्ञात पड़ते हैं कि इस वर्ग में अपेक्षाकृत अधिक मानवता दिखायी जा सके। इसकी तुलना में उच्च पदाधिकारियों का स्वंग्यात्मक चित्रण हुआ है।

इक्तीस वर्ष का अविवाहित युवक सत्यदेव इस उपन्यास का प्रमुख पुरुष पात्र है। उसके प्रत्येक कार्य और कथन में मानवता का गौरव अन्तर्निहित है। वह विरोध में समर्थन, अनेकता में एकता एवं घृणा में प्रेम की स्थापना का प्रयास करता है। वह समस्त मतवादों एवं वर्गों से ऊपर है। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मिसेज सिंह कहती हैं, "क्या दुनिया में आप जैसे पुरुष रहते हैं। तब तो मुझे अपनी राय बदलनी होगी। मिस्टर सत्यदेव! क्राइस्ट पुरुष था। मैं पुरुषों से घबराती थी। नहीं, सब पुरुष बुरे नहीं होते। आप एक बहुत बड़े आदमी है, बहुत बड़े[१]।" आर्नल्ड के साथ हुए अन्याय का अपने त्याग द्वारा उत्तर देकर सत्यदेव ने अन्याय पर न्याय की ओर पशुता पर मानवता की विजय अंकित कर दी। आत्मसंयम की भावना सत्यदेव में इतनी प्रबल है कि वह एकान्त में मिसेज सिंह से बात करते समय रंचमात्र भी असंयमित नहीं होता। उसके इस अद्भुत चरित्र को देखकर मिसेज सिंह ने कहा, "लेकिन आपमें मैंने एक बात पायी कि आप इतनी देर बैठे। अविवाहित हैं, फिर भी यह नहीं पाया कि कभी आपने मुझे कनखियों से देखा हो। अकेली स्त्री पुरुष के लिए खिलौना होती है[२]।" सत्यदेव के मानवीय व्यवहार से प्रभावित होकर फादर तोलियाती उसके साथ ही रोज के घर चला आया। सत्यदेव का मिसेज सिंह से विवाह-प्रस्ताव अत्यन्त मानवीय था, क्योंकि उसमें स्वार्थ, वासना, कुण्ठा अथवा किसी प्रकार के विकार का कोई भाव नहीं था।

उपन्यास का दूसरा मानवतावादी पुरुष पात्र फादर तोलियाती है। वह इटली-निवासी इस विचित्र देश को देखने आया था।[३] सर्वकल्याण 'सर्वः समदर्शिनः' ही उसका जीवन-दर्शन था। दीर्घकालीन अनुभव और स्वच्छ अनुभूति से संपुष्ट उसका व्यक्तित्व अत्यन्त विशाल था। फादर तोलियाती के अतिरिक्त इस उपन्यास में कट्ली, जोरावर सिंह, अरोड़ा, रूपचंद, आर्नल्ड, मैथ्यू, क्रिस्टोफर एवं हरी सिंह आदि प्रमुख पुरुष पात्र है, किन्तु इन्हें उपन्यास में विशेष स्थान नहीं मिला है।

नारी-पात्रों में श्रीमती रोजालिण्ड सिंह का स्थान सर्वोच्च है। लेखक ने अपने पाठकों के सम्मुख रोजा को विभिन्न परिस्थितियों में प्रस्तुत कर अपनी मानवतावादी विचार-धारा को व्यक्त करने का यत्न किया है। वह एक अल्हड़ युवती डाक्टर सिंह की विलासिता में फँसकर अपने जीवन के साथ खिलवाड़ कर बैठी। गर्भवती होने पर वह डा० सिंह की पत्नी एवं उनके बच्चों के सुखमय भविष्य के लिए अपने सुख पर लात मारकर एक सती-साध्वी नारी का जीवन व्यतीत करने लगी। अपने 'मिसेज' बन जाने के रहस्य को उद्घाटित करती हुई उसने सत्यदेव से कहा-'उस आदमी ने मुझे धोखा दिया था कि वह मुझसे शादी कर लेगा। मै उसी के घृणित नाम को अपनी इज्जत का रखवाला बनाये फिरती हूँ। ---मैं उस नीच का नाम अपने मुर्दे की कफनी की तरह ओढ़े हूँ।[४]" सत्यदेव जैसे धर्मनिरपेक्ष एवं मानवधर्म में निष्ठा रखनेवाले व्यक्ति ने रोजा को समुचित आदर दिया। सत्यदेव के विवाह प्रस्ताव पर फादर तोलियाती ने दोनों को पवित्र बन्धन में बँधने के लिए कहा। इस पर रोजा ने सत्यदेव के प्रति कृतज्ञता का भाव स्पष्ट करते हुए कहा--विवाह!मैं गिरजे में जाऊँगी अब। विवाह करने! कैसे मान लिया आपने फादर ! और इस निष्पाप पुरुष को, जो कि संसार के सब धर्मो के ऊपर है, मै फिर हिन्दू और ईसाई के छोटे बन्धनों में बँधने के लिए कहूँ?[५]' यहीं वह समस्त संकीर्ण दायरों से ऊपर उठकर सत्यदेव से कहती है-'अकेली क्यों हूँ मैं? तुम मेरे साथ हो। फादर हैं। कल आर्नल्ड होगा। यह एक परिवारहै, असली परिवार। इसमें रिश्तेदारी, नातेदारी नहीं, लेकिन मनुष्य और मनुष्य का सम्बन्ध है।[६]'

---

१ *वही, पृ० ११।*
२ *वही, पृ०५५।*
३ *वही, पृ० ३५।*
४ *दायरे, पृ० ८६।*
५ *वही पृ० १२२।*
६ *वही पृ० १२३।*

शिल्प

इस उपन्यास में डॉ० रांगेय राघव की भाषा-शैली उनकी यथार्थवादिता से अनुशासित है। विषय और शैली में सामंजस्य, प्रसंगानुकूल शैली की परिवर्तनशील अभिव्यक्ति-क्षमता इस शैली की विशिष्टता है। अरबी, फारसी, अंग्रेजी, एवं पंजाबी शब्दों की बहुलता है, किन्तु इनका प्रयोग पात्रानुकूल भाषा के लिए ही किया गया है। सरदार जोरावर सिंह सत्यदेव से बात करते समय कहने लगा-'ओये बादशा! भला इसमें क्या बात है जी। हमारा हक्क नहीं है कुछ? एक दिन भी नहीं पिला सकते? इतना ग्रीव समझ लिया है जी! फिर भी दया रहे, ऐसा दिन बार-बार आए[१]।' व्यंगयात्मक शैली के कारण रोचकता अधिक आ गयी है। उपन्यास को आकर्षक बनाने के लिए लेखक ने चलचित्रों के गानों की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। जैसे-

इक डाल के दो पंछी
हम हैं सदा के संगी
हम तुम, तुम हम.....[२]

समग्र विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि 'दायरे' एक सास्कृतिक, चरित्रप्रधान लघु उपन्यास है।'सत्यदेव और फादर तोलियाती के रूप में डॉ० रांगेय राघव ने भारतीय संस्कृति के दो अमर पात्र हमें प्रदान किए हैं। जब तक दुनिया में मानव-सभ्यता और संस्कृति के चिन्ह शेष रहेंगे, तक तक डॉ० रांगेय राघव और उनके ये दो पात्र अमर रहेंगे।[३]'

आग की प्यास

आग की प्यास :१९६१ डॉ० रांगेय राघव का एक चरित्र-प्रधान छोटा-सा उपन्यास है। उपन्यास के सामाजिक धरातल का ढाँचा मुख्यतः मध्यवर्गीय समाज के रुढ़ आदर्शो संस्कारों तथा बढ़ती हुई यौन-अतृप्ति के आपसी संघर्षों से उत्पन्न समस्याओं एवं पूँजीवादी अनैतिकता पर आधारित है। कथा की पृष्ठभूमि ग्रामीण कथा-वर्णन तथा प्रसंगचयन में लेखक ने यथार्थवादी साधनों का प्रचुर प्रयोग किया है। कथानक अत्यन्त सीधा एवं आकर्षक है जो सोलह भागों में विभक्त है।

लेखक ने उपन्यास के आरम्भ-अन्त पर विशेष दृष्टि रखी है। इसके लिए उपन्यास के आरम्भ में वस्तु-निर्देशात्मक एवं उत्कुसता-उद्बोधक रोमांचक घटना रखी है! लेखक ने घोर वर्षा के समय बौहरे की घटना को आरम्भ में रखकर धन-मादकता वाली प्रकृति का ज्ञान करा दिया है। पाठकों की भावनाओं को स्पंदित करने के लिये लेखक प्रायः अपनी रचना में हृदय-विदारक तत्व का समावेश किया करते है। इस उपन्यास की विषय-प्रकृति ही ऐसी है कि यहाँ सहजरूप में इस तत्व का विशेष सन्निवेश हुआ है। यहाँ मध्यवर्ग की विषम स्थिति-जन्म करुण मार्मिकता की सृष्टि करने वाली अनेक घटनाएँ हैं। अन्ततः उपन्यास दुःखान्त हो गया है। माधोराम की हत्या के पश्चात् ही बौहरे, शकुन्तला एवं नारायणी की भी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र अन्त तक मर जाते हैं।

इस लघु उपन्यास में ग्राम्य जीवन की विभिन्न समस्याओं, ग्रामवासियों के सुख-दुःख नवीन परिस्थितियाँ तथा परिवर्तित जीवन का यर्थाथ चित्रण करने का प्रयत्न किया गया है। लघु आकार होने के कारण लेखक ने समस्याओं की गणना ही की है, इससे उपन्यास की गरिमा को गहरा आघात लगा है। उद्देश्य की दृष्टि से 'पराया' और इस उपन्यास में पर्याप्त समता है। इसमें भी पूँजीवादी प्रवृत्ति का तीखा चित्र प्रस्तुत किया गया है। धन-सग्रह की प्रवृत्ति सत्य-असत्य, उचित-अनुचित की सीमा-रेखा समाप्त कर जीवन में अशांति उत्पन्न कर देती है उस क्षण आदमी नहीं रह जाता, वह धन का नियामक नहीं, धन ही उसका नियामक हो जाता है। 'पराया' के रमेश की भाँति इस उपन्यास का प्रमुख पात्र लगनलाल नारायणी से कहता है, "तेरे पास मै धन के जरये ही पहुँच सकता था। इसीलिये मैंने धन कमाया और तेरे पास आ गया।[४] आदर्शवादी माधो भी कंचन की भभक से न बच सका और उसके लिए अपने प्राण को गँवा दिया: इसके अतिरिक्त लेखक ने अनेक ग्रामीण समस्याओं की ओर संकेत किया है। झूठी सामाजिक मर्यादाओं के भँवर में पड़कर अनेक कृषक अपने जीवन को विषाक्त बना देते हैं। माधो भी अपनी लड़कियों के विवाह के खर्च के कारण ही कर्ज की चट्टान के नीचे दब गया।[५]

---

१. वही, पृ० १०१।

२. वही, पृ० ४५।

३. साहित्य संदेश : जनवरी-फरवरी १९६३, पृ० ३००।

४ आग की प्यास पृ० १४१।

५ आग की प्यास पृ० १३

धार्मिक अन्धविश्वास के कारण भी कृषकों की उन्नति में बाधा पड रही है इसके साथ ही लेखक ने ग्रामसेवक आदि पदाधिकारियों के अनैतिक कार्यों कीओर भी संकेत किया है।

ग्रामीण समस्याओं के अनन्तर लेखक ने विभिन्न राजनीतिक दलों के दाँप-पेंचों की चर्चा की है। भ्रष्टाचार आदि के सम्बन्ध में सांकेतिक शैली अपनाया है। लेखक ने कम्युनिस्ट, कांग्रेस एवं विनाबा भावे के सिद्धान्तों की आलोचना की है किन्तु स्वयं किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है।

चरित्र

यह चरित्र-प्रधान उपन्यास है। मगनलाल, रामदास, माधोराम, नारायनी, दुर्गा एवं शकुन्तला इसके प्रमुख पात्र हैं, मनमोहन, ठाकुर नारायान सिंह, पंडित लच्छीराम, रूप सिंह, दयानन्द, हिरदेराम, राधारमण, विरजानन्द आदि गौण पात्र। नागल का बौहरा लगनलाल धन-लोलुप व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। उसके जीवन की साधना केवल धन के लिए ही होता है। वह अपने जीवन-दर्शन को व्यक्त करता हुआ रामदास से कहता है-'रामदास! लोग व्याह करते हैं, मौज करते है। फिर वच्चे पैदा होते हैं। फिर वच्चों का आड़ बनाकर उनकी दुहाई देते हैं। लेकिन सबसे बड़ा इस जगत में रूपया ही है राम।'[१] पारिवारिक समस्त बन्धनों से मुक्त बौहरा रात-दिन धनके लिए दौड़ता है। वह स्वार्थी और निष्ठुर है। बछड़े को मारकर रामदास को बदनाम करना, माधो की हत्याकर नारायनी को फँसा देना उसके लिये सहज खेल है। स्वार्थ के लिए वह बड़ा अन्याय कर सकता है। इन्हीं कुकृत्यों के कारण उसकी हत्या हो जाती है।

रामदास उपन्यास का एक आदर्श पात्र है। वह स्वभाव से संघर्षशील, स्वाभिमानी और निर्भय है। आत्म-संयम की भावना उसके चरित्र का विशिष्ट गुण है। बछड़े की हत्या का झूठा आरोप लगने पर भी वह अपना संयम नहीं खोता। परोपकार की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है। बीमारी के समय वह निःस्वार्थ भाव से लोगों की सेवा करता है। वह जिन गुणों के साथ उपन्यास में पदार्पण करता है, वे गुण उपन्यास के अन्त तक उसमें बने रहते हैं। उसका चरित्र-चित्रण बहिर्मुखी अधिक है। लेखक ने उसके अन्तर का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं किया है। पुरुष-पात्रों में लेखक की सबसे अधिक सहानुभूति रामदास के साथ है। माधोराम एक दुर्बल पात्र है। परिस्थितियों के साथ जूझने की शक्ति उसमें नहीं थी। बौहरे के बहकावे में आकर वह चोरी भी करने लगता है और स्वार्थी भी बन जाता है। स्वार्थ के कारण ही उसकी हत्या हो जाती है।

'आग की प्यास' में पुरुष पात्रोंकी अपेक्षा नारी पात्रों के निर्माण में लेखक को अधिक सफलता मिली है और ये नारी पात्र अधिक मनोवैज्ञानिक और यथार्थ हैं।

नारायनी, पण्डित लच्छीराम की पुत्री एवं माधोराम की विवाहिता पत्नी है। उसका चरित्र एक दृढ़, साहसी और कर्मठ ग्राम-नारी का है। परिवार की गाड़ी को वह अपनी व्यवहार-कुशलता से आर्थिक शोषण और सामाजिक रूढ़ियों के दलदल में भी खींचती है। पति के शव को देखते ही वह आत्महत्या करने के लिए तैयार हो जाती है, किन्तु बौहरे के कारण बच जाती है। बौहरे की कामुकता से अवगत होने पर वह उससे घृणा करने लगती है। नारायनी से मिलता-जुलता चरित्र दुर्गा का भी है। रामदास की पत्नी दुर्गा अत्यन्त सती-साध्वी नारी है। वह पति सेवा को ही अपना सर्वस्व समझती है। नारायनी ने जो क्रमिक विकास दिखाया है वह पूर्ण मनोवैज्ञानिक और यथार्थ पर आधारित है और ऐसा जीवन में होता भी है। वह अन्त मे अपने पिता के हत्यारे बौहरे की हत्या कर स्वयं डूबकर मर जाती है।

इस उपन्यास में लेखक की सामान्य वर्णन-शैली व्यावहारिक है, किन्तु प्रकृति के दृश्य-चित्रण में काव्योचित सौंदर्य उल्लेखनीय है।[२] इसमें संवाद तत्व का समुचित विनियोग हुआ है। इसमें अरबी-फारसी तथा तद्भव एवं लोक-शब्दों, सतियागरह, सुस्सर, पिरभू आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे भाषा कहीं भी बोझिल और दुरूह नहीं हुई है। सर्वत्र एक सरल-तरल प्रवाह लक्षित होता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'आग की प्यास' एक सफल सामाजिक उपन्यास है, जिसमें अभावों से जलते जीवन का यथार्थवादी चित्रण हुआ है। इसमें कला का प्रदर्शन नहीं है, अभिव्यक्ति मात्र है।

कल्पना

'कल्पना आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया डॉ० रांगेय राघव का एक लघुकाय सामाजिक उपन्यास

---

१ वही, पृ० ३३।

२ वही- पृ० ११।

३ आग की प्यास पृ० ३ ४ ५

है। इस उपन्यास का कथानक नीला, कल्पना, अवदातिका, बकुलावलिका तथा विदा नामक पांच अध्यायों में विभक्त है। 'नीला' तथा 'विदा' इन दो अध्यायों में आधुनिक समाज का यथार्थ चित्रप्रस्तुत किया गया है। शेष तीन अध्यायों में लेखक पात्रों के माध्यम से पाठक को इतिहास में घुमाता है और जीवन की मार्मिकताओं का उभारकर सामने ले आता है। इसके कथा-संगठन में लेखक ने विशेष कुशलता प्रदर्शित की है, जिससे उपन्यास में तीव्र गति और प्रवाह है[१]। इसका सम्पूर्ण कथानक नायक की स्मृतियो और कल्पनाओं पर आधारित है। उपन्यास का आरम्भ आत्मवृत्तात्मक शैली में हुआ है। इसमें नायक उत्तम पुरुष में अत्यन्त सरल-सीधी विधि से कहानी का आरम्भ करता है-'यों ही जो इतने कामधंधे है। उनके बीच ढेर सारे पत्रों से मुझे ये कितने अजीब चार पत्र मिल गये हैं कि मेरा सारा काम चौपट हो गया है। '[२] 'उसने न कोई भूमिका बांधी है, न कथा-काल-विपर्यय का कौशल प्रदर्शित किया है।

उपन्यास का कथानक आदि से अन्त तक अत्यन्त कलात्मक है। यह नाटकीय स्फूर्तियो एवं साहसिक कार्यों से पूर्ण है। लोक शास्त्र का सम्यक् ज्ञान होने के कारण औचित्य की रक्षा बराबर हुई है। लेखक ने अतीत एवं वर्तमान के समाज का चित्र प्रस्तुत करते समय शाश्वत सत्य को पकड़ा है। कथा एक विशिष्ट क्रम और सगति से संगठित है।

कथानक की सरलता तथा समृद्धि में प्रभावपूर्ण तथा मार्मिक स्थलों का अनिवार्य योग रहता है। इस उपन्यास में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जो रसोद्रेक करने में पूर्ण समर्थ हैं। जैसे नीला के पति डाक्टर का निर्मला से सम्बन्ध , यक्षिणी का विरह-वर्णन तथा अग्निमित्र का प्रेम आदि। उपन्यास के कथानक के सुगठन तथा सौन्दर्यबर्द्धन में सिनेमा की कला से सहायता ली गयी है। अनेक स्थानों पर कथानक के विभिन्न प्रसंग भिन्न-भिन्न बदलते दृश्यों का आभास देते हैं। नायक अपने स्वप्न में ही अतीत के अनेक सुन्दर स्थलों का चित्र देखता है।

'कल्पना' में आधुनिक नारी की समस्या है। लेखक नीला के माध्यम से जीवन के सार्वभौम प्रश्नों को सफलता की अभिव्यक्ति देकर हमारे सम्बन्धों की वास्तविकता पर नया प्रकाश डालता हुआ एक विद्रोही के रूप में प्रकट होता है। उसने इतिहास के आधार पर अपने मत और दृष्टिकोण की पुष्टि की है। समाजकी सबसे विकट समस्या अनमेल विवाह की है। अनेक युवक, युवती सामाजिक रूढ़ियों के शिकार होकर जीवन के आनन्द से वंचित हो जाते हैं। उपन्यास में नीला और डाक्टर के माध्यम से इस समस्या को अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढग से उठाया गया है। डाक्टर समाज के दबाओं मे आकर नीला से विवाह कर लेता है, किन्तु अपना रागात्मक सम्बन्ध प्रेमिका निर्मला से ही रखता है। वह अपने पर थोपी पत्नी नीला से कहता है- मैं कोई पाप नहीं करता। निर्मला भी पाप नहीं करती। स्त्री-पुरुष प्रेम करने को स्वतंत्र हैं। हमको समाज ने किसलिए बांधा है? 'तुम मेरे लिए एक अनजान स्त्री हो। तुमसे मैं प्रेम नहीं कर सकता, वह व्याभिचार होगा'[३]। 'इससे नीला को अत्यन्त मार्मिक पीड़ हुई, किन्तु उसने धैर्य धारण कर डाक्टर से विवाह करने का करण पूछा। डाक्टर ने कहा-

'तुम्हारे पिता ने मेरे पिता को मजबूर किया था।'

'और आपके पिता ने आपको।'

'हाँ।[४]'

नीला एव वकील की उपस्थिति डाक्टर और निर्मला के लिए असह्य होती गयी। अन्ततः समाज से भयभीत होकर दोनों पात्रों ने मिलकर एक होटल में आत्महत्या कर ली[५]। आज भी अनेक युवक-युवतियाँ समाज की रूढ़ियों को तोड़ने में असमर्थ होकर अपनी भावुकता के कारण आत्महत्या कर लेते हैं। लेखक ने अनमेल विवाह के दुष्परिणाम को व्यक्त कर समाज की थोथी मान्यताओं पर गहरा प्रहार किया है और उसमे उसे पूर्ण सफलता मिली है। डॉ० राघव ने विवाह के अतिरिक्त अन्य पारिवारिक समस्याओं की ओर संकेत किया है और उनकी बड़ी ही मनोर्वज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। सास-बहू के बीच कलह के कारणों को व्यक्त करता हुआ नायक कहता है- 'यदि स्त्री आने पर भी पुत्र माता-पिता के साथ रहे, तो नई बहू के अधिकार अपनी सास के सामने कुछ भी नहीं है फिर बहू और सास का झगड़ा चलता है। तब इन दोनों स्त्रियों के अपने-अपने पतियों की सामर्थ्य और धन कमाने की शक्ति पर सब कुछ निर्भर होता है।[६]

---

१ डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास, पृ० ४१८।

२ कल्पना, पृ० ५।

३ कल्पना, पृ० ४०।   ४. वही, पृ० ४०।

५ वही पृ० ४२   ६ वही पृ० १३ १४

लेखक ने आधुनिक नारी समस्या की पुष्टि के लिए अतीत के इतिहास से ऐसे अनेक उद्धरणों का आकलन किया है, जिसमें नारियों के व्यक्तित्व के साथ उपहास हुआ है साथ ही पुरुष की कठोरता की ओर भी स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है।[1] लेखक ने समाज में नारी समस्या को हर पहलू से देखने का प्रयास किया है। चिरकाल से पीड़ित नारी की स्थिति का दिग्दर्शन कराकर लेखक ने समाज की इस कुरूपता पर गहरा प्रहार किया है। नारी-जागरण के युग का लेखका नारीसम्बन्धी समस्याओं की ओर विशेष सजग रहा है। उसने नारी को शक्ति की प्रतिमा और प्रेरणा का स्रोत माना है। नारी-तत्व उत्सर्ग में निहित है। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की , अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है।

लेखक ने नारी-समस्या के अतिरिक्त आज के साहित्यकारों की सामाजिक स्थिति पर भी हल्का-सा प्रकाश डाला है। आज के साहित्यकार अपने कर्तव्य से च्युत होकर विज्ञापन में ही अपने को खपा दे रहे हैं। साथ ही उपन्यासकार ने प्राचीन और वर्तमान के साहित्यकारों की तुलना भी प्रस्तुत की है और उनकी सामाजिक मर्यादाओं की ओर भी संकेत किया है। यद्यपि लेखक के मत से पूर्णतया सहमत होना कठिन है, किन्तु उसे यथार्थ के चित्रण में पर्याप्त सफलता मिली है। इसके अतिरिक्त लेखक ने विभिन्न युगों की राजनीतिक परिस्थितियों पर भी यत्र-तत्र प्रकाश डाला है।

चरित्र

'कल्पना' में लेखक ने पात्रों की अपेक्षा घटनाओं को अधिक महत्व दिया है। यद्यपि इस उपन्यास में पात्रों की भरमार है, पर सभी पात्र दुर्बल हैं, परिस्थितियों के केवल दास हैं। इस कारण उपन्यास समाप्त कर लेने पर नीला और नायक ही याद रह जाते है और वे भी बहुत प्रभाव नहीं डाल पाते। उपन्यासकार की सफलता मुख्य पात्रों के निर्माण के साथ-साथ गौण पात्रों के निर्माण में भी है। पर डॉ० रांगेय राघव इस उपन्यास में गौण पात्रों को सुन्दर रूप में नहीं स्थापित कर पाये हैं। वे छायामात्र है। जिन रेखाओं के आधार पर उनकी अवतारणा हुई है, वे क्षीण हो गयी है।

इस उपन्यास के चरित्र भी व्यक्ति न होकर वर्ग के ही प्रतीक हैं। नीला आधुनिक भारतीय समाज की मध्यवर्गीय पराधीन नारी का प्रतीक है। वह बीस वर्षीया एक सुन्दर सुशिक्षित युवती है। वह अत्यन्त बौद्धिक एवं आत्मसम्मानिनी है। संयम इसमें आकर साकार हुआ है। उसका विवाह एक डॉक्टर के साथ हो गया, किन्तु उसे वैवाहिक सुख नहीं मिल पाता है। उसका पति डॉक्टर दूसरी युवती निर्मला से प्रेम करता है और नीला के प्रति अत्यन्त उदासीन रहता है। नीला में परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढाल लेने की अपूर्व क्षमता है। हर परिस्थिति से वह जूझती है और आगे बढ़ती जाती है। वह भारतीय नारियों का प्रतिनिधित्व करती है। डॉक्टर की उपेक्षा से उसके मन में असीम वेदना उत्पन्न होती है, किन्तु उसे वह किसी से व्यक्त नहीं कर पाती। रात्रि के समय निर्मला को डॉक्टर की बाँहों में देखकर वह कराह उठती है, किन्तु अपने धैर्य का परिचय देती हुई निर्मला से कहती है-'बहुत दूर से आयी हो। सो जाओ। मेरे बिस्तर पर लेट जाओ। जब तुममें इतना आकर्षण है, तब मैं तुम्हारी प्रशंसा ही करूँगी। जितने दिन का यह प्रेम है, उसका आवेश पूरा हो जाने दो, अन्यथा इसका जो भी अंश मेरा है वह भी मेरे हाथ नहीं आ पाएगा।[2] वह अपने भविष्य के प्रति अत्यन्त सतर्क है, इसलिए आवेश में पति को बदनाम नहीं करना चाहती। अपने पति के विषय में केवल निर्मला से कहती है- 'जो पुरुष मुझे उपेक्षित करके तुम्हें ला सकता है, उसका पूरा भरोसा मत करो। संभव है वह समय पर तुम्हें छोड़ दे।[3]' उसके व्यवहार से चकित होकर डॉक्टर सदैव उससे दूर रहने का प्रयास करता है। पति के आत्महत्या कर लेने के पश्चात् नीला अपने दुःख को हल्का करनके लिए नायक को पत्र लिखती है। लेखक ने नीला के रूप में अत्यन्त दयनीय नारी की मूर्ति प्रस्तुत की है।

नीला के अतिरिक्त अन्य नारी पात्रों में राजम, श्रीमती सुन्दरम, निर्मला, आदि मुख्य है। निर्मला को लेखक ने एक दुर्बल एवं चरित्रहीन नारी के रूप में चित्रित किया है। वह प्रेम की भिखारिणी समाज से जूझने में असमर्थ होकर आत्महत्या कर लेती है।

पुरुष पात्रों में नायक, डॉक्टर, सुशील, वकील आदि मुख्य हैं। नायक के चरित्र की रेखाएँ उभर नहीं पायी हैं। वह नीला का परिचित है। दोनों के परस्पर प्रेम[4] होने के पूर्व ही नीला का विवाह हो जाता है। डॉक्टर

---

१ वही, पृ० ९९-१००।

२ कल्पना, पृ० ३१।

३ वही, पृ० ४०।

४. वही, पृ० ८।

एक भावुक युवक है, जो निर्मला के प्रेम-पाश में पड़कर अपने कर्तव्य को भूल जाता हैं। वह इतना भीरु है कि नीला से विवाह के समय विरोध नहीं कर पाता। विवाहोपरांत वह नीला से दूर भागकर अपनी क्षुद्रता का परिचय देता है। लेखक ने उसे इतना दुर्बल व्यक्तित्व दिया है कि वह समाज की रूढ़ियों से लडने से भागता है और अपनी भीरुता के कारण ही आत्महत्या कर लेता है। इसके अतिरिक्त लेखक ने कतिपय ऐतिहासिक पात्रों की भी गणना की है, जिसमें राम, भास, कालीदास, अग्निमित्र आदि प्रमुख है। नायक नीला के पत्रों से विक्षुब्ध होकर उक्त पत्रों के विषय में सोचता हुआ दिखायी पड़ता है। इसलिए इन ऐतिहासिक पात्रों को चरित्र की रेखाएँ नहीं मिल पायी हैं।

शिल्प

डॉ० रांगेय राघव एक उत्कृष्ट शैलीकार है। उपन्यास की सफलता एवं सार्थकता जिन बातों पर निर्भर है, उसमें शैली का विशिष्ट स्थान है। इस उपन्यास की भाषा बड़ी प्रांजल एवं समर्थ है। यह भाषा डॉ० रांगेय राघव के गहन अध्ययन, अभ्यास तथाप्रबल अनुभूति-चिंतन के समन्वित योग से चमक उठी है। उपन्यास के अधिकांश पात्र शिक्षित हैं, इसलिए अंग्रेजी शब्दों की भी बहुलता है।[१] लेखक ने अंग्रेजी शब्दों का अर्थ कोष्ठक में देकर पाठक की समस्या हल कर दी है। भाषा को आकर्षक बनाने के लिए कविता का भी प्रयोग किया गया है।[२] इस उपन्यास के संवाद शील-प्रकाशक एवं कथा को अग्रसर करने वाले हैं। चूँकि अधिकांश पात्र शिक्षित, अधीत एवं विशिष्ट हैं, इसलिए कलात्मक संवादों की योजना बन पायी है। प्रचुर मात्रा में आये सुगठित सारगर्भित वाक्य इस उपन्यास की भाषा-समृद्धि के सूचक हैं।

अन्त में हम कहते है कि 'कल्पना' एक सफल आत्मकथात्मक उपन्यास है। इसमें आत्मकथा की कला विस्मयकारिणी है और यह ऐसा वर्णन-कोश है, जिसमें धर्म-संस्कृति, नीति एवं सामाजिक समस्याओं का अद्भुत वर्णन है।

पतझर

'पतझर' : १९६२:डॉ० रांगेय राघव का एक लघुकाय सामाजिक उपन्यास है। इसमें शहरी जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का आकलन किया गया है। सम्पूर्ण उपन्यास तेरह भागों में विभक्त है, जिसमें डॉ० सक्सेना द्वारा जगन्नाथ और मोहिनी के उपचार की कथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रस्तुतकी गयी है उपन्यास की कथा सीधी है, सपाट है। घटनाओं में कोई ऐसा मोड़ नहीं आता, जो हमें चौंकाये। उपन्यास का मध्यभाग प्राचीन युग में स्त्री-पुरुषों के परस्पर सम्बन्धों के आकर्षक वर्णनों और चित्रों से भरा हुआ है, जिससे कृति में अत्यन्त सरसता आ गयी है, अन्यथा समस्त उपन्यास दार्शनिक वर्णनों की बहुलता के कारण एक सूखे जीवनहीन मरुप्रदेश जैसा लगता।

आलोच्य कृति का कथानाक अत्यन्त नाटकीय है और इसमे फिल्मी ढंग की नाटकीयता स्पष्ट है। दोनों प्रेम-रोगियों के पिता एक ही समय एक ही डाक्टर के पास जाते है। डाक्टर दोनों की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करता है, पर वे दोनों परस्पर मिल नहीं पाते। अन्त में एकाएक दोनों मिलते हैं और सारी समस्या सुलझ जाती है। इस प्रकार के कथानक प्रायः चलचित्रों में ही पाये जाते हैं।

इस उपन्यास में आजकल के पढ़े-लिखे लड़के-लडकियों के परस्पर आकर्षण, प्रेम तथा सामाजिक जटिलताओं को प्रस्तुत किया गया है। 'कल्पना' के समान इसमें भी इतिहास और समाजशास्त्र के आधार पर अपने मत और दृष्टिकोण की पुष्टि की गयी है। वस्तुतः इस उपन्यास की मूल समस्या जातिवाद की है, जिसे लेखक ने बड़े कौशल के साथ उठाया है और उसके दुष्परिणामों की ओर भी संकेत किया है। इतिहास से अनेक उद्धरण प्रस्तुत कर उन्होंने युग-युग की सामाजिक रूढ़ियों एवं जर्जरित मान्यताओं का पर्दाफाश किया है। जगन्नाथ और मोहिनी एक-दूसरे को चाहकर सामाजिक अवरोधों के कारण भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते है। डाक्टर के पूछने पर जगन्नाथ कहता है, 'मैं पहुँच सकता हूँ, डाक्टर साहब, लेकिन मैं इन समाज के बन्धनों का क्या करूँ? वह मुझे चाहती है, लेकिन मेरे पास आ नहीं सकती। यह समाज हम लोगों को घोंटकर रख रहा है। ऐसा लगता है कि जैसे साँस दबी जा रही है।[३] डॉक्टर के माध्यम से लेखक ने जातिवाद के मिथ्याभिमान को स्पष्ट किया है। डॉक्टर हरवंशलाल से कहता है कि मै आपको एक बात बता दूँ कि हिन्दुस्तान में इतनी

---

१ कल्पना, पृ० ८-१२।

२ वही पृ० ४६।

३ पतझर पृ० २६

ऊँच-नीच होते हुए भी हर जाति का आदमी अपनी जाति को दूसरी जाति से कम नहीं समझता। आप एक धोबिन से ब्याह नहीं कर सकते, भले ही आप कायस्थ हों। आपको भंगी भी अपनी लड़की देने को तैयार नहीं होगा, इसलिए कि उसकी भी एक सामाजिक मर्यादा है।[१] इस गूढ़ समस्या का समाधान लेखक ने अन्तर्जातीय विवाह में देखा। इसलिए उपन्यास के अंत में जगन्नाथ और मोहिनी का विवाह हो जाता है। प्रेमचंदजी के प्रारम्भिक उपन्यासों की भाँति इसका भी समाधान बड़े ही सहज ढंग से हो गया है।

जातिवाद के संदर्भ में लेखक ने प्रेम की समस्या को मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। समाज में व्याप्त वासनात्मक प्रेम की उन्होंने घोर निन्दा की है। स्त्री-पुरुष के प्रेम में वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्षपाती नहीं हैं, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे सामाजिक रूढ़ियों को स्वीकार करते हैं। उन्होंने आदर्श एवं नैतिकता की सीमा को आवश्यक माना है। स्वतन्त्र प्रेम के विषय में डॉक्टर मोहिनी से कहता है , क्या तुम समझती हो कि आज जो स्वतन्त्र प्रेम की पश्चिम में दुहाई दी जा रही है वह भारत के लिए अनदेखी है? वह प्रयोग हो चुका है मोहिनी, उसने समाज की समस्या को सुलझाया नहीं है। स्वतन्त्र मिलन पर स्त्री और पुरुष दोनों ही काम की अति को रोक नहीं सकते और आज तुम अमेरिका में देख रही हो कि वहाँ स्वेच्छा ने तरुणियों में काफी सीमा तक असन्तोष ही पैदा किया है, सन्तोष नहीं।[२] पैसे के कीचड़ में पलनेवाले प्रेम कीचड़ से सूखते ही मृतप्राय हो जाते है। पैसे की तंगी में बड़े-बड़े प्रेम रफूचक्कर हो जाते हैं।[३] कॉलेज की सीमाओं में उफनते प्रेम भी बुलबुले के समान अस्थायी होते हैं, क्योंकि उनका आधार निरीह भावुकता होती है। इस प्रकार लेखक ने प्रेम के व्यापक क्षेत्र को स्पर्श करने का प्रयास किया है, किन्तु उपन्यास के लघु काय होने के कारण इन समस्याओं का स्थायी समाधान नहीं हो पाया है। लेखक एक दार्शनिक की भाँति डॉ० सक्सेना के माध्यम से अपने विचारों को तार्किक ढंग से प्रस्तुत करता जाता है और सम्पूर्ण उपन्यास इन विचारों से बोझिल हो जाता है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का निष्कर्ष निकालते हुए जगन्नाथ से कहता है, 'सचाई यह है कि युग-युग में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध बदलते रहते हैं और उनके बदलने के विभिन्न कारण रहे हैं। प्रत्येक युग में स्त्री और पुरुष दोनों ने यह चेष्टा की है कि वे एक दूसरे से प्यार कर सके और प्यार उन्होंने हमेशा किया है। सौ मे नब्बे से भी ज्यादा ऐसे होते है वल्कि निन्यानबे कह लो जो यह मानते है कि आकर्षण और प्रेम तथा ममता यह सब ऊपरी डालियाँ है, बीज सम्पर्क हैं।[४] लेखक ने लौकिक प्रेम का समाधान विवाह में ही किया है। इसलिए जगन्नाथ कहता है, 'हमारे अधिकांश प्रेम वासनामय होते हैं और केवल आकर्षण होते है, लेकिन इसके बावजूद हमको यह अधिकार होना चाहिए कि हम अपना साथी चुन सकें।'[५]

इस कृति में उपन्यासकार ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्षों को बड़ी आस्था के साथ व्यक्त करने का प्रयास किया है। उसने परिवार, विवाह एवं परम्पराओं आदि के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की यूरोप की संस्कृति से तुलना की है। संयम के संदर्भ में लेखक ने डॉक्टर सक्सेना के माध्यम से कहा है, 'संयम की परिभाषा मन से होती है प्रचीन भारतीयों ने इस बात को समझा था, इसलिए उन्होंने कहा था कि इस पर अंकुश रखो, लेकिन हम पश्चिम के मापदण्ड में बहे जा रहे है। हम व्यक्ति का खोज नहीं रहे है, व्यक्ति को कुण्ठित कर रहे है।'[६]

इस उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है। शीर्षक-निर्वाह की ओर लेखक सजग रहा है। शीर्षक की सार्थकता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि संसार में समाजकी मान्यताएँ बदलती रहती है। जब पुरातनवाद निर्जीव हो जाता है, तब नये विश्वास के साथ नयी पीढ़ी उभरती है।[७] जो व्यक्ति इस परिवर्तन को रोकने काअसफल प्रयास करता है, वह प्रबुद्ध लोगों की दृष्टि में गिर जाता है।[८]

पात्र

डॉ० रांगेय राघव की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है कि वे किसी चीज को ऊँचा दिखाने केलिए दूसरे

---

१ वही, पृ० ७९-८०।

२. वही, पृ० ७१।

३ वही, पृ० ८१।

४ वही, पृ० ५१।

५ पतझर, पृ० १११।

६ वही, पृ० १०१।

७ डॉ० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास, पृ० ५००।

८ पतझर पृ० ८७

को उससे घटाने का प्रयत्न नहीं करते। वे सभी पात्रों को अपनी सहानुभुति दे लेते है। सभी के प्रति पाठक का तादाम्य स्थापित कराने में समर्थ होते हैं। एक तटस्थ कलाकार की भूमिका को लेखक ने बड़ी खूबी के साथ निभाया हैं, इस उपन्यास में डॉक्टर सक्सेना, हरवंशलाल माथुर, दीनानाथ; जगन्नाथ, शर्मा, मोहिनी आदि प्रमुख पात्र हैं। हरिमोहन, रूपनाथ, भोला आदि गौण पात्र है और उन्हें अत्यल्प स्थान मिला है। इन पात्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे नाम गिनाये गये है, जिन्हें डॉक्टर सक्सेना ने प्राचीन युग के स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के प्रसंग में प्रस्तुत किया है।

डॉ० सक्सेना एक गम्भीर, विचारशील, शिष्ट, मनस्वी एवं प्रतिष्ठित चिकित्सक है। इसी पात्र के द्वारा डॉ० रांगेय राघव ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयास किया है। पूरे उपन्यास में उसका दार्शनिक रूप ही प्रमुख है। उच्च शिक्षा प्राप्त कर वह विलायत से स्वदेश लौट आता है और एक सफल मनश्चिकित्सक के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है। वह बड़े ही सहज भाव से जगन्नाथ शर्मा और मोहिनी की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करता है। अतीतकाल की घटनाओं से वह रोगियों का विश्वास प्राप्त कर लेता है और उनके रहस्य को उद्घाटित करता है। उसमें तर्कशक्ति इतनी प्रबल है कि सभी पात्र उसके सामने निरूत्तर हो जाते हैं और उससे सहमत हो जाते हैं। यहीकारण है कि उपन्यास की प्रत्येक घटना का मोड़ उसके कारण ही होता है। वह प्रगतिवादी विचार धारा का घोर समर्थक है।

जगन्नाथ शर्मा इस उपन्यास का दूसरा प्रमुख पात्र है। वह उच्च-शिक्षा प्राप्त भावुक, कामुक, एक दुर्बल व्यक्तित्व का युवक हैं। कॉलेज में मोहिनी के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर वह उससे प्रेम करने लगता है। वह समाज की रूढ़ियों के समक्ष काँप उठता है और घुट-घुट कर अपने मानसिक सन्तुलन को खो बैठता है। कालान्तर में डॉक्टर सक्सेना की मनश्चिकित्सा से स्वस्थ होकर सामाजिक रूढ़ियों पर विचार करता है। मोहिनी का हाथ पाते ही वह पीछे हटता हुआ कहता है-'नहीं बाबू जी, यह नहीं। जहाँ स्वतत्नता नहीं वहाँ यह समस्या इस तरह नहीं सुलझ सकती।· सवाल सिर्फ यह नहीं है कि दो व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध हो, यह तो समाज की व्यवस्था का सम्बन्ध है। व्यक्ति के मूल अधिकार क्या हों, उसको सोचने का प्रश्न है।'[१]

इस प्रकार यह एक टाइप पात्र है, जो आज क कॉलेज के छात्रों का प्रतिनिधित्व करता है।

हरवंशलाल और दीनानाथ दोनों आधुनिक युग में रहते हुए प्राचीन रूढ़ियों से ग्रस्त व्यक्ति हैं। उनमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज के प्रति अधिक आदर है। अन्त में दोनों डॉक्टर सक्सेना से प्रभावित होकर अन्तर्जातीय विवाह के लिए तैयार हो जाते हैं।

मोहिनी प्रमुख नारी-पात्र है। वह प्रेम की दीवानी सुन्दर एवं शिक्षित है। प्रेम के पागल-पन में ही उसका धैर्य खिसक जाता है और वह प्रत्येक समय गीत गाने लगती है। स्वस्थ होने पर वह सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करती है। उसमें भारतीय नारी के गुण विद्यमान हैं। इसलिए जगन्नाथ शर्मा से वह उपन्यास के अन्त में कहती है-'तुम क्यों डॉवाडोल हो रहे हो? मैं हिन्दू स्त्री हूँ और हिन्दू स्त्री तन-मन से एक ही बार अपना पति चुनती है। इसलिए अब मै पीछे नहीं हट सकती क्योंकि यह मेरे लिए अधर्म होगा।'[२] मोहिनी भी एक टाइप पात्र है, जो पाश्चात्य और भारतीय मान्यताओं की सन्धि पर खड़ी है। पाश्चात्य सभ्यता की तड़क भड़क से वह प्रभावित तो होती है, किन्तु अपने संस्कारों पर विजय नहीं प्राप्त कर पाती।

शिल्प

डॉ० रांगेय राघव भाषा के धनी हैं। गम्भीर से गम्भीर विचारों को वे बड़े सहज भाव से उठा लेते है और उसकी अभिव्यक्ति में पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेते हैं। सम्पूर्ण उपन्यास लेखक की मनोविश्लेषणात्मक एवं समाजशास्त्रीय व्याख्या से भरा पड़ा है। लेखक ने अपनी शिल्पसम्बन्धी नवीनता[३] के कारण उपन्यास को नीरस होने से बचा लिया है। कहीं-कहीं हास्य के पुट भी पाये जाते हैं। डॉक्टर सक्सेना ने हरवंशलाल से उसकी पुत्री मोहिनी के जीवन की हिस्ट्री पूछी, तो हरवंशलाल ने उत्तर देते हुए कहा- 'अब, डॉक्टर साहब, हिस्ट्री-जोग्राफी पढ़े हुए मुझे बरसों हो गये। मैंने तो स्कूल में जोग्राफी पढ़ी थी। जब इतने बड़े मुल्क की हिस्ट्री मैंने नहीं पढ़ी तो अब एक लड़की की हिस्ट्री क्या पढ़ूँगा।'[४] शैली को आकर्षक बनाने के लिए पदों[५] का प्रयोग किया गया

---

१. पतझर, पृ० १११।

२. वही, पृ० १२०।

३. नेमिचन्द्र जैन: डॉ रांगेय राघव के दो उपन्यास-धर्मयुग १५ सितम्बर १९६३ पृ० ४७।

४ पतझर पृ० १५। ५ वही पृ० ३७ ३१ ४३ ५१ ६१ ६५।

है संवाद पात्रानुकूल है। संवादों को स्वाभाविक बनाने के लिए अंग्रेजी-उर्दू आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सब मिलाकर हम कह सकते है कि यह डॉ० रांगेय राघव का एक दर्शनप्रधान सामाजिक उपन्यास है। इस लघुकाय उपन्यास में व्यापक विषय के विभिन्न पक्षों को पृथक-पृथक रेखांकित करके, प्रस्तुत किया जा सका है। यहाँ शिल्प-नव्यत्त अपने आकर्षण के साथ विषय को भी ऊँचा उठाने में सफल हो सकी है।

प्रोफेसर

प्रोफेसर (१९६२) विचार-प्रधान एक लघुकाय सामाजिक उपन्यास है। यह उपन्यास उच्चवर्गीय एवं निम्नवर्गीय जीवन की विडम्बनाओं एवं समस्याओं पर आधारित है। उपन्यास का कथानक चौदह भागों में विभक्त है, जिसमें सुख-दुख की दार्शनिक ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। उपन्यास की आधिकारिक कथा प्रो० उमाशंकर एवं निर्मला से संबधित है। इस कथा को अग्रसर करने के लिए माधो, नरेश, विलास आदि की प्रासंगिक कथाओं का समावेश किया गया है। कथानक एक श्रृखला में बद्ध होने के कारण संगठित एवं आकर्षक है। लेखक के अधिकांश उपन्यासों की भाँति 'प्रोफेसर' का भी अन्त कारुणिक है।

मार्मिक प्रसंगों की योजना पर भी लेखक की दृष्टि रही है।निर्मला की हत्या, गुफा का रोमांस, प्रो० उमाशकर की विरक्ति एवं उनकी हत्या आदि ऐसे ही प्रसंग हैं। निर्मला की हत्या से ही पाठक द्रविन हो जाता है और प्रो० उमाशंकर की हत्या के समय तक आते-आते तो वह करुणा से भींग जाता है। अन्त कारुणिक होने के कारण पाठक की पूर्ण सहानुभूति मिल जाती है। इसमें एक ओर आधुनिकता से अति दूर प्राचीन भारतीय सभ्यता का चित्र है, तो दूसी ओर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित अति आधुनिक चित्र।

उपन्यास की विचार-प्रधानता नीति-मूल्यों -सुख-दुःख, अनुराग-विराग, वासना-प्रेम आदि के निर्धारण के प्रयास में लक्षित होती है। इसमें लेखक का यह चिन्तन अभिव्यक्त हुआ है कि वास्तव में जीवन क्या है? सुख-दु ख के आधार पर यह मनुष्य और मनुष्य के बीच का अन्तराल क्या है? लेखक ने उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग दोनों के जीवन कीपीड़ा को उद्घाटित करते हुए इस मूल समस्या को उभारा है कि संसार में सुखी कौन है? प्रो० उमाशंकर, इंजीनियर नरेश, भिखारी हीरा आदि सभी के जीवन में पीड़ा की छटपटाहट है। लेखक ने अपने गहन चिन्तन एवं कलात्मक प्रौढ़ता के आधार पर इस समस्या को अत्यन्त प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत किया है, किन्तु समस्या के समाधान की ओर लेखक अत्यन्त उदासीन हो गया है। लेखक की इस उदासीनता के कारण उपन्यास के गौरव को आघात लगा है।

आलोच्य कृति में लेखक ने पदाधिकारियों की लिप्सा, अनाथालयों में व्याप्त अनैतिकता, नौकर की स्वामिभक्ति, निम्न वर्गीय जीवन की व्यथा एवं पीड़ा आदि का चित्रण करने का प्रयत्न कियाहै। अनाथालय अपने कर्तव्यों से च्युत होकर अत्याचारों के अड्डे बन गये हैं। अनेक बालक-बालिकाओं का अपहरण कर उन्हें अन्धा या लंगड़ा बनाकर उनसे धन कमवाया जा रहा है।[१] उपन्यास के पात्र गोवर्धन एवं मधुमती ऐसे ही अनाथों का प्रतिनिधित्व कर रहे है। गोवर्द्धन अनाथों की दयनीय स्थिति का वर्णन करता हुआ निर्मला से कहता है- 'गुजरात और राजस्थान, यू०पी० और जगह-जगह अनाथालय है। इन सबका इन्तजाम करने वाले लोग आपस में मिले हुए हैं। वे लोग हमको भजते है कि कुछ माँग कर लाओ। अगर आप लोग कुछ अच्छे कपड़े दे दें तो वे मास्टर पहन लेते हैं। अगर हम लोग कुछ पैसा न ले जाएँ तो वे हमको मारते है ···खाने को नहीं देते।[२] प्रबन्धकों की नीचता उस समय और अधिक व्यक्त हो जाती है, जब वे निर्मला की निर्मम हत्या कर देते है। आज बड़े-बडे शहरों में अनेक बच्चे ऐसे गुण्डों के हाथ मे पड़कर अंधे या लँगड़े के रूप में भीख माँगते हुए दिखायी पडते है। इसके अतिरिक्त लेखक ने भिखारियों की दयनीय स्थिति का अत्यन्त कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया है[३]। इसके साथ ही लेखक ने भिखारियों की ठग-प्रवृत्ति का भी पर्दाफाश किया है।[४] आज अनेक युवक अंधे या लँगडे के रूप में लोगों को ठगते हुए दिखायी पड़ते है। इसके अनन्तर लेखक ने भारतीय संस्कृति के गौरव, राजनीतिज्ञों की चाल, युवकों की अनुकरण-प्रवृत्ति आदि की ओर संकेत किया है। उपन्यास के लघुकाया होने के कारण इन्हें पर्याप्त स्थान नहीं मिला है।

---

१ प्रोफेसर, पृ० ४८।
२ वही पृ० ४७।
३ वही पृ० ६६ १०४
४ वही पृ० १४

पात्र

पात्रों के चरित्र के आधार पर समस्या-निरुपण के कारण लेखक ने कथानक के समान चरित्र-चित्रण पर भी पर्याप्त दृष्टिपात किया है। उद्देश्य की पूर्णता के लिय कुछ गिने-चुने पात्र लिये है। कुछ गौण पात्रों को छोडकर अन्य पात्रों के साथ लेखक की पूर्ण सहानुभूति है। लेखक के आदर्श पात्र प्रो० उमाशंकर, माधो और निर्मला है। पात्रों के वाह्य चित्रण के साथ अन्तरंग चित्रण भी किया गया है। आकृति, वेशभूषा आदि के आधार पर पात्रों को साकार करने की प्रवृत्ति इस उपन्यास की सामान्य विशेषता है।

दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान, युनिवर्सिटी के प्रोफेसर उमाशंकर इस उपन्यास के प्रमुख पुरुष पात्र है। इनकी विद्वता से प्रभावित होकर सरकार ने इन्हें 'पद्मविभूषण' की उपधि से सम्मानित करने का भी निश्चय किया। अध्ययन के अतिरिक्त इनके जीवन में अन्य किसी भी कार्य को प्रमुखता नहीं मिलती थी। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने अपनी एकलौती पुत्री निर्मल के पालन-पोषण का भार माधो पर छोड़ दिया और कालान्तर में इजीनियर नरेश से उसका वैवाहिक सम्बन्ध भी निश्चित कर दिया। निर्मला की हत्या के पश्चात् इनके जीवन में अत्यन्त बिखराव आ गया और वे विक्षुब्ध होकर भिखारियों के बीच रहने लगे। यहीं इन्होंने जीवन का एक नया रूप देखा। दार्शनिक व्यक्ति होने के कारण वे सदैव चिन्तन में ही डूबे रहते थे और मानव-सुख के उपकरणों की खोज किया करते थे। अनाथालय के प्रबन्धको के घृणित कार्यों को सुनकर उन्होंने अपना संयम ही खो दिया और वहीं उनकी हत्या हो गयी। लेखक ने प्रो० उमाशंकर के रूप में एक दार्शनिक व्यक्ति की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उनके चरित्र में ऐसा कोई भी गुण परिलक्षित नहीं होने पाया है, जिससे पाठक प्रभावित हो सके। हाँ, उनकी विपत्तियों के साथ पाठक की सहानुभूति अवश्य होती है। प्रो० उमाशकर के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्र माधो, नरेश, दयानाथ, महेश, गोवर्द्धन, मदन, हीरा, बिलास आदि प्रमुख हैं, किन्तु ये सभी पात्र प्रो० उमाशकर एव निर्मला के चरित्र को उभारने के लिए ही प्रस्तुत किये गये हैं।

निर्मला उपन्यास की प्रमुख एवं अकेली नारी-पात्र है। इसके अतिरिक्त मधुमती एवं भिखारिणी की चचा की गयी है, किन्तु इन्हें कोई व्यक्तित्व नहीं मिला है। निर्मला के चरित्र में उदात्त गुणों की बहुलता है। वह इंजीनियर नरेश के प्रेम-पाश में आबद्ध होकर भी कर्त्तव्योन्मुख रहती है। भारतीय संस्कृति के प्रति उसके मन मे अपार श्रद्धा है, इसलिए वह पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण का विरोध करती है। अनाथालय के प्रबन्धकों की अनैतिकता को सुनकर उसके मन मे उन लोगों के प्रति विद्रोह की भावना जगती है, किन्तु इसी अन्तराल में उसकी हत्या हो जाती है लेखक ने निर्मल का वाह्य चित्रण प्रस्तुत किया है, जिससे उसका चरित्र अत्यन्त साधारण बन गया है।

शिल्प

उपन्यास की सफलता का श्रेय लेखक की भाषा-शैली को भी है। दार्शनिक विचारों के अनुकूल इसकी भाषा अत्यन्त सशक्त है। वस्तुतः लेखक ने भाषा की प्रवहमानता पर विशेष दृष्टि रखी है, इसीलिए इस भाषा में अंग्रेजी, अरबी-फारसी के शब्दों की बहुलता है। इस उपन्यास की भाषा सामान्य काव्यमय चमत्कारों, चुस्त वाक्य-गठन तथा लयमयी प्रवहमानता के माधुर्य से युक्त है। पात्रानुकूल भाषा बनाने के लिए अंग्रेजी शब्दों एव वाक्यों का अत्यधिक प्रयोग किया गया है, जिसके कारण कहीं-कहीं भाषा बोझिल हो गयी है। अशिक्षित पात्रों के लिए तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उपन्यास की कलात्मक चारुता, उदात्तता एवं प्रभावोत्पादकता अत्यन्त आकर्षक है। विषय-ऐक्य, कथा-प्रवाह, वस्तु-विन्यास एवं मार्मिक वातावरण, सजीव पात्र-सर्जना तथा समर्थ सुन्दर भाषा आदि इसके समर्थ उपकरण हैं।

पराया

पराया(१९६५) डॉ० रांगेय राघव का एक मध्यमकाय सामाजिक उपन्यास है। इसमे समाजवादी सिद्धान्तों से प्ररित औपन्यासिक तत्वों का नियोजन, व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति, सेक्स पर आधारित रंजक स्थलो की योजना, वाह्य परिस्थित्यानुसर पात्रों की मनःस्थिति में परिवर्तनशीलता एवं रोमास आदि की सामान्य प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। उपन्यास का कथानक इक्कीस भागों में विभक्त है और आदि से अन्त तक इसमें समान गति है इसका कथानक अत्यन्त रोचक है रोचकता का प्रमुख कारण इस उपन्यास के उद्देश्य के उस विशिष्ट स्वरूप म निहित है जिसमें एक ही मनुष्य के अनेक रूप दिखाने वाली रमेश की पाठकों की

उत्सुकता को सतत् सजग रखती है।' रमेश और ममता की आधिकारिक कथा के साथ ही प्रो० होल्कर एवं अरुणा की गौण कथा को गूँथा गया है, किन्तु यह उपकथा कहीं भी मुख्य कथानक के मार्ग में अवरोध नहीं प्रस्तुत करती।

'पराया' पूँजीवादी प्रवृत्ति का अति यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। धन-संग्रह की भावना मनुष्य को इतना स्वार्थी एवं कठोर बना देती है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों को लात मार देता है रमेश एवं ममता के माध्यम से लेखक ने यह प्रमाणित किया है कि धन-संग्रह की भावना सत्य-असत्य उचित-अनुचित की सीमा को अस्वीकार कर आन्तरिक शान्ति के सागर मे तूफान उठा देती है। रमेश, मालती के साथ विश्वासघात कर अनेक मित्रों को ठगकर, गरीबों के पेट पर लात मारकर करोड़पति हो गया, किन्तु उसके मस्तिष्क में अशांति की भावना बढ़ती गयी। वह मनुष्यत्व भूलकर धनका दास हो गया। 'पूँजीवादी समाज में मनुष्य का उत्थान वास्तव में उसका चारित्रिक पतन है। वह जितना ही धन के कारण सम्मान पाता है उतनी ही उसकी आत्मा मरती जाती है। लालच की मिट्टी डाल कर वह अपनी आत्मा की लाश को ढँकता जाता है ताकि वह भीतर ही सड़ती रहे, बाहर बदबू न दे।[२] धन-लोलुप व्यक्तियों का स्वार्थ इतना प्रबल हो जाता है कि वे प्यार, समाज, देश आदि को भूल जाते हैं। ममता रमेश को केवल उसकी अकिंचनता के कारण ही ठुकराकर धनी बैरिस्टर बिहारीलाल की वासना की शिकार हो गयी। लेखक ने पूँजीवादी सभ्यता को मानवता के लिए एक अभिशाप माना है और खुलकर निंदा की है। 'पूँजीवादी सभ्यता गद्दे-तकियों पर लेटनेवाली वेश्या के समान है। जब वह पैसा नहीं रखती तो पत्थरों पर लेटती है।[३]' यशपाल की तरह लेखक ने भी श्रम को सर्वश्रेष्ठ माना है। 'पराया' का नायक रमेश ममता से कहता है-'संसार में मेहनत करने वाले से सुन्दर कोई नहीं होता।[४]' लेखक ने श्रम में ही जीवन का सौरभ माना है।[५] प्रो० होल्कर एवं अरुणा की प्रासंगिक कथा का अभिप्राय उच्च-मध्यवर्गीय समाज के खोखले जीवन को व्यक्त करना है। लेखक ने अपने अधिकांश सामाजिक उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की विषमताओं को व्यक्त किया है। 'छोटी-सी-बात' उपन्यास का सम्पूर्ण कलेवर उच्च-मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित है। अरुणा प्रो० होल्कर की विद्वता से प्रभावित होकर उनसे विवाह कर लेती है, किन्तु गरीबी के कारण उनके जीवन को विषाक्त बना देती है। यहीं पर लेखक ने साहित्यकारों की सामाजिक, आर्थिक स्थितियों की ओर भी संकेत किया है। प्रो० होल्कर कुछ रूपये के लिए स्वरचित साहित्य को धनी रमेश के नाम प्रकाशित कराने के तैयार हो गया और सारे स्वाभिमान को ताक पर रखकर दस हजार रूपये का चेक लेकर लौट आये। आज अनेक पूँजीपति इसी प्रकार प्रसिद्ध साहित्यकार बन बैठे है। लेखक ने साहित्यकारों की इस हीन प्रवृत्ति की निन्दा की है। इसके अतिरिक्त इस आलोच्य कृति में शहरों के जीवन की विलासिता, निर्धनता एव यांत्रिकता का भी वर्णन किया गया है। लेखक ने देहातों में व्याप्त चरित्रहीनता एवं अमानवीय कार्यों की ओर भी सकेत किया है।

'पराया' में लेखक ने नारी के विषय में आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया है। वे नारी को विलासिता की पुतली बनाकर नहीं, प्रत्युत कर्मठ, कर्तव्यपरायण बनाकर इसके महत्व को प्रतिपादित करना चाहते हैं। उपन्यास की शोभा, मालती आदि नारियाँ इसके उदाहरण हैं। इसके साथ ही ममता, अरुणा की विलासी प्रवृत्तियों का भी चित्रण किया गया है। ममता धन के पीछे जीवन का सब-कुछ भूल कर दौड़ती है, इसलिए उसका कोई अपना नहीं हुआ। उपन्यास के अन्त में वह दौलत के पत्थर से टकराकर टूट जाती है। वेश्याओं के विषय में भी लेखक का बड़ा ही स्वस्थ एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण है। वे वेश्या-उन्मूलन के प्रबल समर्थक थे। उनके अनुसार कामी मनुष्य ही वेश्याओं की निर्धनता से लाभ उठाकर उन्हें दिग्भ्रमित करता रहा है। वेश्या होकर मालती अपने चरित्रकी गरिमा अपने श्रम के बल पर स्थापित करती है। वह इस नारकीय जीवन से ऊबकर रमेश से कहती है-'चलो रमेश!मुझे इस पाप जीवन से निकाल कर ले चलो। किसी दूसरे शहर में हम पति-पत्नी के रूप मे जा बसेंगे। मुझे धन और नाम नहीं चाहिए, मुझे शान्ति चाहिए, प्यार चाहिए।[६]' लेखक ने नारी के सतीत्व को महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। वे शोभा के माध्यम से कहते है-'स्त्री का सबसे बड़ा धन उसका पातिव्रत

---

१ 'उपन्यास मनोरंजक है। पाठक इसे शुरू करने के बाद समाप्त करके ही उठेंगे।' : साहित्य-संदेश, अक्टूबर, १९६७।

२ पराया, पृ० ९०।

३ वही- पृ० ९०।

४ वही पृ० १८।

५ वही पृ० २०   ६ पराया पृ० ५७

है।[१] लेखक ने पुरुष की बर्बरता की उपन्यास में घोर निंदा की है।[२] लेखक ने स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के वर्णन में समाजवादी दृष्टिकोण न अपनाकर आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण अपनाया है।

चरित्र

'पराया' चरित्र-प्रधान उपन्यास है। रमेश, ममता, शोभा, मालती आदि इसके प्रमुख पात्र है। मनोहर, प्रो० होल्कर, अरुणा आदि इसके गौण पात्र हैं। ममता उच्च मध्यवर्गीय परिवारकी एक शिक्षित अनुपम सुन्दरी युवती है। वह आधुनिक विचारों एवं पाश्चात्य जीवन के ढंग को अपना लेती है। उसका कॉलेज में प्यार तब तक चलता है जब तक कि वह रमेश की निर्धनता से परिचित नहीं हो जाती। वह रमेश के पूछने पर कहती है- 'तुम्हारे सिर पर कहीं छत है? तुम्हारा कहीं ठिकाना भी है? याद रखो, समुद्र के तैरने के लिए जहाज चाहिए।[३]' इसी जहाज के लिए वह बैरिस्टर विहारीलाल की वासनाओं को तृप्त करने के लिए जुट जाती है। वह रमेश के करोड़पति हो जाने की सूचना पाते ही उसके लिए दौड़ पड़ती है, किन्तु गर्भवती हो जाने के कारण वह बैरिस्टर से कहती है-कमीने! तूने मुझे कहीं का नहीं छोड़ा। तूने मुझे बरबाद किया। आज मैं गर्भवती न होती तो एक करोड़पति की बीबी होती।[४]' इस प्रकार भौतिक आकर्षणों के लिए वह प्रेम के नाम पर नारीत्व को बेच देती है और दौलत के फूलों पर मँडरानेवाली तितली बन जाती है। अन्ततः उसकी मृत्यु भी रुपयों की आग में हो जाती है। लेखक ने ममता के माध्यम से धन के पीछे दौड़नेवाली युवतियों के अंतिम परिणामों की ओर संकेत किया है।

शोभा और मालती के साथ लेखक की विशेष सहानुभूति है। मालती तन से अपवित्र होकर मन से पवित्र है। शोभा त्यागमयी निश्छल भारतीया नारी का प्रतीक हैं। वह पति-सुख के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर देती है। वह रमेश से प्रारम्भ में ही कहती है, 'जैसे तुम चाहोगे मैं वैसे ही रहूँगी। मैं तुम्हे चाहती हूँ,मेरे देवता ..।[५]' रमेश के चले जाने के पश्चात् वह दर-दर की ठोकरें खाती हुई उसके पास पहुँचती है। पति-सेवा को ही अपना सर्वस्व मानकर वह चम्पा के नाम से उसकी सेवा करती है। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर रमेश उसे दासी जानकर भी 'देवी'[६] कह उठता है।उपन्यास के अन्त में वह रमेश के सामने अपना रूप प्रकट कर अपने जीवन की सबसे बड़ी सफलता प्राप्त कर लेती है, क्योंकि रमेश उसके प्यार में विह्वल होकर उसे हृदय से लगा लेता है। लेखक ने शोभा को सगाई के पश्चात् ही पतिव्रता बनाकर उसके चरित्र में चार-चाँद लगा दिया है।

उपन्यास का नायक रमेश सबसे परिवर्तनशील पात्र है, जिसे हर पाठक कौतूहल की दृष्टि से देखता है। आरम्भ में हम उसे एक गरीब छात्र के रूप में पाते हैं, जो ममता के प्रेम में उलझकर किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। शोभा एव मालती जैसे सुन्दरी नारियों के सात्विक प्रेम को ठुकरा देता है। ममता के रूप को खरीदने के लिए ही वह अनेक कुचक्रों से करोड़पति बन जाता है। लेखक ने रमेश के धनी रूप के माध्यम से पूँजीवादी सभ्यता की घोर निंदा की है। रमेश स्वयं धन के दुष्परिणामों से ऊबकर उसमे आग लगा लेता है। उसके परिवर्तन के विकास को लेखक ने बड़े मनोवैज्ञानिक रूप से चित्रित किया है। वह जीवन के हर मोड़ पर शोभा, मालती एवं ममता के भावों की तुलना करते हुए आगे बढ़ता है। रमेश जैसे धनी होते हुए तो अनेक लोग देखे जाते है, किन्तु उसके समान स्वार्जित धन मे आग लगानेवाले बहुत कम हैं। रमेश का चरित्र लेखक ने यथार्थ पर प्रतिष्ठित करने के लिए उसमें मनुष्य की स्वाभाविक, दुर्बलताओं और परिस्थितियों के प्रभाव को दिखाया है।

उपन्यास के प्रमुख पात्र परिस्थितियों के इतने मारे हैं कि वे अपने अभिलषित पात्रों को पाने में प्राय असफल रहे। शोभा, मालती, ममता, रमेश अन्त तक अपने प्यार के लिए भटकते रहे और भटकते ही चले गये। उनके अपने पराये होते रहे। इसलिए लेखक ने इस उपन्यास का शीर्षक भी "पराया" ही रखा, जो अन्यन्त ही समीचीन है।

उपन्यास का आरम्भ आकर्षक वातावरण से ही नहीं अपितु आकर्षक शैली में भी हुआ है। शैली का

---

१. वही, पृ० १२२।
२. वही, पृ० १५२।
३. पराया, पृ० ४६।
४. वही, पृ० १४१।
५ वही पृ० ४२ ४३
६ वही पृ० १३६

आकर्षण आदि से अन्त तक बना रहता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही प्रचलित उर्दू एवं देशज शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इनके कतिपय अन्य सामाजिक उपन्यासों की भाँति इसमें पात्रानुकूल भाषा बनाने का अतिरिक्त प्रलोभन नहीं है, जिसके कारण उपन्यास की रोचकता बनी रह जाती है। प्रो० होल्कर, बैरिस्टर एवं ममता आदि उच्च मध्यवर्गीय शिक्षित पात्र होते हुए भी अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग नहीं करते। हास्य एवं व्यंग्य के पुटों के कारण उपन्यास की रोचकता और बढ़ गयी है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि "पराया" डा० रांगेय राघव का एक सफल चरित्रप्रधान सामाजिक उपन्यास है। आदर्शवादी एवं यथार्थवादी विचारों के संतुलित विनियोग से "पराया" पर्याप्त रंजक तथा संवेदक उपन्यास बन गया है।

आखिरी आवाज

"आखिरी आवाज" (१९६२) डॉ० रांगेय राघव का अन्तिम एक बृहद्काय सामाजिक उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बदले हुए गाँव के जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। उपन्यास का कथानक डूमरपुर गाँव के अंचल पर आधारित है। कथानक में "लड़की की हत्या, प्रारम्भ से अन्त तक सिमट गयी है और सम्पूर्ण कथा उसी से सम्बन्धित है। इसमे संदेह नहीं है कि उपन्यास की पृष्ठभूमि बहुत बड़ी है और उसमें बेशुमार घटनाएँ, पात्र आदि हैं। लेखक ने बड़े ही कौशल से सभी छोटी-छोटी कथाओं को प्रमुख कथा से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। हम यह स्वीकार करते हैं कि यदि इनमें से एक-दो कहानियाँ निकाल दी जायँ, तो उपन्यास की मुख्य कथा-धारा में अधिक अन्तर न आयेगा, किन्तु इतना निर्विवाद है कि उसकी रोचकता कम हो जायेगी। इसका कारण यह है कि सभी कथाएँ किसी सीमा तक मुख्य कथा से सम्बिन्धित है और उनकी एक सार्थकता है।सम्पूर्ण कथानक को तीन भागों -"आरम्भ","और", "उपसंहार"- में विभाजित किया गया है।"आरम्भ" और "उपसहार" अत्यन्त ही नाटकीय एवं कलात्मक हैं।

इस आलोच्य कृति में पंचायती राज की पृष्ठभूमि में देहाती जीवन की दलबन्दी, स्वार्थपरता और कभी न समाप्त होनेवाली मुकदमेबाजी तथा व्यापक भ्रष्टाचार का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही इसमें लेखक ने अन्तःकरण की विजय दिखाई है कि सारी बुराईयों के बीच भी कुछ है, जो मनुष्य के पथ को आलोकित करता है और उसे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। सम्पूर्ण उपन्यास में लेखक की करुण और गहन जीवनदृष्टि परिलक्षित होती है। एक प्रकार का सनसनी भरा वातावरण शुरू से अन्त तक घिरा रहता है जिससे भावुकता एवं खोखली वैचारिकता को स्थान नहीं मिल पाया है। घटनाओं और पात्रों के कार्यकलाप में प्रायः यथार्थवादिता ही झलकती है। लेखक ने यथार्थवादको पूरी शक्ति से चित्रित किया है। उसने भूमिका में लिखा है, "ग्रामजीवन मैंने देखा है। मेरे सामने प्रेमचन्द के ग्राम नहीं रहे हैं। मैंने जीवन के यथार्थ को देखा है, इसलिए नहीं कि मेरी किसी आदर्श में आस्था नहीं है, मेरी आस्था मानव में है, उसके शाश्वत कल्याणधर्म में है। राजनीति परक जीवन आज कितना कलुषित है, यह देखने और समझने की बात है।[1]"

प्रस्तुत उपन्यास की शक्ति है सामाजिक जीवन यथार्थ से लेखक का गहरा साक्षात्कार। इसलिए वह एक जीवन समाज को जीते-जागते रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका है। इसमें समस्याओं का यथार्थवादी ढग से समाधान करने का प्रयास किया गया है। भ्रष्टाचार का जो नग्न रूप इस उपन्यास में मिलता है, वह अन्य किसी भी सामाजिक उपन्यास में प्रायः दुर्लभ है। लड़की की हत्या के पश्चात् ही घूसखोरी का विकराल रूप खड़ा होता है। दरोगा,[2] सर्किल इंसपेक्टर[3], डी० एस० पी०[4], मुन्सिफ[5] एवं एम०एल०ए० आदि सभी घूस लेकर मुकदमे को हल्का बनादेने का प्रयास करते हैं। मुन्सिफ के माध्यम से लेखक ने आज की न्याय-व्यवस्था पर गहरा-प्रहार किया है कि किस प्रकार न्यायाधीश एम०एल०ए० एवं मन्त्रियों के हाथ के खिलौने बने हुए है। साथ ही लेखक ने उनके अनैतिक कार्यों का भी पर्दाफास किया है। इसके अतिरिक्त लेखक ने समाज के अन्य भागों मे व्याप्त भ्रष्टाचार की ओर भी संकेत ककिया है। मास्टर पचौरी सरपंच से सौ रूपया लेकर अपने प्रधानाचार्य का विरोध करते हैं और उनके विरूद्ध हड़ताल की योजना करते हैं। पटवारी, कानूनगों, तहसीलदार

---

१. आखिरी आवाज, पृ० ३ (भूमिका)

२ वही, पृ० १०७।

३ वही, पृ० ११७।

४ वही पृ० १२२।

५ वही पृ० १६८।

आदि तो भ्रष्टाचार के अड्डे ही बने हुए हैं।

उपन्यास में विभिन्न राजनीतिक दलों के स्वर गूँजते हैं।प्योराम एम०एल०ए० कांग्रेसी सदस्य है, जो गॉव की राजनीति से लाभ उठाकर रिश्वत के ठेकेदार बन जाते हैं। चंचल सिंह, रामसिंह तिवाड़ी भी कांग्रेसी कार्यकर्ता हैं, जो परस्पर विरोध में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं और किसी भी प्रकार के अनैतिक कार्य करने में हिचकते नहीं। चन्द्रप्रकाश कम्युनिस्ट है, जो अपने सम्बन्धी दरोगा की रक्षा के लिए सदैव कर्तव्य से च्युत होता रहता है। इस प्रकार इन पात्रों के चरित्रांकन द्वारा लेखक ने अद्वितीय व्यंग्यत्मक ढंग से राजनीतिक जीवन को अंकित किया है। राजनीतिक चेतना का किस प्रकार शनैः-शनैः देहाती जीवन में संचार होने लगता है, इसका सूक्ष्म निरीक्षण तथा जीवन्त चित्रण आज की आवाज उपन्यास में किया गया है। इन राजनीतिक सदर्भ में ही लेखक ने जातिवाद की समस्या को भी उठाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे राजनीति जातीय आधार पर विभक्त है। श्यौपाल सरपंच से चुनाव के समय कहता है- 'अब वह झोलेटोले का जो सरपंच है, रामसिंह तिवाड़ी उसको सेक-साक के खड़ा किया है लोगों ने और गाँव-गॉव में बाभनों में एक-एक के नाम पर बनिया ठाकुर को छेक के अपना संगठन कर रहा है। ...उस पंचायत में यह चर्चा छिड़ी थी। तो एक ने कहा- भई बाभन खड़ा हुआ है तो बाभन के जाये को तो बाभन की तरफ जाना चाहिए, क्योंकि घुटना पेट की तरफ मुडता है।... जब नीचे से लेकर ऊपर तक जवाहर सिंह, चंचल सिंह, कजौरी सिंह, बहादुर सिंह-सब ठाकुर की ठाकुरों का गठबन्धन हो तो ऐसे में बाभनों में भी एक सिंह पैदा हुआ है। रामसिंह तो उसको क्या हार जाने दिया जायगा?[१] जातिवाद के अनन्तर लेखक ने मुकदमेबाजी के भीषण परिणामों को भी यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास किया है। अंतहीन मुकदमेबाजी में चंचल सिंह, कजौरी सिंह तथा विशेष रूप से मृत लड़की का पिता हिरदेराम बुरी तरह बर्बाद हो जाते है। गाँव के मुकदमों का निर्माता पटवारी हिरदेराम से कहता है- 'बीमारी और मुकदमा एक चीज होती है। बीमारी इसलिए नहीं आती कि बीमार की खातिर आती हो। अरे, वह तो प्रारब्ध का दोष होता है।......सोई मुकदमे का सवाल है। यह जो तुम कचहरियाँ देखते हो, ये पुराने जनम के बहुत सताए हुए लोग यहाँ बैठते हैं। जो जितना ज्यादा सताया हुआ होता है, वह यहाँ उतना ही बड़ा अफसर बन कर आता है।[२]' मुकदमेबाजी की छोटी-से-छोटी बात का उपन्यास में अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जिसके कारण इस कृति के कुछ स्थल नीरस हो गये हैं। इसके साथ ही आलोच्य कृति में ग्रामीणों के अंधविश्वास[३], भाग्यवाद, बिरादरी की भावना, उनके परस्पर वैमनस्य, पुलिस की बर्बरता आदि की ओर भी संकेत किया गया है। इन्हीं सन्दर्भों में उपन्यासकार ने अपनी प्रगतिवादी भावना के कारण धन के दुष्परिणामों पर भी प्रकाश डाला है। नरायन और माधो धन के मद के कारण ही उस निर्धन कन्याकी हत्या कर देते हैं। हत्या के पश्चात् नरायन अपने साथी माधो से कहता है-'अरे यार, क्या चिन्ता है। किसको पता कि हमने ऐसा किया है। ... और मेरा बाप सरपंच और तेरा बाप पंच है। हम लोगों पर कोई भ्रम भी तो नहीं करेगा[४]।' धन के कारण ही सरपंच, पंच मुकदमें को उखाड़ देते हैं और निर्धन धनीराम चारों तरफ से पिसता है। पुत्री की हत्या के साथ ही उसकी खेती-बारी भी नष्ट कर दी जाती है। न तो वह मुकदमें को ही देख पाता है और न जमीन को ही बचा पाता है। हिरदेराम उन गरीब किसानों का प्रतिनिधित्व करता है, जो धनी व्यक्तियों के स्वार्थ एवं मद के कारण टूट रहे है।

'आखिरी आवाज' प्रेमचन्द की परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है[५]। इसमें घटनाओं का बड़ा ब्यौरेवार वर्णन है। लेखक ने प्रेमचन्द की ही भाँति इसमे गाँव के टूटते हुए किसानों की समस्याओं को उठाया है, किन्तु उसने प्रेमचन्द की अपेक्षा जीवन के यर्थाथ को अधिक गहराई के साथ देखा है। इनके पात्र देव-दानव वर्ग में विभाजित नहीं हैं। वे अपने वास्तविक रूप में सामने हैं। प्रेमचन्द के प्रतिनिधी पात्र अपने अन्तर्मन से नहीं जूझते, पर राघव में यह मानसिक द्वन्द्व भी उभर कर आया है। प्रेमचन्द के चरित्रों की अपेक्षा रांगेय राघव के चरित्र अधिक गतिमान हैं। प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास नायक की भूमिका पर चलते हैं। 'गोदान' के 'होरी' के समक्ष सभी व्यक्तित्व धूमिल पड़ जाते हैं, पर इस उपन्यास के कई पात्र मनमे समान स्थान लेकर उतर आते हैं। इसमें शीघ्र निर्णय करना कठिन हो जायगा कि नायकत्व किसे दिया जाय।

---

१. आखिरी आवाज, पृ० ३८२-८३।

२. वही, पृ० १२६।

३. वही, पृ० ५१, ३१६।

४. वही, पृ० १४।

५. नेमिचन्द जैन, धर्मयुग १५ सितम्बर, १९६३, पृ० ४७।

उपन्यास के अन्त के सम्बन्ध में एक बात विशेष विचारणीय यह है कि रांगेय राघव के अधिकांश सामाजिक उपन्यासों का अन्त यशपाल के उपन्यासों की भाँति एक ही पिटी-पिटाई लीक पर होता है। सब जगह प्रमुख पात्रों की हत्या। 'पराया', 'प्रोफ़ेसर' आदि उपन्यासों की भाँति इस कृति के सभी प्रमुख पात्र अन्त में मर जाते है। यह सत्य है कि लेखक ने प्रमुख पात्रों की मृत्यु कराकर पाठक की करुणा जगाने का प्रयास किया है, पर एक ही बात अधिकांश उपन्यासों में उबा देती है।

डा० रांगेय राघव ने ईस कृति में गाँवों में अनैतिक, दुर्बल और अमानवीय पक्षों की बड़ी सतर्कता से उधार कर प्रस्तुत किया है, किन्तु वे गाँव के जीवन के उदात्त पक्ष को उभारने में चूक गये हैं। इसलिए उपन्यास गाँव की पूर्ण तस्वीर प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सका है।

चरित्र

'आखिरी आवाज' में अनगिनत व्यक्तियों की भीड़ है। डॉ० रांगेय राघव के चरित्रसृष्टि की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन्होंने सभी पात्रों को अत्यन्त सार्थक व्यक्तित्व दिया है। उपन्यास के पात्र टाइप अधिक है। 'निहाल, नरायन, चंचल सिंह, गोविंद आदि पात्रों में बड़ी मानवीय संभावनाएँ भी हैं और उन्हीं को लेकर किसी हद तक कुछ आयाम भी दे सका है। उनके भीतर एक प्रकार का अर्न्तद्वन्द्व है जो उन्हें सर्वथा यांत्रिक नहीं होने देता।[१]'

हिरदेराम

हिरदेराम जाति का धाकर है। वह एक किसान का यथार्थ चरित्र है। उसमें उसके अपने सारे अन्तर्विरोधों और गुण-दोषों की सजीव कहानी है। वह उदार, स्वाभिमानी ओर परिश्रमी किसान है। छः सदस्यों के परिवार की गाड़ी को वह अपनी व्यवहार-कुशलता से आर्थिक शोषण और सामाजिक रूढ़ियों के दलदल में भी खींचता जाता है। पड़ोसियों केप्रति उसके हृदय में असीम ममता है। वह स्वयं अपनी हानि उठाकर दूसरों की सहायता करता है। सियाराम नाई के पूछने पर वह कहता है-'परमात्मा भाग्य से पड़ोसी देता है। अरे, जिस दिन मै मर जाऊँगा सियाराम उस दिन यह सारी दुनिया यहीं छूट जायेगी। कोई मेरे साथ नहीं जायेगा। हाँ, तुम जरूर मेरे साथ जाओगे मरघट तक;क्योंकि मैंने और तुमने साथ-साथ चिलम पी है, साथ बतराए हैं, साथ बखत काटा है।[२]' वह बड़ा भाग्यवादी है। पुत्री की हत्या के पश्चात् वह चम्पा से कहता है- 'कुछ हमने पुरबिले जन्मों में ऐसा किया होगा, किसी को सताया होगा, जब ही हमको भी काट-काटकर परमात्मा सता रहा है।[३]' जमीन सम्बन्धी मुकदमें के कारण वह वृद्ध बौहरे के भयानक कर्जजाल मे फँस जाता है। इसके साथ ही अपनी रक्षा के लिए अपनी पत्नी दामी के गहनों को गिरवी रखकर दरोगा को सौ रूपया घुस देता है।[४] वह इतना ईमानदार और सत्यवादी है कि कोर्ट में हत्यारे नरायन और माधो के विषय में पूछने पर कहता है- 'गंगा की सौगन्ध, झूठ नहीं बोलूँगा महाराज! मैंने इन्हें देखा नहीं था।[५]' चंचलसिंह की प्रतिक्रियाओं से क्षुब्ध होकर वह रामसिंह तिवाडी की शरण में चला जाता है और चुनाव में उनकी सहायता करता है। कालान्तर में वह तिवाड़ी के अनैतिक कार्यों से आहत होकर संसार से चल बसता है।

चंचल सिंह डूंमरपुर गाँव के सरपंच और एक सक्रिय कांग्रेसी कार्यकर्ता हैं। लेखक ने उनके चरित्र में बडा ही अन्तर्द्वन्द्व दिखाया है। हिरदे की पुत्री की हत्या के पश्चात् उनके मस्तिष्क में नैतिकता और थोथी सामाजिक मर्यादा के बीच अनवरत संघर्ष होता रहता है। वे सभी पदाधिकारियों को घूस देकर समस्या को बड़ी बुद्धिमानी के साथ सुलझा लेते हैं। उनमें अपने परिवार की प्रतिष्ठा के प्रति अटूट निष्ठा है। नरायन की माँ चमेली के पूछने पर वे कहते हैं-'मैं गंगा मैया की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि कजोरी सिंह की तरह अपने बेटे की जान बचाने के लिए कोशिश नहीं कर रहा हूँ। वह कमीना इसी लायक है कि उसे फाँसी लग जाय।...... चंचलसिंह इसलिए रूपये खर्च नहीं कर रहा है कि उसका बेटा फँस गया है, लेकिन इससे भी बड़ी चीज है मेरे खानदान की इज्जत।[६]' उनके हृदय में नरायन के प्रति अन्यन्त घृणा उत्पन्न हो जाती है। नरायन की जमानत पर उन्हें प्रसन्नता नहीं होती

---

१ नेमिचन्द जैन, धर्मयुग, १४ सितम्बर, १९६३, डॉ० रांगेय राघव के दो उपन्यास, पृ०४७।

२ आखिरी आवाज, पृ० ४१।

३ आखिरी आवाज, पृ० ५१।

४ वही, पृ० २४६।

५ वही पृ० २७०।

६ वही पृ० १५४ ५५।

है। वे अपनी पत्नी चमेली से कहते हैं- 'मेरे लिए इतना काफी है कि वह लड़का मेरे बाद अपने भाइयों को धोखा देगा, उनका कत्ल भी कर सकता है, क्योंकि उसका हाथ एक दफा खुल चुका है। अच्छा हो, मुकदमे के बाद वह फाँसी लगाकर मर जाए।[१]' नरायन की आत्महत्या के पश्चात् वे कमरे में बन्द रहते है।

नरायन और माधो अट्ठाइस-उन्नीस वर्षीय चरित्रहीन युवक है। वे केवल वासना के कुत्ते हैं। उनके हृदय में ममता और मानवता के लिए रंचमात्र स्थान नहीं है। इसलिए निहालकौर को एकान्त में पाकर दोनों टूट पड़ते है और उसी के संकेत पर दोनों हिरदे की पुत्री के चरित्र को भ्रष्ट करते हैं और विरोध करने पर उसकी हत्या कर देते है। हत्या के पश्चात् नरायन के मस्तिष्क में अन्तर्द्वन्द्व शुरू हो जाता है और वह माधो से कहता है-'चल' हम साधु बन जाएँ। माँगकर खाते चलेंगे। भगवान् का भजन करके अपने पापों को धोयेंगे। माधो, खून छिप सकता है, लेकिन पाप कैसे मिटेगा?[२] वह जमानत से छूटने पर अत्यन्त उदास रहता है। अन्तर्द्वन्द्वों से वह असन्तुलित होकर माधो को मारकर स्वयं आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार नरायन के चरित्र में बड़ा ही उतार-चढ़ाव परिलक्षित होता है।

गोविन्द एक नीच, चरित्रभ्रष्ट एवं अवसरवादी पात्र है। वह स्वार्थ की वेदी पर नैतिकता, कर्तव्य, मानवता एवं अन्य उदात्त गुणों की बलि चढ़ा देता है। वह सदैव धन कमाने और अवसर की ताक में लगा रहता है। इसलिए उसे पुलिस की नौकरी भी छोड़नी पड़ती है। दो गुटों को लड़ा देना, किसी को ठग लेना उसके लिए साधारण बात है। चौधरी बहादुर सिंह और रामसिंह तिवाड़ी में वह सदैव वैमनस्य का बीज बोता रहता है। ससुराल में निहालकौर को ठगकर वह उसका धन और यौवन दोनों लुटता है। दरोगा का वह सबसे बड़ा एजेण्ट है, इसलिए गाँवों में उसकी थोथी प्रतिष्ठा भी है। चंचल सिंह की पराजय निश्चित समझकर वह विरोधी रामसिह तिवाड़ी की शरण में चला जाता है और उसकी वासना की तृप्ति के लिए ठगकर निहालकौर को पहुँचाता है। इस प्रकार लेखक ने गोविन्द के चरित्र को अंकित कर अपने ग्रामीण राजनीति के गहरे अध्ययन का परिचय दिया है। शायद ही कोई गाँव हो, जहाँ दो-चार गोविन्द जैसे नेता न हों।

हिरदेराम, चंचलसिंह, नरायन, माधो एवं गोविन्द के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्रों मे गजराज सिंह, कचौरी सिंह, बनै सिंह, बहादुर सिंह, धनीराम, सियाराम नाई, रामकरन, रामसिंह तिवाड़ी, मंगू श्यौपाल, पचौरी, पन्ना, प्यारेरामजी, हीरालाल, हरिमोहन माथुर, कालीचरण शर्मा, जवाहर आदि प्रमुख हैं। ये सभी पात्र किसी न किसी रूप में मुख्य कथा से सम्बद्ध हैं।

नारी पात्रों में निहालकौर, चम्पा, चमेली आदि मुख्य हैं। निहालकौर एक चरित्रभ्रष्ट विलासिनी, निर्लज्ज, सुन्दर युवती है। सियाराम नाई की इस विवाहिता पुत्री में चम्पा के चरित्र की सारी दुर्बलताएं संस्काररूप में मिली हैं। वह वासना के प्रति पूर्ण समर्पिता है, इसलिए साथ ही दो युवको के साथ अपना मांसल सम्बन्ध स्थापित करने में हिचकती नहीं है।[३] इसी के संकेत पर हिरदेराम की पुत्री की मर्यादा लुटती है और उसकी हत्या होती है। हत्या के पश्चात् उसके मस्तिष्क में अन्तर्द्वन्द्व शुरू हो जाता है। वह वासना के कीचड़ से निकलनेका प्रयास करती है। इसी कारण अपने पति के घर एक सती-साध्वी नारी के रूप मे जीवन व्यतीत करती है। ससुराल में गोविन्द के द्वारा बलात्कार किये जाने पर वह आत्मग्लानि से कराह उठती है। उसके मन में अन्यन्त घुटन होती है और वह सोचती है, 'पहले एक था। फिर दो हुए, माधो से नरायन और फिर गोविन्द। क्या वह स्त्री थी? उसका जीवन, उसका यौवन, उसका धर्म-ये सब कहाँ थे? किसके आसरतू थे? क्या सोचा होगा गोविन्द ने उसके बारे में? उसकी आँखों में आँसू आ गए।[४]' इतने संघर्षों ने उसको झकझोर दिया। वह जीवन से उदास होकर अत्यन्त तटस्थ भाव से रहती है। रामसिंह तिवाड़ी के बलात्कारों से वह असन्तुलित होकर पागल हो जाती है। लेखक ने निहालकौर के चरित्र के माध्यम से इस तथ्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भी छोटी जातियों में सुन्दर लड़कियों का होना, उनके लिए अभिशाप है। यह समस्या केवल निहालकौर या हिरदेराम की पुत्री की नहीं है, अपितु ऐसी अनेक लड़कियों की है, जो निम्न वर्ण में उत्पन्न होकर उच्च वर्ण के लोगों की वासना की शिकार बनती हैं। हिरदेराम की तरह जो इनका विरोध करता है, वह सदा-सदा के लिए टूट जाता है। सरकार के सारे प्रयत्न भ्रष्टाचारों में फँसकर इन सामाजिक दुनीर्तियों को बढ़ावा दे रहे हैं।

---

१. वही, पृ० २१८।
२ वही पृ० ८७,८८
३ आखिरी पृ० १०। ४ वही पृ० २७१।

शिल्प

"आखिरी आवाज" की भाषा-शैली यथार्थवादिता से अनुशासित है। विषय और शैली में सामंजस्य, प्रसंगानुकूल शैली की परिवर्तनशील अभिव्यक्ति-क्षमता-इस शैली की विशिष्टता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम हमारा ध्यान जिस विशेषता पर जाता है, वह है व्यंग्यात्मकता। यथार्थ वर्णनों को सोद्देश्य बनाने में व्यंग्य-विधि विशेष सहायक हुई है। "व्यंग्य सर्वत्र है और कहीं-कहीं बड़ा कठोर और जोरदार भी।"[१] कांग्रेसी एम०एल०ए० प्यारेरामजी, मजिस्ट्रेट तहसीलदार एवं पुलिस अधिकारियों के अनैतिक कार्यों के संदर्भ में इस शैली का प्रयोग हुआ है। तहसीलदार साहब की घूसखोरी पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है-"हाँ, लेकिन रुपया एक बहुत गन्दी और छोटी चीज है और उसके बारे में इतनी छानबीन अच्छी नहीं हुआ करती। अतः अच्छा यही है कि दूसरे के द्रव्य को मिट्टी के ढेले के ही समान समझा जाए।"[२] यथार्थ-चित्रण के कारण भाषा में एक हल्की-सी आंचलिकता भी आ गयी है। अशिक्षित पात्रों के संवादों में देशज शब्दों की बहुलता है। पात्रानुकूल भाषा अत्यन्त प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत की गयी है। प्यारेरामजी की भाषा सर्वत्र अलग है। दरोगाजी गालियों[३] की बौछार करते है। अदालती भाषा की जानकारी तो लेखक को किसी वकील-मुहर्रिर से कम नहीं है। अदालती शब्दों की बहुलता के कारण कहीं-कहीं नीरसता भी आ गयी है। लेखक का कवि इस कृति में कहीं-कहीं उभर आया है, किन्तु ऐसे स्थल अत्यल्प हैं। कविताओं[४] का भी प्रयोग भाषा को आकर्षक बनाने के लिए किया गया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यह उपन्यास लेखक के अधिकांश कृतित्व की बुनियादी विशिष्टताओं को उजागर करता है। इस उपन्यास में सामयिकता के साथ चिरन्तनता, समाज-चित्रण के साथ व्यक्ति-चित्रण, स्थानिकता के साथ व्यापकता तथा विशालता के साथ अगाधता है। शिल्प की दृष्टि से भी यह लेखक की अत्यन्त सफल रचना है।[५]

पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित

[१] बोलते खण्डहर (१९५५)

'बोलते खंडहर' डॉ० रांगेय राघव की प्रारम्भिक रचनाओं में से है, जिसे उन्होंने १९३७ ई० में लिखा था। बोलते खंडहर उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक विदेशी साहित्य से प्रभावित है। विदेशी साहित्य के प्रभाव को लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है।[६] इस उपन्यास में चार कहानियों का संकलन है। चार विद्यार्थी खाण्डेकर, धीरुमल, सुरेश्वर और मोहन शिकार खेलने जाते हैं और तूफान के कारण भटककर एक खंडहर में पहुँच जाते है। एक भूत चौकीदार के रूप में उन्हें वहाँ ठहरने से मना करता है और गाँव में लाकर एक दूसरे स्थान पर ठहरा देता है। भूत-प्रेत के डर के कारण चारों विद्यार्थी भूतों की कहानियाँ सुनाते है। मोहन पहली कहानी कहता है, जो एक पंजे वाले भूत से सम्बन्धित है। इस पंजेवाले भूत से भयभीत होकर नीलांबर पंत का परिवार अपना बंगला छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। दूसरी कहानी में खाण्डेकर रफीक और कुलसुम के माध्यम से अतृप्त आत्माओं की चर्चा करता है। रफीक के वियोग में कुलसुम आत्महत्या कर लेती है। कालान्तर में रफीक बार-बार कुलसुम के हाथ का स्पर्श का अनुभव करता है। कोठरी में बन्द होने के पश्चात् वह हाथों के स्पर्श से घबड़ा जाता है। 'रफीक ने आवाज देने की कोशिश की, मगर आवाज गले में भिंच गयी जैसे सपने में आवाज गले में ही घरघराती है। और कुछ नहीं है। वही सन्नाटा है, वही दमघोट खामोशी... और गले में वही ठण्डे हाथ है वही गीली उँगलियाँ, वही माँ की हीरेवाली, सोने के मुग्गों वाली अँगूठी और वे कुलसुम के हाथ हैं एक लाश के हाथ हैं ।[७] उसी कोठरी में उसकी मृत्यु हो जाती है। तीसरी कहानी में धीरुमल जादूटोना के प्रभाव को स्पष्ट करता है। डंकिनी विंदा मंत्र से वशीकरण तावीज बनाती है। समारू उसी तावीज से कर्नल सावंत की पुत्री कला को आकर्षित करना चाहता है, किन्तु डंकिनी की पुत्री मूँगा उसे नकली तावीज देकर भटका देती है और स्वयं समारू से प्रेम करने लगती है। चौथी कहानी में सुरेश्वर शबनम एवं सुधा के जीवन की

---

१ नेमिचन्द्र जैन, धर्मयुग, १४ दिसम्बर, १९५३, रांगेय राघव के दो उपन्यास, पृ० ४७।

२ आखिरी आवाज, पृ० १३३।

३ वही, पृ० ३८, ६४, ६९, ३४९।

४ वही, पृ० १३०, १३१, १६७।

५ डॉ० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास, उद्भव और विकास, पृ० ५०२।

६ बोलते खंडहर दो शब्द।

७ वही पृ० ५५।

घटनाओं को व्यक्त कर भूत-प्रेतों की चर्चा करता है।

इस उपन्यास में रोचकता एवं चमत्कारिता की ओर लेखक का ध्यान अधिक रहा है। इसमें लेखक की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उसने अपने आपको बड़ी कुशलता से चारों विद्यार्थियों से अलग किया है, अतः वह अपनी कहानियों में एक सफल कलाकार की तरह तटस्थ और अनासक्त रह सका है। 'इसकी रचना करते समय लेखक पर देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी के घटना-प्रधान जासूसी एवं ऐयारी उपन्यासों का प्रभाव अवश्य ही पड़ा होगा.....।'[1] रोचकता और आकर्षण बढ़ाने में लेखक अत्यधिक कुशल और चालाक है। मनोरंजन के अतिरिक्त इस उपन्यास का और कोई महत्व नहीं है, क्योंकि इसमें भूत-प्रेतों की ही दौड़-धूप मची है। आज भी लोगों में भूत-प्रेतों के विषय में अटकल-बाजियाँ ही चलती है, कोई निश्चित परिणाम नहीं निकल पाया है।

इस उपन्यास में एकरसता की ऊब नहीं है। विभन्न कहानियों की अभिव्यजना में विविधता का सौन्दर्य है। इनमें प्राचीन किस्सा-कहानियों की-सी पद्धति मिलती है। ये कहानियाँ कही-सुनी गयी है, इसलिए वक्ता और श्रोता में सर्वत्र कहने-सुनने की चेतना बनी रहती है। इसमें वर्णन की अपेक्षा कथोपकथन-तत्त्व कम है। विभिन्न कहानियों के विविध पात्रों के संवादों में तदनुकूल परिवर्तनशीलता है। ये प्रायः संक्षिप्त तथा गत्यात्मक है। दूसरी कहानी में मुसलमान पात्रों के कारण अरबी-फारसी के शब्दों की भरमार है। अन्तिम कहानी में रोमानी, चित्रात्मक और काव्यमय शैली का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः रांगेय राघव का भाषा-शैली में विषय-वातावरण के अनुरूप परिवर्तन की अद्भुत क्षमता है और यह भाषा अधिकार विविध कहानियों में उपन्यास प्रस्तुत करने के शिल्प में सहायक है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि 'बोलते खंडहर' प्राचीन लोककथात्मक पद्धति का उपन्यास है।

अंधेरे की भूख (१९५५)

'बोलते खंडहर' की भाँति का उपन्यास 'अँधेरे की भूख' भी है, जिसकी रचना १९३८ ई० में हुई थी। इसके पात्रों तथा कथावस्तु में अपेक्षया अधिक विदेशी साहित्य का प्रभाव है, किन्तु इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भारतीय है। सम्पूर्ण उपन्यास दो भागों में विभक्त है। उपन्यास के प्रथम भाग में कुषाण चक्रधर सुहासिनी, आर्किमिडीस और आयुर्वेदिक वैद्य सुषेण अनेक भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनाते हैं। चक्रधर अपने मित्र रऊ की कहानी कहता है, जो जीवन भर भूतों से घिरा रहा और अन्त में उन्हीं के द्वारा मार डाला गया। सुहासिनी तंत्र-मन्त्र एवं भूतों की शक्तियों का वर्णन करती है। भूत अपने कारनामें से सबको पराजित कर देते हैं। आर्किमिडीस आपबीती कथा कहता है, जो भूतों के लपेट में आकर अनेक कष्ट सहता है। इसी प्रकार सुषेण भी भूतों के विविध रूपों का वर्णन करता है। दूसरे भाग में सिन्धुजा और सेनापति मंदहास अपने जीवन से सम्बन्धित भूत-प्रेतों की घटनाओं का वर्णन करते हैं। सिन्धुजा इन्हीं के कारण अस्वस्थ रहती है और मंदहास की पुत्री इन्हीं से आक्रमित होकर मर जाती है।

प्रत्येक कहानी सुनने के बाद मित्रों में परस्पर वाद-विवाद होता है और बात इस सीमा तक पहुँचती है कि किसी-न-किसी मित्र को अपने मत-प्रतिपादन के प्रमाण में दूसरी कहानी कहनी पड़ती है, जो भूत-प्रेतों से ही संबंधित होती है। लेखक ने अधिकांश कहानियों को श्रोता-रूप में सुनने और बाद में प्रस्तुत करने की प्रणाली को लोक-कथात्मक पद्धति का स्वरूप दिया है। यह उपन्यास पंचतन्त्र, कथासरित्सागर, तोता-मैना आदि ग्रंथों की-सी प्राचीन कथात्मक-पद्धति में है, किन्तु भूतों की करामात ने इसे अलग रूप दिया है। सम्पूर्ण उपन्यास भूतों का भण्डार हो गया है और उसके पीछे कोई सर्जनात्मक हेतु नहीं है। ये कथाएँ सतही एवं भावकतापूर्ण हैं और छिछली रोचकता उत्पन्न करने के लिए जुटाई गयी है। प्रभाव की समग्रता इसमें नहीं है। फिर भी हास्य और आकर्षण इस कृति की बहुत बड़ी सफलता और शक्तियाँ है।

इस उपन्यास में घटना-चमत्कार के साथ ही कुषाण-वंश की कतिपय सांस्कृतिक परम्पराओं की ओर भी सकेत किया गया है, किन्तु इन परम्पराओं का सम्बन्ध भी भूत-प्रेतों से जुड़ा हुआ है। रिसुकमा की कब्र खोद देने के पश्चात् उसकी प्रेतात्मा शान्त हो जाती है और उससे पीड़ित सिन्धुजा स्वस्थ होने लगती है। 'एक मास बाद सम्राट वासुदेव ने घटना को सुना उन्हें मौका मिल गया। उन्होंने आज्ञा दी। साम्राज्य भर में जो भी कुषाणों की कब्रें थीं, वे खोद दी गयीं और जलाने के प्रथा सर्वरूपेण स्वीकृत हो गयी। इस प्रकार ही मुँह पर नकाब

---

१ डॉ० सुरेश सिन्हा हिन्दी का उद्भव और विकास पृ० ४१०

डालकर कुषाण परम्परा के नृत्य भी वर्जित कर दिये गये और कुषाणों में बाकी आर्यों और भारतवासियों में कोई भी भेद नहीं बचा।'[1] इस प्रकार उस युग के जीवन को किसी सार्थक समग्रता या अन्विति के साथ इस उपन्यास में नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। इसमें कल्पना और इतिहास का समन्वय भी दृष्टिगत नहीं होता अर्थात् यह न तो इतिहास का चित्र ही उपस्थित कर पाता है और न एक सफल साहित्यिक कृति ही बन पाता है।

इस उपन्यास में पात्रों की उपेक्षा की गयी है। पात्रों के विचित्र-विचित्र अलौकिक कारनामें पाठकों को चकित करते हैं। ये सरकस के जीवों की तरह रंगमंच पर आते रहते है भूतों से लड़ते हुए रहस्यमय ढंग से निकल जाते हैं। कभी-कभी अन्य प्रकार के मायावी कार्य कर एक ऐसी दुनिया में पाठकों को ले जाते हैं, जो वास्तविक जगत से एकदम भिन्न होती है।

शिल्प की दृष्टि से इन कहानियों में प्राचीन किस्सा-कहानियों की-सी पद्धति मिलती है। इसकी सामान्य शैली वर्णनात्मक है, किन्तु कहीं-कहीं चित्रात्मक शैली का सार्थक उत्कर्ष देखने में आता है। दूसरे भाग में आत्मकथात्मक एवं पत्रात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। विषय और शैली में अद्भुत सामंजस्य है। पूरी शैली में एक प्रकार की पुरानेपन की गूँज-जैसी है, जो कथा के काल और विषय के अनुरूप तथा अनुकूल होने के कारण अच्छी लगती है।

कुल मिलाकर 'अँधेरे की भूख' मनोरंजनप्रधान लोककथात्मक उपन्यास है।

●●●

---

१ अँधेरे की भूख पृ० २३४

अध्याय तीन

□

आंचलिक उपन्यास

स्वतंत्रता के पश्चात् हमारे साहित्यकारों की दृष्टि लोक-संस्कृति की ओर अधिक उन्मुख हुई है लेखक ने जीवन के यथार्थ में गहरे उतर कर जनवादी साहित्य-सृजन की आवश्यकता महसूस की है। जो सबसे अधिक उत्पीड़ित, उपेक्षित और शोषित को अपनी सहानुभूतिक दे सके, वह लेखक सच्चा जनवादी है। हमारा देश विभिन्न संस्कृतियों, धर्मो, वेशभूषाओं और विचारधाराओं का भण्डार है। विभिन्न अंचलों के जन-जीवन को चित्रित करने के उद्देश्य से ही उपन्यासकार इस ओर प्रवृत्त हुए और आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई। अतः आंचलिक उपन्यास एक प्रकार की अनिवार्यता की उपज है।

अंचल का अर्थ है- जनपद या क्षेत्र। यह शब्द एक ऐसे विशिष्ट भूखण्ड का वाचक है, जो सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से अपने आप में एक इकाई हो एवं जिसके जीवन की अपनी कुछ विशेषताएं हों। अंग्रेजी उपन्यासकारों ने भी चचल का अर्थ क्षेत्रविशेष से ही लिया है। अंग्रेजी में ग्राम या नगर की विशिष्टताओं को व्यक्त करने के लिए क्षेत्रीय उपन्यासों की एक शाखा पहले से ही मिलती है। कालक्रम की दृष्टि से, सर्वप्रथम मारिया एजवर्द ने सन् १८०० में प्रकाशित अपने 'कैसल रैकरेण्ट' नामक लघु उपन्यास द्वारा 'रिजनल नावेल' का प्रयोग किया। उसने ही सर्वप्रथम आयरलैण्ड के क्षेत्रीय जीवन को लेकर कुछ उपन्यास लिखा, जिसे 'रिजनल नावेल'(आंचलिक उपन्यास) नाम दिया गया। स्वय हार्डी के कथनानुसार उनके उपन्यास भी स्थानीय(लोकल) प्रकार के कहे जाते रहे हैं।[१] हिन्दी में सर्वप्रथम आंचलिक-शब्द का प्रयोग फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने सन् १९५४ में प्रकाशित अपने उपन्यास 'मैला आंचल' की भूमिका में किया। तभी से यह शब्द प्रचलित हो गया। हिन्दी में आंचलिक उपन्यास की विशेषताओं के बीज यों तो पहले उपन्यास 'परीक्षा गुरु'- जिसकी भाषा दिल्ली-क्षेत्र से पूर्णतः प्रभावित है-तक में खोजे जा सकते है, किन्तु इसका वास्तविक प्रतिष्ठापन स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी-उपन्यास की नव्यतर उपलब्धि है। वस्तुतः 'बलचनमा' तथा 'काका' से पूर्ववर्ती उपन्यासों में स्थानीय रंगन तथा क्षेत्रीय भाषा के जो संस्पर्श मिलते है, वे सामाजिक यथार्थ के अंकन के सामान्य अंग हैं, ऑचलिक उपन्यासों की अंचल या जनपद-विशेष को उभारने की विशिष्टता का उपकरण नहीं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्राम-जीवन की छवि है, किन्तु उनके गॉव स्थानीय रंगत के बावजूद गॉव विशेष नहीं हैं, सामान्य हैं। कहानी एक गॉव से दूसरे, तीसरे-गॉव या शहर तक संक्रमण करती चलती है। प्रेमचन्द को स्थानविशेष के जीवन का चित्रण करना प्रिय नहीं है वरन् सामान्य गॉवों की सामान्य समस्याओं और जीवन-मूल्यों की कथा कहना अभिप्रेत है। प्रेमचन्द के सम सामायिक अन्य उपन्यासकारों ने भी आंचनिलक तत्वों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। अन्ततः हम इतना ही कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में आंचलिकता के अंकुर फूटते दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्होंने उपयुक्त अवसर आने पर आंचलिक उपन्यासों की धारा को जन्म दिया। हार्डी, मार्कट्वेन और हेमिंग्वे आदि विदेशी उपन्यासकारों के रूप, विधान और प्रभावान्विति से हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों को प्रेरणा भले ही मिली हो, किन्तु उनके अनुकरण पर इनका सृजन कदापि आधारित नहीं है। आंचलिक उपन्यास हिन्दी उपन्यास साहित्य की मौलिक धारा है।

आंचलिक उपन्यास राष्ट्रीय भावना के उपन्यास हैं। उनके द्वारा विशाल देश के अनेक भूखण्डों की चेतना का बोध होता है और समग्र रूप से एक व्यापक राष्ट्रीय भावना खड़ी होती है। खण्ड-खण्ड से मिलकर ही अखण्डता बनती है। अतः यह शंका निर्मूल है कि इन उपन्यासों के प्रचार से राष्ट्रीय एकता की भावना में व्यवधान पैदा होता है। भारत जैसे विभिन्न संस्कृतियों वाले देश के आंचलिक उपन्यासकार अंचलों की संस्कृति के विभिन्न पक्षों का चित्रण करके दूसरे अंचलों में जागरण की भावना फैलाने का कार्य बड़ी सुगमता से कर सकते है। धर्म और संस्कृति के नाम पर फैली हुई विषमताओं का निराकरण आंचलिक उपन्यासों द्वारा संभव है। कुछ आलोचक यह आशंका करते हैं कि यदि प्रत्येक अंचल अपने रीति-रिवाजों , प्रथाओं और विश्वासों के प्रति निष्ठावन बने रहने का प्रयत्न करेगा, तो राष्ट्र की मूलभूत एकता को ठेस पहुँचना स्वाभाविक है। इसका समाधान है कि लेखक जिस अंचल का चित्र अंकित कर रहा है, वह अंचल राष्ट्र की एक इकाई है। ऐसी अनेक इकाइयों के समूह का नाम ही देश है। इन इकाइयों को समझने और जोड़ने की क्रिया में यदि लेखक योग देते हैं, तो आंचलिक उपन्यास से राष्ट्रीय एकता में बाधा पहुँचने का भय नहीं है।[२] मनुष्य और उसका परिवेश ही आंचलिक उपन्यासों का वर्ण्य-विषय है। जिस मानव को उसने उपन्यस्त किया है, उसकी संवेदनाएँ एक विशिष्ट भूखण्ड में व्याप्त होने से मानव से छिटक कर दूर नहीं जा सकतीं। 'खेत-खलिहान' में काम करनेवाला किसान पूर्णिया

---

१ N on the Novel- p. 301

२ श्री विजयेन्द्र चिन्तन के क्षण पृ० ६८

जिले का हो या लमही गॉव का, भरतपुर के नटों का जीवन हो या बस्तर के खेतिहरों का, सर्वत्र है मानव का ही वर्णन।[१] अतः मनुष्य को अनेक रूपों में देखने का सुयोग हमें आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से उपलब्ध होता है।

आंचलिक उपन्यास, उपन्यास की एक विधा है, क्योंकि उसका उद्देश्य भिन्न है। वह न तो घटना-प्रधान उपन्यासों की तरह कुछ खास पात्रों के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं और समस्याओं को लेकर वेगवती धारा की तरह नयी-नयी भूमियों को पार करता हुआ आगे बढ़ता है और न तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तरह कुछ गिने-चुने पात्रों के मन का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अतः आंचलिक उपन्यासकार एक दिशा में बहने की अपेक्षा पूरे अंचल की चतुर्मखी यात्रा करता है और उनका उपादानों को यहाँ से वहां से चुनता है, जो मिलकर अचल की समग्रता का निर्माण करते है।[२] आचलिक उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यासों से भी नितांत भिन्न हुआ करते है। ऐतिहासिक उपन्यास में अपने समय के जन-जीवन का समग्र चित्रण तो किया जा सकता है, परन्तु उनकी यथार्थतता पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित होती है, स्वानुभव पर नहीं। फिर तत्कालीन समाज की मान्यताओं का पात्रों के चरित्र के विकास के माध्यम से ही अंकन संभव है, जिनका परिचय भी उन्हें इतिहास के पृष्ठों में मिलता है। आंचलिक उपन्यास का प्रणेता अंचल की संस्कृति का आखों देखा चित्रण करता है, उसमें यथार्थ की स्थिति महत्वपूर्ण और विश्वसनीय रहती है।

आंचलिक उपन्यास की यह विशेषता है कि उसमें किसी अंचलविशेष का यथार्थवादी जीवन अपनी समग्रता एवं सूक्ष्म विस्तार के साथ उभर कर प्रकाश में आता है। लेखक वर्ण्य जनपद के सम्पूर्ण सुख-दु ख समूचे राग-विराग को भोग कर प्रत्यक्ष चित्र प्रस्तुत करता है। इसी कारण आंचलिक उपन्यासो में पात्रों की सख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। इन उपन्यासों में नायक-शून्यता की विशेषता आ जाती है; क्योंकि इसमें व्यक्तिविशेष की नहीं, संपूर्ण अंचल की कहानी रहती है। अंचल अपनी सम्पूर्ण विविधता और समग्रता के साथ नायक होता है । ये पात्र स्थानीय विशेषताओं से सम्पन्न वर्गगत भी होते हैं और अचल की विशिष्टताओं में विकसित होने के कारण अपना पृथक अस्तित्व और आर्कषण रखते हैं। पात्रों के बहिरंग चित्रण में स्थानीय वेश-भूषा तथा उनके रूपाकार में स्थानीय विशिष्टता भी लक्षित होती हैं। लोक-तत्व का प्रभूत उपयोग इस स्थानीय रंगत को गाढा करता है। ये लोकउपादान है-लोकाचार, लोकरीतियां, लोकपर्व, लोककथाएं, पहेलयां, कहावतें, मुहाविरे एव लोक-नृत्य आदि। इनसबका समाहित प्रभाव ऐसा होता है कि पाठक को भी पात्रों के साथ अंचल में विचरने की भ्रांति होने लगती है। उपन्यास के संगठन का आधार कथा, पात्र या कोई प्रयोजन विशेष न होकर सीमित स्थान है, अतएव कथानक अंचलविशेष में ही केन्द्रित होता है। आंचलिक उपन्यासों का कथानक प्रायः शिथिल होता है, क्योंकि अंचलीय वातावरण के बहुवर्णनों की स्थिरता तथा कथा की गत्यात्मक प्रकृति में विरोध है।घटनाओं के आधिक्य के कारण कथा में बिखराव भी आ जाता है, किन्तु इनमें एकसूत्रता होती है। ये अपना अलग-अलग पुरा अस्तित्व रखते हुए भी अंचल-जीवन के उस पक्ष के चितेरे होते हैं, जो अन्य से छूट गया है।

आंचलिक उपन्यासों में यथार्थवादी चित्रण को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जाता है। अपनी बोली में ये पात्र विशिष्ट स्थानीय होने का आभास सहज ही दे देते हैं। हिंदी के लगभग सभी आचलिक उपन्यासों में स्थानीय भाषा और बोलियों के प्रयोग बहुलता के साथ हुए है। इस प्रकार की भाषामर्जन की अनवार्य मांग है। दो तरह से -एक तो स्थान-विशेष का वातावरण चित्रित करने के लिए, दूसरे वहां के जीवन को स्पंदित और उसकी मूल सहजता के साथ अंकित करने के लिए। लेकिन कुछ लोग मात्र स्थानीय वैचित्र्य प्रदर्शित करने के लिए अजीब-अजीब स्थानीय शब्दों का प्रयोग करते हैं। केवल चमत्कार के लिए स्थानीय भाषा के शब्दों का प्रयोग लेखक की उत्तरदायित्वहीनता का परिचायक ही कहा जाएगा। उपन्यास में स्थानीय भाषा का प्रयोग वही तक उपयोगी हो सकता है, जहाँ तक उपन्यास की स्पष्टता एव सरसता बनी रहे। आंचलिक भाषा के प्रयोग पर इतना प्रतिबन्ध अवश्य लगाया जा सकता है कि वह खड़ी बोली से अधिक दूरवर्ती न हो और लेखक अपने शब्द-चयन में ऐसे शब्दों का प्रयोग न करे, जिनका प्रयोग उसके आंचलिक पात्र न कर सकते हों।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास प्रमुख रूप से या तो किसी अंचलचविशेष के जन-जीवन का चित्रण करत है या किन्हीं अपरिचित और आदिम जातियों के जीवन का चित्रण करते हैं। इन उपन्यासों के दो प्रधान भेद किये

१. वही, पृ० ६१।

२. डॉ० राम दरश मिश्र: हिन्दी उपन्यास: एक सर्वेक्षण, पृ० १९०।

जा सकते है। पहले प्रकार के वे उपन्यास हैं, जिनमें अंचल विशेष के जन-जीवन का चित्रण होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में नागार्जुन के 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'रतिनाथ की चाची', डॉ० रांगेय राघव के 'काका', 'धरती मेरा घर', फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा', राजेन्द्र अवस्थी 'तोषित' का 'जंगल के फूल', बलभद्र ठाकुर के 'नेपाल की वो बेटी', दयानाथ झा का 'जमींदार का बेटा', रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर', तथा शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी'। दूसरे प्रकार के वे हैं, जिनमें किसी जातिविशेष का जीवन चित्रित होता है, इस प्रकार के उपन्यासों में उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य', रांगेया राघव का 'कब तक पुकारूँ' तथा देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिए' आदि उपन्यास महत्वपूर्ण हैं।

'काका'(१९५३) डॉ० रांगेय राघव का प्रथम आंचलिक उपन्यास है। विशिष्ट क्षेत्र केन्द्रित कथा-विकास वहुपात्रता, सजग क्षेत्रिय चित्रण तथा स्थानिक शब्द 'काका' की आंचलिकता के उपकरण हैं। यह मथुरा के पुजारियों के जीवन पर आधारित ऐसा उपन्यास है, जिसमें उनके अनैतिक कार्यों का भण्डाभेड़ किया गया है। लेखक ने तटस्थ भाव से उस अंचल की धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। सम्पूर्ण कथा उन्नीस भागों में विभजित है, किन्तु कथा-वस्तु में शिथिलता नहीं आने पायी है। कथावस्तु के दृष्टिकोण से यह लेखक की अत्यन्त सफल रचना है। 'इसका कथानक बहुत सुसंगठित है और अन्य उपन्यासों की अपेक्षा इसके पात्र यथार्थता के अधिक निकट हैं और उनका चरित्र-चित्रण भी अधिक स्वाभिकता एवं स्वतंत्रता से हुआ है।[१]' उपन्यास में कुछ ही महीनों की घटनाओं का आकलन है। इस तरह इसमें पात्रों के जीवन का खण्ड-चित्र है, सम्पूर्ण चित्रण नहीं।

रचना-काल की दृष्टि से 'काका' हिन्दी के प्रारम्भिक आंचलिक उपन्यासों में से एक है। यद्यपि इसे 'मैला आंचल' के प्रकाशन के बाद ही आंचलिक कहा गया। डॉ० रांगेया राघव शिल्पगत प्रयोगों में अपनी विशिष्टता रखते थे। 'काका' को स्थानीय वातावरण (Local Colour) में रंग कर उन्होंने नये प्रयोगों को 'कब तक पुँकारू' में स्थापित किया।[२]' आंचलिकता की दृष्टि से यह सभी प्रारम्भिक आंचलिक उपन्यासों से सफल है, क्योंकि इस कृति में डॉ० रांगेय राघव किसी राजनैतिक मतवाद से प्रेरित नहीं हुए हैं।

इस उपन्यास में लेखक ने परमसुख, हरिदास, गोसाई एव अन्य कतिपय पात्रों के माध्यम से मथुरा के पुजारियों के घृणित कार्यों का अनावरण किया है। लेखक के बहिर्मुखी प्रगतिवादी दृष्टिकोण के कारण ही यह सम्भव हो सका है। वृद्ध ब्रजकिशोर की मृत्यु के पश्चात् परमसुख ने काका से कहा-' ...जानते हो, बिटिया रात लाश के पास पड़ी रोती रही, कि चोरों ने सारे घर में झाड़ू लगा दी। अकेली रह गयी है, बाप मरा पडा है।[३]' काका के घर विधवा कान्ता के रुदन को सुनकर बिंदिया, यहां कि निवासियों के आचरण को व्यक्त करती हुई कहने लगी-'तुम नहीं रह सकोगी यों बीबीजी। ये लोग तुम्हें खा जाएंगे। तुम-सी एक मास्टरनी थी। ऐसा पाप किया लोगों ने उससे धोखे से कि वह किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं रही। जमुनाजी में डूबकर मर गयी। मथुरा को तो जमुना का सहारा है जो इसके सारे पाप बहाकर ले जाती हैं, नहीं तो सब अगर यहीं रह जाते तो शायद मथुरा नगरी ही डूब जाती।[४]' 'पानी वाले महाराज' और 'बन महाराज' भी अपने घृणित कार्यों को छिपाने के लिए साधु वेश में लोगों को ठग रहे थे। बन महराज की कुटिया पक्की थी, जिस पर जोड़ी चढी हुई थी। वहां तक चेले पहुंचने ही नहीं देते थे। शहर के कई मनचले वहां इसीलिए पहुँचते थे, क्योंकि वहा जवान औरतें बहुत पहुँचती थीं। जैसे मेलों में औरतें भीड़ में कुगत हो प्राप्त होती हैं वहां उससे कम समा न था।[५]' दोनों साधुओं के रहस्य को खोलते हुए दरोगा ने बन महाराज से कहा-'साले खोल दे दरवाजा! तेरी पोल भी खुल गयी।' तेरा यार 'पानी वाला महाराज' गिरफ्तार हो गया। हरामजादा! पांव में बेडियों के निशान थे। इसलिए हमेशा पानी में पांव डाले बैठा रहता था और तू साले यहां डाकू-चोरों के पास से आने वाले माल को आराम से फूंकने का यह ढोंग रचाकर सबको उल्लू बना रहा है। लुगाइयों को बच्चे पैदा करता है? निकल साले डाकू। जेल के फरार बदमाश।[६]'

---

१ डॉ० सुरेश सिनहा, हिन्दी उपन्यास, उद्भव और विकास, पृ० ५०२।

२ श्री गोविंद रजनीश, आलोचना, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक : भाग ३, पृ० १६५।

३ काका पृ० १०४।

४ काका पृ० १३८

५ वही पृ० १४६ ६ वही पृ० १४८

लेखक ने इस उपन्यास में साधुओं के अतिरिक्त कतिपय अन्य समस्याओं को भी उठाया है। ये समस्याएं व्यक्ति के माध्यम से सारे मथुरा-सारे अंचल और देश की संपूर्ण जनता की हैं। विधवा-समाज की अत्यन्त विकट समस्या है। कितनी युवतियां असमय में सिन्दूर के छिन जाने के कारण समाज की मान्यताओं की संकीर्ण गलियों में घुटघुटकर जी रही है। उनका जीवन अत्यन्त नारकीय हो गया है। कांता का जीवन इसी घुटन में व्यतीत हो रहा था। किन्तु वह अधिकांश उपन्यासों की विधवाओं के समान तपस्विनी न बनकर रामधुन के प्रेम को स्वीकार कर लेती है। तदन्तर सामाजिक बन्धनों को ठुकराती हुई वह रामधुन से कहती है-'भले ही यह पाप हो पर यही अच्छा है। मेरे वेश्या बनने से या चेली बनने से यह पवित्र है। स्त्री हूँ तो स्त्री जैसा जीवन क्यों न बिताऊ? अगर धर्म इसे नहीं मानता, तो धर्म गलत है। इन लोगों ने धर्म को भी अपने नफे-नुकसान की चीज बना लिया है।[१]' लेखक ने मथुरा के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का यथातथ्य चित्रण करने का प्रयत्न किया है। विभिन्न जाति एवं वर्ग के लोगों की परस्पर स्पर्धा, मठों का बाहरी आडम्बर तथा भीतरी भोग विलास, बुड्ढों का विवाह-पर-विवाह करते जाना, पूंजीपतियों के प्रति पुलिस का पक्षपात एवं निरीह जनता पर अत्याचार, जातिवाद का कुचक्र आदि अनेकानेक प्रसंगों का समावेश करके लेखक ने सामाजिक विकृतियों-असंगतियों को पूर्णरूपेण अनावृत करके प्रत्यक्ष कर दिया है। वास्तव में अंचलविशेष का इतना सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट वर्णन अन्य उपन्यासों में कम मिलता है। राघव ने मथुरा की प्रत्येक गतिविधि, सफलता-दुर्बलता, स्वास्थ्य को एक वैज्ञानिक की तटस्थता से आंकने का प्रयत्न किया है। उन्होंने तथ्य के संदर्भ में उपन्यास की भूमिका में लिखा है- 'प्रस्तुत उपन्यापस मेरा एक सामाजिक चित्रण है, जो मध्यकालीन विचाधाराओं के केन्द्रों की वास्तविकता को प्रकट करता है। समाज के अन्तर्विरोधों को मैंने स्पष्ट किया है। इसकी प्रायः सभी घटनाएं इतिहास की भांति सत्य हैं...... ...।[२]' इसमें लेखक के प्रगतिशील विचार अति यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर अभिव्यक्त हुए है।

उपन्यास को आकर्षक बनाने के लिए रोमास-प्रसंगों की कल्पना की गयी है। बिंदिया और रामधुन का सम्बन्ध अत्यन्त मार्मिक है। पाठक को उपन्यास के अंत में ही इन दोनों के पवित्र सम्बन्धों का ज्ञान हो पाता है। कांता-रामधुन एवं चम्पा-गोसाई का रोमांस भी आकर्षक है। अनेक स्थलों पर परिस्थितिगत हास्य की भी योजना की गयी है। उपन्यास का कथानक भी अत्यन्त नाटकीय है। इसमें 'ड्रमेटिक आयरनी' का संयोजन किया गया है। काका के घर विधवा कांता के आ जाने पर बिंदिया ने बालक गिरिधर से कहा-'रात को इनके पास कौन सोएगा?[३]'

'अच्छा बीबी डरती हैं?' उसने कहा-'हमको डर लगता था, तब हम चाचा के पास सोते थे। बीबी के पास सोने का चाचा को बुला लाऊं?[४]' यहीं कान्ता और रामधुन के भविष्य में प्रेम हो जाने का संकेत मिल जाता है।

चरित्र चित्रण

'काका' चरित्र-प्रधान उपन्यास है। काका के अतिरिक्त अन्य पात्रों की आकृतियां भी अत्यन्त स्पष्ट है। आंचलिक उपन्यासों में पात्रों की भरमार होती है, किन्तु इस उपन्यास में भर्ती के पात्र नहीं हैं। उपन्यासकार की सफलता केवल मुख्य चरित्रों के निर्माण में ही नहीं होती है, बल्कि उसकी सफलता छोटे चरित्रों की रूपरेखा से भी आंकी जाती है। पर कुशल लेखक डॉ० रांगेय राघव लघु चरित्रों की अवतारणा में भी कुशल है। इस उपन्यास के साधारण चरित्र भी अपनी विशेषताओं के साथ आकर पाठक पर अपनी छाप छोड़ जाते है।

परसराम मथुरावासियों के काका थे। इनका रेखाचित्र पर्याप्त सुन्दर एव सशक्त है। 'वह एक मोटे आदमी थे। ठोड़ी के नीचे काफी मांस था। स्थूल हाथ-पांव थे, बड़-सा पेट था। सिर घुटा हुआ था।... ...छोटी-छोटी कतरनी मूंछें थीं। दोनों भौं झुककर मिल गयी थीं, पर उनमें सफेदी आ गयी थी। मुख पर एक सौम्यता और मस्ती थी। ....उनकी देह को देखकर ही लगता था कि किसी समय उन्होंने खूब कसरत की होगी।[५]' मथुरा के छलकपट एवं कुचक्रों ने इनके हृदय को झकझोर दिया, किन्तु वे बड़े संयम एवं धैर्य से अपना कार्य करते थे। भक्तिभावना

---

१. वही, पृ० १६४।
२. काका, भूमिका।
३. वही, पृ० ११५।
४. डॉ० सुरेश सिनहा, हिन्दी उपन्यास, उद्भाव और विकास, पृ० ५०२।
५. काका, पृ० ४-५।

उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे निःस्वार्थ भाव से किसी की भी भलाई करने में पीछे नहीं हटते थे। कान्ता के कारण रामधुन के चले जाने पर भी उनके मन में कान्ता के प्रति प्रतिशोध की भावना नहीं जगी। व्रजकिशोर के मरने पर उन्होंने लोगों से कहा- 'क्या देखते हो? अभी तो परसराम काका जी रहा है भैया, परसराम काका जी रहा है। जिजमान तो मेरा है, उसका अन्न खाया है तो अन्त तक नहीं निबाहूँगा?[१]' अन्त में शव का दाह कर कान्ता को अपने घर ले आये। इतना शान्त, स्वस्थ, सन्तुलित, सरल, लोककल्याणकारी व्यक्ति मथुरा में कोई नहीं था। इनका चरित्र पूरे उपन्यास में छाया हुआ है। इसलिए लेखक ने इस उपन्यास का शीर्षक भी 'काका' ही रखा और इन्हें प्रत्येक दृष्टि से आदर्शवादी चित्रित किया।

रामधुन 'काका' का सबसे जीता-जागता पात्र है। इसी पात्र के माध्यम से लेखक ने अपने विचारों को व्यक्त किया है। 'वह ······लगभग इक्कीस वर्ष का गोरा तन्दरूस्त और लम्बा नौजवान था। किन्तु उसके अभी दाढी और मूंछों के नाम पर केवल मसें भीग रही थीं।[२]' उसमें स्वाभिमान की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। कान्ता के कटु शब्दों को सुनकर उसने कहा- 'पुराने लोग हमे पुजारी समझकर श्रद्धा देते थे। अब वे भीख समझकर देते हैं। आप लोग बड़े आदमी हैं तो क्या इसलिए हम गरीबों को चुपचाप बेइज्जती सह लेनी चाहिए? मैंने किसी की हजूरी नहीं की। मुझमें कमाकर खाने की ताक्त है। पेट भर सकता हूँ और इससे ज्यादा वह मुझे नहीं चाहिए जो इज्जत बेचकर मिले।[३]' अपने आकर्षक व्यक्तित्व के कारण की वह बिंदिया का प्रिय पात्र बन गया। उसके चरित्र पर प्रकाश डालती हुई विन्दिया ने कान्ता से कहा- 'कितने सुन्दर हैं लाला। तुम नहीं जानती। ·····पर लाला को तो काम-से काम। वह किसी औरत को नहीं देखते। बस जरूरत होगी, मेरे पास आएंगे- 'भाभी, वह है, भाभी वह है, मैं नहीं करूंगी तो रूठेंगे।[४]' रामधुन काका एवं भाभी के प्रति पूर्ण कृतज्ञ था। उसके जीवन में कान्ता के प्रदेश ने एक नया मोड़ दिया और उसने समाज के समस्त बन्धनों को तोड़ते हुए उसे अपनी पत्नी बना लिया।

अन्य पुरुष पात्रों में परमसुख, हरिदास गोसाई, पानीवाले महाराज, वन महाराज, गिरिधर, रामस्वरुप, गोपाल, पंगु आदि मुख्य हैं। गिरिधर का चरित्र अत्यन्त आकर्षक है। यह छः वर्षीय बालक उपन्यास के सभी मार्मिक स्थलों से संबंधित है।

इस उपन्यास के नारी-पात्रों में बिंदिया का चरित्र सबसे प्रमुख है। एक वृद्ध की पत्नी होते हुए भी वह अपने चरित्र के प्रति सचेत रही। पण्डों की नारियों के विषय में बातचीत करती हुई उसने कान्ता से कहा- 'बीबीजी। पण्डाओं के घर में जिजमान मौज करते हैं। औरतें खूब उनसे माल पोटती हैं। मैं तो नहीं करती कुछ। और मेरे घर में तो लाला जैसे चाँद के टुकडे थे। मेरी तो नीयत नहीं बदली? फिर वह पचास के हैं, मैं अभी उनीस की हूँ।[५]' वह सौन्दर्यशीलसंपन्न नारी थी। उसमें कर्तव्य-सजगता, संयम, क्षमा एवं उदारता की भावना भरी हुई थी। लेखक ने उसके अवगुणों को भी व्यक्त किया है। वह पति के निर्देश से कभी-कभी जजमानों की वस्तुओं को भी चुरा लिया करती थी। इस कमी के होते हुए भी बिंदिया की चारित्रिक गरिमा अविस्मरणीय है।

कान्ता पोस्टमास्टर व्रजकिशोर की इकलौती पुत्री थी। वह बचपन में ही विधवा हो गयी थी। 'उसकी नाक कुछ नुकीली थी और भौं इतनी महीन कि देखकर लगता था, जैसे दो रेखाएँ बड़े हिसाब से खींच दी गयी हैं। रंग उसका दूध की तरह सफेद था। मुख पर एक नीरसता थी और उदासी आंखों में कील गाडकर अपना डेरा ताने बैठी थी। और होठों की हँसी अन्त में जैसे फीकी-सी हो जाती, जैसे वह डेरे वाले मालिक से बार-बार कोई भीख मांगती, पर फिर लौट-लौट जाती, क्योंकि उसकी हिम्मत नहीं पड़ती।[६]' उसमें सयम, पवित्रता एवं भक्ति-भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। वह स्वाभिमानिनी एवं जागरूक नारी थी इसलिए वह रामधुन के व्यवहारों से क्षुब्ध होकर कहने लगी- 'तो तुम अपने को बडे आदमियों में गिनना चाहते हो? धर्म के नाते चुप थी, नहीं तो कौन नहीं जानता कि तुम लोग धर्म से उतने की दूर हो जितना गाय से कुत्ता।······धर्म को तुमने तोते की तरह पिंजड़े में बंद करके अपनी बिल्ली-जैसी आंखों से डरा-डराकर अधमरा कर दिया है। वह

---

१ काका, पृ० १०५।
२ वही, पृ० ११।
३. वही, पृ० १६४।
४ वही, पृ० ११४।
५ वही पृ० ११९
६ काका पृ० १६

चाहता है कि तुम्हारे सामने से उड़ जाए और अपनी रक्षा कर ले। तुम्हीं लोगों ने तीर्थ-स्थानों में यह गन्दगी फैला·.........[१]' पिता की मृत्यु के पश्चात् असहाय कान्ता समाज के व्यवहारों से क्षुब्ध होकर नदी में डूब जाना चाहती थी, किन्तु डूबते समय वह रामधुन के स्पर्श से सहल उठी और उसकी पत्नी बन गयी। कान्ता उस समाज-व्यवस्था की सजीव नारी-पात्र है। अन्य नारी-पात्रों में गोसाइन, चम्पा आदि मुख्य हैं।

शिल्प की दृष्टि से यह अत्यन्त सशक्त उपन्यास है। डॉ० रांगेय राघव की भाषा में लोक-रंगों के उभार ने विशेष मिठास भर दी है। अनेक मंजुल-मसृण शब्द इनकी भाषा में मिलते हैं। लेखक ने अनेक आंचलिक शब्दों के प्रयोग से हिन्दी की शक्ति का विस्तार किया है। उपन्यास में प्रयुक्त देशज शब्द वातावरण की सृष्टि में सहायक सिद्ध हुए हैं। लेखक ने कुछ आंचलिक शब्दों का शुद्ध रूप कोष्ठ में दे दिया है, जिससे पाठक को समझने में कठिनाई नहीं होती। जैसे- अब की पून्यौ(पूरनमासी) को गोरधन(गोवर्धन) परिकम्मा(परिक्रमा) में चिरंजी को अचानकचक(अचानक) सौ का लोट(नोट) मिला[२]। जिन शब्दों का वास्तविक रूप कोष्ठ में नहीं दिया गया है वे सरलता से समझे जा सकते है। अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। लेखक ने कहीं-कहीं कुछ पदों का भी प्रयोग किया है। अधिकांश पद सूरदास के हैं और उनकी कुछ पंक्तियां ही दी गयी है, जिससे चरित्रों में स्वाभिकता आ गयी है। गीता के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये गये है और उनका अर्थ भी दे दिया गया है। केवल एक श्लोक का वातावरण के प्रतिकूल होने के कारण अर्थ नहीं दिया गया है। कहीं-कहीं भाषा काव्यात्मक हो गयी है। कथोपकथन की योजना अत्यन्त आकर्षक है। पात्रानुकूल भाषा लिखने में डॉ० रांगेय राघव सिद्धहस्त हैं। मनःस्थिति, परिस्थिति, शिक्षा, स्वभाव आदि से पात्रों की भाषा प्रायः अनुमोदित रहती है, अतएव चरित्र-चित्रण में योग देती है। दारोगा के द्वारा 'साले', 'हरामजादा', 'बदमाश' आदि शब्दों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक है। सामान्य व्यवहार करने में भी दारोगा आदि उक्त शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं।

सारांश में 'काका' आंचलिक उपन्यास की शिल्प-नव्यता तथा विशिष्टता को व्यक्त करने वाला एक उत्कृष्ट उपन्यास है। कथानक एवं पात्रों के व्यक्तित्व के परस्पर सामंजस्य स्थापित करने में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। उपन्यास के अन्त में लेखक ने 'बिंदिया' की मृत्यु कराकर एंव प्रमुख पात्र काका को पागल बनाकर पाठक की करुणा जगाने का प्रयास किया है और इस प्रयास में उसे पूर्ण सफलता मिली है।

कब तक पुकारूँ

कथावस्तु

उपन्यास के नायक करनट सुखराम का सम्बन्ध एक ठाकुर वंश से था। कुछ पीढ़ी पहले अधूरे किले की मालकिन ठकुराइन ने एक दरबान से अपना अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया, जिसके कारण उसकी सन्तान ठाकुर न कहलाकर नट कहलाने लगी। उसी वंश में सुखराम का जन्म हुआ। सुखराम नटों का पेशा करता हुआ भी अपने को ठाकुर समझता था। बचपन में ही माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण वह इसीला नट के साथ रहने लगा। बचपन में ही माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण वह इसीला नट के साथ रहने लगा। कालान्तर में उसका विवाह इसीला की पुत्री प्यारी से हो गया। सुखराम प्यारी के साथ गांव-गांव घूमकर खेल दिखाता था। प्यारी भी लोगों के साथ अपना मांसल सम्बन्ध स्थापित कर धन कमा लेती थी, जिससे दोनों प्रसन्न रहा करते थे। कुछ दिन पश्चात् एक सिपाही रुस्तम खां ने प्यारी को रखैल के रूप में अपने घर पर रख लिया। इससे सुखराम को अत्यन्त मानसिक पीड़ा हुई, किन्तु प्यारी से वह अपना सम्बन्ध बनाये रखा। कुछ दिन बीत जाने के बाद उसने कुर्री की पत्नी कजरी से अपना विवाह कर लिया। इस घटना से प्यारी को गहरा आघात लगा, किन्तु वह अपनी विवशता के कारण सुखराम का विरोध न कर सकी। इसी समय प्यारीऔर रूस्तम खां दोनों अत्यन्त बीमार पड़ गये। सुखराम अपनी जड़ी बूटियों से उन दोनों की दवा करने लगा। एक दिन उसने बांके से धूपो चमारिन की रक्षा कर दी, जिसके कारण बांके उसका शत्रु हो गया और उससे बदला लेने की तैयारी करने लगा। कुछ लोगों के साथ बांके ने उस पर हमला भी कर दिया, किन्तु इसमें सुखराम के साथ उसे भी गहरी चोट लगी। चमारों ने सुखराम की रक्षा की और उसे डेरे पर पहुँचा दिया। थोड़े समय में ही सुखराम पूर्ण स्वस्थ हो गया। एक दिन वह कजरी को प्यारी के पास छोड़ कर बाजार चला गया और लौटते समय उसने

---

१. वही, पृ० ६५।
२ वही पृ० ६

रोती हुई धूपो को देखा। धूपो के पास जाने पर उसे मालूम हुआ कि बांके ने उसके साथ बलात्कार किया है सुखराम के समझाने पर भी धूपो ने आत्महत्या कर ली, जिसके कारण चमारों में उत्तेजना फैल गयी। सभी लोग बांके से बदला लेने के लिए पुलिस रूस्तम खां के पास पहुँच गये, क्योंकि बांके उस समय वहीं था। रूस्तम खा और बांके दोनों शराब पीकर धूपो और सुखराम की निन्दा करने लगे। उन दोनों की नीचता से क्षुब्ध होकर कजरी और प्यारी ने क्रमशः बांके और रूस्तम खां की हत्या कर दी। इसी समय चमारों का समूह भी घर के पास आ गया और एक व्यक्ति ने उस घर में आग लगा दी, जिसके कारण प्यारी और कजरी दोनों संकट में पड गयीं। जलते हुए घर में प्रवेश कर सुखराम ने दोनों की रक्षा की और उन्हें लेकर करनटों के समूह में भाग गया। कुछ दिन बाद वह गांव की स्थिति जानने के लिए वापस आया ओर थाने में पकड़ लिया गया। थानेमे उसका परिचय करनटों के कैदी राजा से हुआ। दोनों थाने की खिड़की काटकर भाग गये। राजा ने सुखराम को अपना वजीर बना लिया। उसी समय प्यारी सख्त बीमार पड़ गयी और कुछ दिन बाद मर गयी। एक दिन सुखराम और कजरी पहाड़ पर टहल रहे थे कि उन्होंने एक स्त्री को चिल्लाते हुए देखा। दोनों ने जाकर मेम सूसन को डाकुओं से छुड़ा लिया और उसको घर पहुँचा दिया। सूसन ने प्रसन्न होकर उन दोनों को अपने यहाँ नौकरी दे दी। एक दिन सूसन के यहाँ लारेंस नामका एक अंग्रेज आया और वहीं रहने लगा। सूसन के पिता उसे पुत्रवत स्नेह देने लगे। एक दिन लारेंस ने सूसन के साथ बलात्कार किया, जिससे वह चिल्लाने लगी। उसकी आवाज सुनकर कजरी वहां पहुंच गयी और उसे छुड़ानेका प्रयास करने लगी। लारेंस ने गर्भवती कजरी के पेट में मार दिया, जिसके कारण वह बेहोश होकर गिर पड़ी कुछ देर के पश्चात् सुखराम आ गया और उसने लारेंस को पीटा। वृद्ध अंग्रेज के आने पर सुखराम ने सारी घटनाओं को व्यक्त कर दिया। वृद्ध ने लारेंस को बुरी तरह पीटकर यूरोप भेज दिया, किन्तु सूसन गर्भवती हो गयी। सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वृद्ध ने सूसन को सुखराम और कजरी के साथ बम्बई के एक अस्पताल में भेज दिया। बम्बई में कजरी की मृत्यु हो गयी और सूसन की लड़की पैदा हुई। सुखराम उस नवजात बालिका को लेकर गांव चला आया और कजरी की लड़की बताकर उसका पालन-पोषण करने लगा तथा उसका नाम चंदा रख दिया। चंदा बड़ी होने पर उस गाव के ठाकुर के लड़के नरेश से प्रेम करने लगी। ठाकुर ने चन्दा को अनेक प्रकार की यातनाएं दीं, किन्तु उसके प्रेम में कोई अन्तर नहीं आया। अन्त में सुखराम ने चन्दा का विवाह नीलू करनट से कर दिया, किन्तु वह नरेश के प्रेम में भागकर मायके चली आयी। उसी समय वृद्ध अंग्रेज का पत्र भी आया, जिससे उसे अपने जीवन का रहस्य मालूम हो गया। वह पागलों की तरह अधूरे किले में भागने लगी। अत्यन्त विक्षुब्ध होकर सुखराम ने चन्दा की हत्या कर दी, जिसके कारण उसकी सजा हो गयी। चंदा की मृत्यु से नरेश भी पागल हो गया।

रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूं' हिन्दी के समस्त आंचलिक उपन्यासों में 'थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में' के समान सबसे अलग, सबसे निराली है। राजस्थान और ब्रज प्रदेश की सीमा पर बसे बैर नामक ग्राम में और उसके इर्दगिर्द खानाबदोश जीवनयापन करने वाले जरायमपेशा नटों की बस्ती है, उपन्यास का कथानक इसी अंचलविशेष से सम्बद्ध है। इस जरायमपेशा करनटों की संस्कृति, रीति-रिवाज, विश्वास, अन्धविश्वास, नैतिकता तथा अनैतिकता का सजीव चित्रण करके लेखक ने एक नयी दुनिया का आविष्कार किया है। 'कब तक पुकारूं' का भवन बड़ा विशाल है।

प्रेमचन्द, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और नागार्जुन ने 'गोदान', 'परती परिकथा' तथा 'बलचनमा' ने उन निम्न वर्ग के किसानों का चित्रण किया है, जो जन्म से मृत्यु तक खेतों में काम करते हैं, अनाज उपजाते हैं किन्तु महाजनों और जमींदारों की शोषण-वृत्ति के कारण भूखे ही पैदा होते हैं और बिना कफन ओढ़े ही मर जाते हैं। किन्तु रांगेय राघव ने 'कब तक पुकारूं' में समाज के उस वर्ग को चुना है, जिसका अपना कोई खेत नहीं है, व्यवसाय नहीं, व्यवस्थित घर नहीं। जो चोरी करते, शहद इकट्ठा करके बेचते, खेल दिखाते और जिनकी स्त्रिया ब्राह्मणों, ठाकुरों एवं पुलिस वालों से यौन सम्बन्ध स्थापित करके कुछ कमा लेती हैं। यही उनके जीवनयापन का मुख्य साधन है। जीवन का यह क्रम कई पीढ़ियों से ऐसे ही चल रहा है, चलता रहेगा। उपेक्षित, शोषित, पीड़ित नटों की दयनीय दशा पर न तो समाज की दृष्टि गयी, न तो सरकार की। अपनी अतृप्त यौन-वासना की तृप्ति करके भी नटनियों को इकन्नी, दुअन्नी या गुड़ की भेली पर ही टरका दिया जाता है। स्वतंत्र भारत में जरायमपेशा नटों की खूब प्रगति हुई है। अब यह वर्ग गांवों या जंगलों में नहीं, बड़े-बड़े शहरों में भी बस गया है। कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली में बहुसंख्या में इन्हें देखा जा सकता है।

इस की प्रमुख समस्याएं हैं-यौन समस्या आर्थिक विषमताएं सामाजिक यातनाएं, ~~ब्राह्मण ठाकुर~~ आदि कुलीन कहे जाने वाले लोगों के अकुलीन कर्मों का विश्लेषण पुलिस का दमन और

लेखक की मान्यता है कि ईसा से पहले जैसे यूनान में 'पेगन' जातियां थीं, जो असभ्य मानी जाती थीं। उनकी औरतों में 'नैतिकता' नहीं होती। वे 'सेक्स' में आजाद होती हैं, ये जातियां सभ्यता से दूर हैं। लेखक ने इनकी नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया है, उसने यह बताने का प्रयत्न किया है कि सारा खानाबदोश समाज उत्पीड़ित, शोषित तथा दलित है। न इनके ये सामाजिक नियम शाश्वत हैं न हमारी नैतिकता के बंधन ही शाश्वत हैं। करनटों की हर लड़की जब जवान होती थी, तो उसे पहले ठाकुरों के पास रात बितानी पड़ती थी। प्यारो और कजरी ने इसी परिवेश में जन्म लिया था। इन्हीं दोनों ने उस समाज की नारी जाति का प्रतिनिधित्व किया। नैतिकता और अनैतिकता का इन्हें ज्ञान नहीं। इन्हें ज्ञान है केवल पेट का। पेट भरने के लिए जैसे गाय, भैंस किसी भी नांद में मुंह मार देती हैं, किसी भी खेत को चर लेती हैं उसी प्रकार इस समाज की नारियां पेट भरने के लिए किसी से भी यौन-सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं हिचकतीं। इनके मन में कभी यह विचार नहीं उत्पन्न होता कि ऐसा कर्म अनैतिक है। जिसे हम अनैतिक कहते हैं उसे ये स्वभावजन्य प्राकृतिक गुण मानती हैं। पातिव्रत धर्म की शिक्षा न तो इन्हें मां से मिली है, न दादी से। प्यारी सुखराम की पत्नी होकर भी कंजरों के यहां पड़ी रहती है, शराब पीती है। निरोती ब्राह्मण से एक भेली गुड़ पाने की आशा से ही मांसल सम्बन्ध जोड़ लेती है। इकन्नी-दुअन्नी लेकर ठाकुरों की वासना की प्यास बुझती है और अन्त में उनसे बदला लेने के लिए रूस्तम खां की रखैल बन जाती है। इतना सब होत हुए भी वह सुखराम की पत्नी बनी रहती है और कजरी नपुंसक निर्बल कुर्री को छोड़कर सुखराम की पत्नी बन जाती है। इन नारियों को लेखक ने सभ्यता के संसर्गजन्य दोष से मुक्त रखा है। ये तन से अशुद्ध होने पर भी मन से शुद्ध थीं। इनका जीवन लायब्ररी की खुली हुई पुस्तक के सदृश है, उसे कोई भी पढ़ सकता है। चरित्र में कोई उलझाव नहीं, दुराव नहीं। उनकी मान्यता है कि 'नाता जोड़ना और बात है, मन की होके रहना और बात है।[१]' इस प्रकार इस असभ्य समाज में 'तन' महत्वपूर्ण नहीं, मन महत्वपूर्ण है।

'कब तक पुकारूं' उपन्यास के दो छोर है एक ओर सामंती व्यवस्था और उसका उत्पीड़न दहाड़ रहा है, दूसरी ओर करनटों का विभुक्षित और उपेक्षित जीवन कराह रहा है, जिनकी स्त्रियां मानवी न होकर 'योनि' मात्र रह गयी है, जो ठाकुरों, ब्राह्मणों एवं पुलिस के सिपाहियों -सब का वासना की चासनी देकर तृप्त करती हैं और स्वयं अतृप्त रहती हैं। रांगेय राघव का सम्पूर्ण जीवन मानववादी तत्वों से ओतप्रोत था। उनकी प्रकृति की यह छाया सारे उपन्यास पर पड़ती है। इन्होंने वर्ग-संघर्ष के आर्थिक पहलू का ही उद्‌घाटन नहीं किया है, बल्कि उन परस्थितियों की ओर भी संकेत किया है,जो वर्ग-सघर्ष को जन्म देती हैं। शोषण के प्रति भयंकर आक्रोश प्रकट करते हुए लेखक का संवेदनशील हृदय मानव की दुर्बलताओं को सहानुभूतिक स्पर्श देता है। उसका विश्वास है कि 'शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। वह मिट जाएगी। सत्य सूर्य है। वह सदैव मेघों से घिरा नहीं रहेगा। मानवता पर से यह बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और नयी शरद् में नये फूल खिलेंगे।[२]'

अन्धविश्वासों की सर्दी में सिकुड़ते हुए सभ्यता की धूप से कोसों दूर नटों का यह समाज अपढ़ और अशिक्षित है। उनके स्वर में विद्रोह नहीं, समझौता है। उनका विश्वास है कि जमींदार हुकुम चलाता है ····वह हमारा बाप है, हम उसकी रियाया है। उसका काम है हमारा पेट भरना, सदा से उसके सामने सिर झुकाते ही आये हैं।[३]' इसी परिप्रेक्ष्य में सौनो अपनी बेटी प्यारीको दरोगा के पास भेजती है और कहती है कि 'मर की तबीयत आ गयी है[४]' यदि नहीं जाओगी तो वह कोड़े मार-मार तेरी और तेरे बाप की चमड़ी उधेड़ देगा।[५]' चमड़ी बचाने के लिए प्यारी को दरोगा के साथ सोना ही पड़ेगा। चोरी का इलजाम लगाकर नटों को बुरी तरह पीटना और थाने में बन्द कर देना पुलिस का जितना सहज व्यवहार था और उसे छुड़ाने के लिए उतना ही उनकी स्त्रियों का समर्पण यथार्थवादी था। पुलिस के इस अत्याचार और अनाचार से पीड़ित होकर नट सचमुच चोरी करते थे और उनकी औरतें शरीर का सौदा करके छुड़ा लेतीं। इस प्रकार सारे कथानक का स्वरूप जरायमपेशा नटों के समाज की नग्न विकृति स्थितियों, पेट के लिए तन का सौदा करने वाली युवतियों और नायक सुखराम की अनुभूतियों और संकल्पित स्वप्नदृष्टियों की झीनी चादर से ढंका गया है, जिसमें शोषण, सामाजिक-अन्याय,

---

१. कब तक पुकारूं, पृ० ४७।

२. वही, पृ० ६२८।

३. वही, पृ० ३७।

४ वही पृ० ३१।

५ वही पृ० ३१।

बुर्जुआ मनोवृत्ति एव असमानता के विरूद्ध क्रांति करने का अपरोक्ष रूप से आहवान किया गया है।लेखक की यह विचारधारा उसकी समाजवादी चेतना और मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रतीक है।

उपन्यास का नायक सुखराम करनट है। जाने या अनजाने उसक अवचेतन मन में वह बात घर कर गई है कि वह ठाकुर है। इसलिए सम्पूर्ण उपन्यास में उसका यह स्वर मुखरित हुआ है। लेखक ने झूठी कुलीनता के इस स्वर का पराभाव दिखाकर समाज पर एक व्यंग्य किया है। सुखराम कजरी, प्यारी, सूसन, चदा, नरेश आदि से अपने को ठाकुर ही बताता है। यथार्थ की शिला पर उसका परिवेशजन्य वैषम्य उसकी इच्छा शक्ति को धराशायी कर देता है। फिर भी अधूरा किला उसके मन में सदैव मॅडराता रहता है। उसकी यह इच्छाशक्ति चन्दा के मन में हूबहू उतर जाती है और ठाकुर होने की इस बलवती स्पृहा के झोंक में पहले चन्दा पागल होती हैफिर सुखराम के हाथों उसे अपना प्राण खोना पड़ता है। यहॉ पर सुखराम के मन में बना हुआ अधूरा किला धराशायी हो जाता है और लेखक की यह मान्यता प्रबल हो जाती है कि मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से बड़ा होता है।

'कब तक पुकारूं' उपन्यास में लेखक ने करनटों के समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों, अंधविश्वासों और उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। चन्दन हाड़ी चलाता है, मरघट जाता है[1]। चुडैल नंगी होकर अमावस की रात की अँधियारी में मरघट जाया करती है। तावीज देने से, झाड़ने-फूंकने से बुखार उतर जाता है। देवी-देवताओं को मनौती करने से सब सिद्धियां प्राप्त हो जाती है। सॉप का जहर झाड़कर मंत्र से उतारा जा सकता है। नटराज की अवतार की पदवी देना, बलि देना, आदि-आदि उस समाज में प्रचलित रूढियां और मान्यताएं है, जिनका चित्रण मात्र ही लेखक ने किया है। लेखक का उद्देश्य कभी भी यह दिखाना नहीं रहा कि ये रीति-रिवाज सही हैं या गलत। उसका तो ध्येय आंचलिक उपन्यास लिखना था और अंचलविशेष में प्रचलित रीति-रिवाजों का दिग्दर्शन और परिवेश में जीनेवाले करनटों के जीवन का चित्रण ही अभीष्ट है। उल्लिखित रूढियों और विश्वासों का प्रचार और प्रसार सम्पूर्ण भारत के अनेक सभ्य कहे जाने वाले नगरों या गांवों में अब भी है। मैंने अपनी आंखों से चुडैल झाड़ने वाले रोगियों और ओझाओं को देखा है। ताबीज पहनने वालों में बच्चे और बूढ़े सभी देखे जाते हैं। यहॉ तक कि 'पीलिया' का रोग, जिसे डॉक्टर औ वैद्य एक स्तर पर पहुच कर असाध्य घोषित कर देते हैं, उसे भी मैंने अपने गॉव में झाड़ते हुए देखा है और रोगी को निरोग होते हुए भी देखा है। इसी प्रकार सॉप का जहर उतारने के लिए स्वयं सांप का रोगी को निरोग होते हुए भी दखा है। इसी प्रकार सॉप का जहर उतारने के लिए स्वयं सांप का रोगी का जहर चूसते हुए देखा है। इस पर गोविन्द रजनीश लिखित 'कब तक पुकारूं' की समीक्षा[2] पढ़कर उनकी आधुनिकता पर तरस आता है। ऐसा लगता है कि रजनीशजी ने किसी गॉव को दूर से भी नहीं देखा। उनके कथनानुसार इस उपन्यास पर गोरखनाथ के परिप्रेक्ष्य में किये गये मध्यकालीन चिंतन का प्रभाव है और लेखक पर देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों का भी प्रभाव है। रांगेय राघव अपने शोध-प्रबन्ध 'गोरखनाथ और उनका युग' से प्रभावित है। आलोचक का यह छिछला निष्कर्ष अपने में नितान्त हास्यास्पद है। रांगेय राघव से सुखराम का कई वर्षों तक सम्पर्क रहा है[3] और सुखराम को भी मरे कुछ ही साल बीते है। सुखराम की सहायता से लेखक ने करनटों के जीवन के, उनके क्रिया-कलापों को बड़े निकट से देखा और उन पर मनन किया। उसने तो बड़ी ईमानदारी से उनके रीति-रीवाजों का चित्रण किया है और चित्रण इसलिए नहीं किया है कि उनके शोध-प्रबन्ध में गोरखनाथ का प्रभाव है। प्रभाव किसी का हो, किन्तु हम सत्य से मुख नहीं मोड़ सकते।

उपन्यास में खटकने वाली बात है-चंदा और नरेश की कहानी। जो इसमें अनावश्यक रूप से जोड़ी हुई लगती है। उसके हटा देने से भी उपन्यास अपने में सम्पूर्ण लगता है। मेरी मान्यता है कि सुखराम अपने को ठाकुर कहता था और उसके इस विश्वास को बल देने के लिए अधूरे किले की बात उठायी गई है। अधूरे किले के द्वारा लेखक ने सुखराम के जीवन की विडंबना का नग्न रूप चित्रित किया है। लेखक ने अधूरे किले के द्वारा इस सत्य की भी स्थापना की है कि यौन-सम्बन्ध उच्च और निम्न वर्ण दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है। ठकुराइन का सम्बन्ध किसी करनट से हो गया और उस सम्बन्ध का परिणाम सुखराम के पूर्वज है। इसी से सुखराम भी अपने को ठाकुर कहता है। वासना की सरिता ऊच-नीच के कगारों को तोड़ती हुई उद्दाम

---

१ कब तक पुकारूं पृ० २५।

२ आलोचना ३५ १९६६ पृ० १६६

३ निष्ठा रांगेय राघव अंक पृ० ११।

वेग से जब प्रवाहित होती है, तब हमारी प्रचलित कितनी ही मान्यताओं को धक्का लगता है और यह सत्य उमड़ कर सामने आता है कि -

"विद्या, नृप, युवती, लता इन्हें न सूझत जाति।
बसै जो इनके पास ही, ताही सों लपटाति।"

चरित्र

'कब तक पुकारूं' में गतिशील पात्रों को लिया गया है। इसलिए उनके जीवन के विविध मोड़ों या समय-समय पर उनकी अनिश्चित प्रतिक्रियाओं में भी मनुष्य को परखने की उत्सुकता बनी रहती है। इस कृति के प्रमुख पात्र सामाजिक समस्याओं के उद्‌घाटन के लिए वर्गगत विशेषताएं रखते हुए भी मुख्यतः व्यक्ति-चित्र हैं। व्यक्ति-चित्र किसी सीमा में बंधे हुए नहीं होते; उनमें रोचक निबधता होतो है।

इस उपन्यास में त्रिकोणात्मक प्रमुख पात्र-विधान किया गया है। सुखराम, प्यारी और कजरी के चारों ओर कथा घूमती है। इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त गौण पात्रों की भी सजीव झांकी मिल जाती है, जैसे रूस्तम खा, नरेश, इसीला, चंदन, बांके चक्खन, गिल्लन, धूपा, सूसन आदि पात्रों की चरित्र-संजीवता तथा अपना-अपना पृथक् व्यक्तित्च देखा जा सकता है। इन पात्रों के वाहय व्यक्तित्व का सबल रेखाओं से चरित्रांकन हुआ है। इससे इनके वर्ग-व्यवसाय तथा आचरण का आभास मिल जाता है।

प्यारी

प्यारी सोनी तथा इसीला की पुत्री अनेक नवयुवकों तथा दरोगा की अंकशायिनी, रूस्तम खां की रखैल एवं सुखराम की पत्नी है। रागेय राघव की प्यारी हमें प्रागैतिहासिक काल तथा ऐतिहासिक काल की उस संधि-बेला की ओर खींच ले जाती है जब नारी अपने यौवन को डिबिया में बन्द करके नहीं रखती थी। वह वन्य पशुओं की भांति स्वच्छन्द विचरण करती थी, तक किसी भी पुरुष से यौन-सम्बन्ध स्थापित करना अनैतिक नहीं माना जाता था, समाज की तर्जनी उस ओर नहीं उठती थी। आहार-विहार में वह स्वच्छन्द थी, उस युग में मा की खोज तो की जा सकती थी, किन्तु पिता को खोजना न तो अनिवार्य था न तो सम्भव। प्यारी ऐसी ही नारियों को देखकर सम्भवतः फ्रायड ने नारी मनोविज्ञान का ककहरा पढ़ा था। प्यारी के सुखराम पर उसकी मां सोजा की वासनामयी दृष्टि पड़ते ही प्यारी चौक उठती है। उसका अहं इसे स्वीकार नहीं करता कि सास अपने जामाता को वासना की लिसलिसाती नजर से देखे। 'जो मेरे इस पै तेरी आंख लगी है, नहीं रहा जाता तो किसी को कर ले। बंजर धरती तक पै किसान हल चलाता है, फिर तू तो अभी जन-जन के ढेर लगा सकती है।[१]' अपनी पैनी दृष्टि से एक इशारे पर प्यारी अपनी मां सोनो को बड़ी निर्भीकता से आगे बढ़ने से रोकती है। प्यारी के इस रूप नारी की अधिकार-भावना बोल रही है जो अपने परकीया भाव को छिपाये बिना पति को 'दक्षिण' या शठनायक होने से रोकती है। उसके स्वभाव में उगा हुआ यह नन्हा-सा अंकुर दिन दिन बढ़ता ही गया, जिसकी रक्षा में उसने स्वयं को ही उत्सर्ग कर दिया। लेखक ने भूमिका में लिखा है, 'ईसा से पहले जैसे यूनान में 'पेंगन' जातियां थीं, जो असभ्य मानी जाती थीं। इनकी औरतों में नैतिकता नहीं होती। वे 'सेक्स'(यौन सम्बन्ध) में आजाद होती हैं। 'ठीक इसी प्रकार करनटों की जाति है, जिसमें प्यारी ने जन्म लिया। उसके लिए सेक्स का बंधन नहीं है। इसीलिए उसकी मान्यता है कि 'औरत को तो औरत का ही काम करना पड़ता है-[२]' उस काम को करने में लज्जा कहां, झिझक कहां? आहार, निद्रा, भय और मैथुन की वह गुलाम है लेकिन विवेक बुद्धि कालान्तर में जागृत होती है। यौवन सावन-भादों की सरिता है जिसमें बाढ़ आने पर जीवन-तरी बार-बार डूबती'-उतराती है, इसीलिए जग 'वय नय चढ़ती बार' बहुत-से औगुन करता है और 'समझदारी आने पर यौवन चला जाता है-' इसीलिए प्यारी कहती है- 'जौवन दिखाती नहीं, दिख जाता है, उसे क्या डिबिया में बंद कर के धर लूं।[३]' अपने इस कथन में इतनी भोली और ईमानदार है कि वह अपनी बात का स्वयं ही समर्थन करती हुई कहती है- औरत के काम में औरत को सरम नहीं होती।[४]' 'उसका यौवन सबेरे का ताजा अखबार है, जिसे लोग पढ़-पढ़कर फेंक देते हैं। अखबार तो पढ़ने के लिए होता है। कल को सुबह का अखबार आने पर उसे कोई छुयेगा भी नहीं। इसी तरह प्यारी में ताजे और बासी समाचार-पत्र की गंध आती है। अखबार

---

१. *कब तक पुकारूं, पृ० ४०।*

२. *वही, पृ०४०।*

३ *वही पृ० ४०।*

४ *वही पृ० ४२।*

बासी हो जाने पर उसका मालिक उसे फाइल में रखता है, उसे फेंक नहीं देता। सुखराम ऐसा ही पति था जो अनेकों की भोग्या और रूस्तम खां की रखैल होता हुए भी उसे संभलकर संजोकर रखता है। उसको अखबार के कागज से मोह नहीं है, मोह है, उसमें छपे समाचारों से उसे प्यारी की देह से नहीं उसके शाश्वत गुणों से प्रेम है। 'प्रीत तो मन की होती है'[१] और प्यारी का यही मन सुखराम के मन से तादाम्य स्थापित कर लेता है। आश्चर्य होता है, असभ्य, असंस्कृत तथाकथित दुराचारिणी प्यारी की इस ज्ञान-गरिमा पर जब वह साधारण बोलचाल की भाषा में गीतारहस्य का उद्‌घाटन करती है। सचमुच प्यारी प्रेम की अभिनव छाया है। वह एक मशाल है, जिसमें से फरफराता उजाला निकल रहा है। सुखराम उसी आलोक से प्रदीप्त है। वह मन का प्रेम जीवन की पूर्ण तृप्ति का साधन है। समाज-गत पाप-पुण्य, मानव और उसकी परिस्थितियों की रचना है, इसमें उलझ कर वह अपनी ही अनुभूतियों से दुःख पाता रहा है।

प्यारी में स्त्रियोचित स्वाभिमान और अहंकार भी है। नटों, नटनियों या अपने समाज के लोग-लुगाइयों की बड़ी जाति के लोगों से पुलिस और दरोगा से प्रताड़ित देखकर उसमें प्रतिहिंसा की आग भभक उठती है इसीलिए रूस्तम खाँ से सम्बन्ध जोड़ती है। ऐसा लगता है कि प्यारी उस तन को, जिसका उसके समाज में कोई मूल्य नहीं है, थोड़े दिनों के लिए रूस्तम खाँ के पास गिरवी रखती है। सुखराम से कहती है, 'तू महलों का सुपना देखता है। अगर तुझे महलों में नहीं ले जा सकती तो अपने को बेचकर तुझे हुकूमत दूँगी।[२]' नारी का कितना बड़ा त्याग है! प्यारी इस चरित्र की उदात्तता के कारण कुलीन घरों की स्त्रियों की ईर्ष्या का पात्र बन सकती है। उस ठाकुर को पिटवाने के लिए, जिसने अपना मतलब निकालकर 'दुवन्नी की जगह इकन्नी दी थी' निरौती बाभन के घर आग लगवाने के लिए, जिसने अपना काम निकाल कर 'गुड़ की पूरी भेली' नहीं दी और पेशकार को मुट्ठी में करने के लिए, रूस्तम खां के पास जाती है। उसे विश्वास है कि जवानी समाप्त होने पर रूस्तम खां दूध की मक्खी की तरह उसे निकाल देगा और तब सुखराम ही उसका अन्तिम सहारा होगा। नारी-चरित्र के इस अध्याय को पढ़कर सुखराम विस्मय-विमुग्ध हो उठता है और साथ ही पाठक भी। सुखराम नेअनुभव किया कि अपनी उभरी छातियों, पतली कमर, भारी जांघों से उन्मत्त बना देने वाली नारी, नारी ही नहीं होती, वह देवी भी होती है। जाते-जाते सुखराम से कह जाती है, 'तुम पर किसी चुड़ैल की छाया नह ी पड़ने दूंगी। तुम मेरे, सिर्फ मेरे ही हो।[३]' प्यारी की प्रतिहिंसा की आग उस समय बुझती है, जब निरौत के घर में आग लगवा देती है और ठाकुरों को रास्ते का भिखारी बना देती है। रूस्तम खां की अंकशायिनी बनकर भी उसे अपने स्त्रीत्व पर गर्व है। वह नहीं चाहती कि सुखराम पर किसी और औरत का शाया पड़े। इसीलिए कजरी और उसके सम्बन्ध की बात सुनकर वह तड़प उठती है और कहती है, 'मैं तेरी कजरी को जूतों से पिटवाऊँगी। मै तुझे बाजारमें घिसटवाऊँगी।[४]' आज प्यारी के विश्वास के पैर डगमगा गये। जिस विश्वास के बल पर उसने अपने को, अपने शरीर को थोड़े दिनों के लिए रूस्तम खां के हाथों बेचा था, वह डगमगा गया। 'मैंने जो कुछ किया, तुमसे कहि कर और तुने जो किया मुझसे छिपाकर।[५]' उसे इस बात का मलाल है कि सुखराम ने उसकी 'चाहत' का भरोसा नहीं किया। प्यारी का यह रूप हमें आधुनिक युग की उन नारियों की ओर ले जाता है, जो वेश्या बनकर अपने देश की रक्षा के लिए जासूसी करती है। ये नारियां भी अभिनन्दनीय हैं, जो अपनी व्यष्टि की सीमा से निकल कर अपने को समष्टि में तिरोहित करती हैं। खुद वेश्या बनकर अपनी अनेक बहनों को वेश्या बनने से रोकती हैं। देश को आक्रमणकारियों से मुक्ति दिलाती हैं। क्या प्यारी एक ऐसी ही नारी नहीं है? इसीलिए कजरी और सुखराम का सम्बन्ध उसे असह्य पीड़ा देता है। वह अपने कलेजे में कटार भोंक लेने की भी बात करती है। कजरी और सुखराम के बढ़ते हुए सम्बन्ध को देखकर कहती है, 'मैं अब बहुत नहीं जी सकूँगी।[६]' एक बार सुजाक से पीड़ित होने पर सुखराम के स्पर्श से भी वह भागती है। सुखराम उसे गलत समझता है, लेकिन कारण का पता लगने पर वह प्यारी के इस चरित्र पर विमुग्ध हो उठता है। एक बार कजरी को लेकर दोनों में कहा-सुनी हो गयी। सुखराम कहता है, 'तुम हजार मरद कर सकती हो, मैं दो लुगाई नहीं

---

१ वही, पृ० ५८।
२ कब तक पुकारूं, पृ० ४७।
३ वही, पृ० ५६।
४ वही, पृ० ७६।
५ वही पृ० ७६।
६ कब तक पुकारूं पृ० ७७

रख सकता।[१]' इस पर प्यारी का उत्तर बड़े घर की कुलीन नारियों पर एक करारी चोट करता है। वह कहती है, 'नहीं, तू झूठ कहता है। मैंने एक किया, वह तू है। बाकी तो पैसे कमाने के लिए थे। उनको मैंने दिल नहीं दिया। पर तुमने कजरी को दिल दे दिया है। तन बँट सकता है मेरे राजा, मन नहीं बँट सकता।[२]' मजबूरी में किया गया पाप पाप, नहीं होता। यह उसकी मान्यता है। प्रश्न उठता है कि प्यारी क्या सचमुच दुराचारिणी थी? मन बड़ा है या तन? उत्तर मिलता है 'मन(आत्मा)' तन नष्ट हो जाता है, मन नहीं। मन अमर है। यदि तन से भ्रष्ट और मन से पवित्र नारी को दुराचारिणी कहा जाय, तो समाज की उन कुलीन नारियों को क्या कहा जाय, जो मन से भ्रष्ट और तन से पवित्र रहने का ढोंग करती हैं अथवा तन और मन दोनों से भ्रष्ट रहती है लेकिन कुलीनता की चादर से वे आँचल को छिपाये रहती हैं। समाज उन्हें 'निष्कलंक चाँद' समझकर प्रणाम करता है। अहिल्या और तारा को यदि दुराचारिणी नहीं कहा जा सकता तो रांगेय राघव की प्यारी को लोग दुराचारिणी क्यों कहते हैं? क्या इसीलिए कि एक ऋषि-पत्नी थी, जिसका उद्धार राम ने किया, दूसरी जरायमपेशा करनट सुखराम की पत्नी है, जो सभ्य समाज से बहुत दूर है।

एक समय की सौत कजरी प्यारी की सगी बहन से भी प्रिय हो गयी। प्यारी ने देखा कि मेरी अनुपस्थिति में कजरी ने जो सुखराम को जो सुख दिया, वह स्वयं न दे सकी। एक ही देवता सुखराम की पूजा कजरी और प्यारी दोनों करती हैं। इसीलिए तो प्यारी सुखराम से कहती है, कि तू कहेगा तो कजरी की बाँदी बनकर रह लूंगी, उसने तब मुझे सुख दिया, जब मैं न दे सकी।[३]' प्यारी और कजरी दोनों दो होकर भी कालान्तर में एक हो जाती हैं। दोनों का लक्ष्य और साधन एक हो जाता है। लक्ष्य हैं सुखराम के दुश्मन, बांके को समाप्त करना और साधक छल-बल। कजरी बांके को शराब पिलाकर मदहोश करती है और बेहोशी में ही उसे मार डालती है। उसकी चीख सुनकर रूस्तम खां परिस्थिति की गम्भीरता को सोचकर जब कजरी पर आक्रमण करना चाहता है, तो प्यारी रूस्तम खां को मार डालती है। कितनी विवशताओं के बीच में प्यारी का प्यार उमड़ा हुआ था कण-कण में वह बँधी हुई है। सुखराम उसकी सत्ता के महिमन्त गौरव को छुआ था, जो अणु से भी छोटा परन्तु महत से भी महामहिमामय था।[४] प्यारी विसंगतियों का पुंज है। यदि प्यारी के चरित्र को एक वाक्य में बाधना हो तो, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह वाक्य बहुत ही उपयुक्त ठहरता है-प्यारी 'तुम धन्य हो, तुम्हें धिक्कार है।'

कजरी

कजरी उपन्यास की दूसरी प्रमुख नारी पात्र है। इसका चरित्रांकन करते समय लेखक मनोविज्ञान के विभिन अंचलों में कजरी को घुमाता है। नारी उस नर पर आकर्षित होती है, जिसमें पुरुषत्व होता है, जिसकी आत्मा स्वाभिमान की उन्मुक्त वायु से ऊर्जस्वित रहती है। इसीलिए कजरी अपने निर्बल एवं कुरुप पति कुर्री को छोड़कर सुखराम की ओर झुकी। वह सुखराम से कहती है, 'कुर्री बुरा है। काला है। गंदा है। कमजोर है। उसे छोड़ने की बात तो ठीक है। पर तू गोरा है, ताकतवर है और देखने में कितना अच्छा लगता है।[५]' इसके पश्चात् वह सुखराम की पत्नी बन जाती है। कजरी भीप्यारी ही के समान सुन्दर है। 'कजरी गोरी तो थी, पर उसके गाल कुछ ज्यादा सूते हुए थे। वह कमर के ऊपर हल्की और नीचे बहुत भारी थी। उसकी आंखें छोटी पर लम्बी थीं। नाक में बुल्लाक पहनती, आंखों में काजल पारती। बदन पर एक ढीली कुर्ती पहनती। उसको चलने में सदा ही ठुमकने की आदत पड़ गयी थी।...... हमेशा हँसती ही रहती थी।[६]' सुखराम के साहचर्य से उसमें सेवा की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। वह सुखराम से कहती है-तू सो जा, मैं तेरे पांव दबा दूंगी।[७]' दाम्पत्य-जीवन का आधार है, पति-पत्नी का एक दूसरे के प्रति समर्पण। एकाधिक पत्नियों होने पर यह समर्पण किसी प्रकार सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिए नारियों में 'सौतिया डाह' अधिक दु:खदायी होता है। यदि कहीं पति उनमें से किसी एक के प्रति पक्षपात करने लगता है, तब तो सपत्नी का जीवन आंसुओं से भींग जाता है। कजरी भी सौत के अस्तित्व

---

१. वही, पृ० ८०।
२. वही, पृ० ८०।
३. वही, पृ० ८३।
४. कब तक पुकारूँ, पृ० ८८-८९।
५. वही, पृ० ६९-७०।
६ वही पृ० ६४
७ वही पृ० ६८

का सोच कर कांप जाती है. वह सुखराम के हृदय से प्यारी को निकाल देने का प्रयास करती है और इसी प्रयास में सुखराम को प्यारी के विरूद्ध भड़काती हुई कहती है, 'वह गद्दों पर सोती है, और तू··· यहाँ भूग के पास सोता है। दोनों ही तुम दो तरह के कुत्तों के पास सोते हो। यह वाला वफादार है, वह कटखना है।[१]' प्यारी की सम्पूर्ण गतिविधियों से परिचित होने पर वह सुखराम से कहती है, 'बड़ी जहरीली नागिन है कोई वह। दो घोड़ों पर चढ़ती है एक साथ। तुझ पर हुक्म चला रही है, हाजरी लगवा दी है सुसरी ने[२]।' सुखराम के घायल हो जाने के पश्चात् कजरी प्यारी के पास जाती है और उसके व्यवहार से सन्तुष्ट हो जाती है। कालान्तर में दोनों एक-दूसरे को गालियां देती हैं, झिड़कती है, पीटती है, फिर भी साथ नहीं छोड़तीं और एक-दूसरे के नाम की माला जपती रहती हैं। दोनों मिलकर ही बांके और रूस्तम खां की हत्या करती है। प्यारी की मृत्यु के पश्चात् कजरी को आघात लगता है। उसके करुणक्रन्दन को सुनकर एक वृद्धा कहती है, 'सौत-सौत को काटती है पर यहां दोनों ऐसे रहती थीं, जैसे बहिन हों, एक पेट की जाई भी सौत होके दुसमनाई कर उठती हैं, पर यहा तो भगवान् हार गया।[३]'

कजरी प्रकृति से कोमल किन्तु निर्भीक, लगन की पक्की, दृढ़, स्वाभिमानी एवं संयमी नारी है। अन्य नटनियों के समान वह किसी की रखैल नहीं होती, उसका आदर्श सुखराम के साथ जन्म भर निबाह करने का है। दूसरे की रखैल बनने के लिए वह स्वतंत्र है, उसके रास्ते में कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु उसकी स्वतत्रता अपने आदर्श से बाधित है। उसकी निर्भीकता, अद्भुत तेज एवं मानवतावादी दृष्टिकोण भी सराहनीय है। वह त्रस्त मेम को अपने गले लगाती हुई डाकुओं के सरदार से कहती है- 'तेरे बाप की लुगाई है जो मैं छोड दूँगी।[४]' इसके पश्चात् वह मेम सूसन के यहां नौकरी करने लगती है। कजरी के जीवन में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध होता है। यहां भी वह सूसन की रक्षा करते समय गर्भवती होते हुए भी, लारेंस की लात सहती है और कालान्तर में इसी मार के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है।

कजरी के चरित्र का निर्माण लेखक ने बड़ी ही सूक्ष्म भावना से किया है। उसका व्यक्तिगत एक ओर जहा मानवता के आलोक से प्रकाशित है, वहीं दूसरी ओर उसमें नारीसुलभ दुर्बलताएँ भी भरी हुई हैं। जिससे उसका व्यक्तित्व पूर्ण, सजीव, गतिशील एवं स्वाभाविक है। उसके चरित्र का प्रस्फुटन भी कथा के अनुकूल ही शनैः-शनैः उपन्यासकार ने किया है। उपन्यास समाप्त होने के पश्चात् कजरी हमारे मानस पर एक अविस्मरणीय चित्र अंकित कर जाती है।

गौण नारी पात्रों में धूपो और चन्दा में अधिक विशिष्टता है और उनके व्यक्तित्व की छाप मन पर पड़ती है। धूपो जाति की चमारिन है और असमय में ही विधवा हो जाती है। वह गृहस्थी का सारा कामकाज अपने कंधों पर झेलकर किसी तरह अपने दिन बिताती है। गांव के मनचले लोग उसे चैन नहीं लेने देते और उसके सतीत्व को नष्ट करने के लिए तुल जाते हैं। एक दिन बांके अपने कुछ साथियों के साथ धूपो को पकड़ लिया। 'धूपो ने चिल्लाने को मुंह खोला ही था, ठाकुर ने आगे बढ़कर उसका मुंह दबा लिया। धूपो ने उसका हाथ काट खाया। तभी तीसरे आदमी ने उसे पटक के दे मारा। खेत में गिरी। चोट-सी आई पर हरियाली में बहुत नहीं लगी। उठकर भागने की चेष्टा की। मुह खोला ही था कि मुंह में कपड़ा ठुंस गया, फिर वे तीनों भयानकता से हसे। धूपो ने अन्तिम चेष्टा की किन्तु वह छूट नहीं सकी।[५]' पातिव्रत के नष्ट हो जाने के पश्चात् वह दारुण यातना से पागल हो जाती है और कालान्तर में आत्महत्या कर लेती है। धूपो के माध्यम से लेखक ने दिखाया है कि पिछड़ी जातियों में विधवा के मन में प्राचीन संस्कार अब भी इतने प्रबल हैं कि वह पुनर्विवाह की बात सोचती तक नहीं और हताश जीवन व्यतीत करती जाती है। चन्दा एक आदर्श प्रेमिका के रूप में चित्रित है। वह नरेश के प्रति अनुरक्त है। किन्तु सामाजिक विषमताओं के कारण उसका विवाह एक अन्य करनट से कर दिया जाता है। इस विवशता में वह प्रेम त्यागने के बजाय प्राणत्याग को ही श्रेयस्कर समझती है। उसका भोला, किशोर मन नरेश के व्यक्तित्व में इतना रम गया है कि अब संसार की कोई शक्ति उसके इस अटूट लगन को नहीं डिगा सकती। लेखक ने चन्दा की प्रेम-जनित वेदना को अत्यन्त सहानुभूति और श्रद्धा से देखा है। प्रेम के

---

१ वही, पृ० ६८।
२ वही, पृ० ६१।
३ कब तक पुकारूं- पृ० ४०५।
४ वही पृ० ४६३।
५ वही पृ० २११

जातिवाद के अनन्तर लेखक ने नेताओं के नैतिक पतन एवं राजनीतिक अशान्ति की भी चर्चा की है। भारतीय शासकों की शोषण-वृत्ति अंग्रेजों से भी घातक एवं घिनौनी हो गयी है। जनता आज भी पहले ही जैसे पिस रही है। प्रो० शर्मा ने स्वतंत्रता के पूर्व एवं स्वतंत्रता के पश्चात् की स्थितियों की तुलना करते हुए कहा-'तब क्या था? खानदानों की इज्जत। रियासती षड्यन्त्र। वैभव। अंग्रेजों की खुशामद। जनता की घोर दरिद्रता। एक गुलामी और उसकी घुटन। लेकिन फिर भी उस व्यभिचार के विरूद्ध स्वर नहीं उठता था। सबमें जैसे आतंक छाया हुआ था।

अब क्या है? जनता की विक्षुब्ध लहरें। उथल-पुथल पलटते तख्त। खानदानों की छायाओं के खण्डहर। बगावत मगर बेतरतीब। लोगों में असंतोष, लेकिन स्वार्थ के रास्ते जाने की भूख। लुटेरों की पोशाक बदली, मगर उनके भीतर हैवान वैसा ही पैदा हो गया।[१]' लेखक ने नेताओं के भाई-भतीजावाद को भी उघारा है। प्रो० शर्मा ने कृष्णप्रसाद से कहा- लेखक की 'अभावों में ग्रस्त रहनेवाले जब सत्ता पा जाते हैं, तब अधिकार बनाये रखने के कौन से हथकण्डों का प्रयोग नहीं करते हैं। नई बात क्या होती है? पहले हमें राजा के रिश्तेदारों की महत्वपूर्ण खबरें मिलती थीं, अब नेताओं के रिश्तेदारों की खबरें मिलती हैं।[२]'

इस उपन्यास में लेखक ने राजनीतिक गतिविधियों को अत्यन्त ही संतुलित ढंग से व्यक्त किया है। उन्होंने न तो कांग्रेस को विकृत करके दिखाया है और न किसी दल का बढ़ाकर। यशपाल की भाँति उनका किसी दलविशेष से लगाव नहीं है। साम्यवादी दल के प्रति अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए लेखक ने उपन्यास के पात्र कृष्णप्रसाद से कहलवाया है-"कम्युनिस्ट इतने यांत्रिक क्यों हैं? क्योंकि उनका दर्शन यंत्र पर टिका है, उन्होंने यंत्र के आधार पर मनुष्य की बुद्धि को आँका है। उनके पास समृद्धि की दौड़ है, पर अधिकार की प्यास को वे नहीं जीत पाये है। जीत भी पायेंगे या नहीं, इसे कौन जानता है।"[३] इसके साथ ही लेखक ने राष्ट्रभाषा की समस्या को भी उभारा है और उसके माध्यम से नेताओं की स्वार्थमयी और सतही नीतियों का भी भण्डाफोड किया है। अनेक हिन्दी के छिछले समर्थक अंग्रेजी की ओर उन्मुख होते देखे जा रहे हैं। इस सतही नीति से देश की एकता को गहरा आघात लग रहा है। प्रो० शर्मा ने भाषाओं के सम्बन्ध में मास्टर साहब एवं कृष्णप्रसाद से कहा-"आज जो प्रचार हो रहा है, उस पर मैं विश्वास नहीं करता। इसे राष्ट्रभाषा बनाने की बात वे कहते है जो अंग्रेजी के प्रेमी हैं, इसे नहीं चाहते, पर वोट के लिए कहना पड़ता है।"[४] इस उपन्यास में लेखक ने साहित्यकारों के पारस्परिक वैमनस्य[५] पर भी प्रकाश डाला है। यह लेखक का भोगा हुआ अनुभव था, क्योंकि उसे अपने जीवन-काल में अनेक ईर्ष्यालु साहित्यकारों से जूझना पड़ा था। इन समस्याओं के अतिरिक्त ग्रामीण जीवन के अनेक अन्धविश्वासों की ओर संकेत किया गया है। लेखक की दृष्टि में इन ग्रामीण जीवन से सबंधित प्रश्नों का समाधान सांस्कृतिक है; जिसके सहारे समस्त ग्रामीण समाज को एकसूत्र में आबद्ध किया जा सकता है।

प्रस्तुत उपन्यास में लोहपीटों के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अपनी जाति की गतिविधियों को व्यक्त करती हुई लाली ने अपने पुत्र कृष्णप्रसाद से कहा-"हम घर में नहीं रहते, हम जमीन नहीं जोतते, हम टिक कर नहीं रह सकते। गाडी हमारा घर है, गाड़ी हमारा संसार है। हम लोहे में साल [छेंद] नहीं करते। हम रस्सी से कुएं में से पानी नहीं निकालते।"[६] 'कब तक पुकारूं' के नायक सुखराम की ही भाँति मोती भी अपने को ठाकुर की संतान मानता है। उसमें स्वाभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। जमींदार साहब के द्वारा पुलिस की धमकी दिये जाने पर वह कहने लगा-"तो क्या कर लोगे? हम भी ठाकुर है। चोरी का माल नहीं टिकता बाबूजी। सँभल कर बोलो। दो सौ गाड़ियाँ खड़ी हैं। एक इशारा कर दूँ तो अभी सारी पुलिस धरी रह जाएगी। हम गाँव-गाँव डोलते है।.........तुम्हारी तरह हम लोग ढोंगी नहीं है।"[७] लोहपीटों की जाति स्वतंत्रता के लिए कटिबद्ध होकर यत्र-तत्र भ्रमण कर रही है। उनके विषय में कृष्णप्रसाद ने मास्टर साहब से कहा-"आप सोच सकते हैं कि पत्तल बिछाकर राणाप्रताप खाना खाते थे। वे घास पर सोते थे। किसलिए? स्वतंत्रता के लिए।

---

१ *वही, पृ० ८१।*
२ *धरती मेरा घर, पृ० ८३।*
३ *वही, पृ० ९८।*
४ *वही, पृ० ७७।*
५ *वही, पृ० ८७।*
६ *वही पृ० १२५।*
७ *धरती मेरा घर पृ० १५६।*

कौन जाने लोहपीटे उसी मेवाड़ के राजपूत हैं। यह स्वतंत्रता के लिए भटकी हुई वीरों की एक टोली है।[1] किन्तु राजनीतिक स्वतंत्रता के मिल जाने के पश्चात् भी वे क्यों भटक रहे हैं? बात समझ में नहीं आती। संभवतया भटकना उनके जीवन का पर्याय बन गया है।

पात्र

डॉ० रांगेय राघव घटनाओं, परिस्थितियों एवं समस्याओं की ही भाँति चरित्र-चित्रण को भी विशेष महत्व देते है। इसी कारण उनके पात्र अत्यन्त सशक्त एवं प्रभावशाली हो जाते हैं। इनके आंचलिक उपन्यासों के पात्रों के संदर्भ में श्री मधुरेश जी ने लिखा है-"इन उपन्यासों के पात्र अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बन पड़े हैं; क्योंकि सामाजिक उपन्यासों के पात्र अपेक्षाकृत शहरी और ग्रामीण पात्रों के समान वे नैतिकता के कृत्रिम और स्वतः आरोपित मानदण्डों से नियंत्रित नहीं होते हैं। जीवन को उसकी समपूर्णता में जीने का आग्रह ही उनके आगे प्रमुख है। ····· उनके जीवन को उन्हीं की दृष्टि से प्रस्तुत कर देना ही लेखक को अभीष्ट रहा है।"[2] इस उपन्यास के प्रमुख पात्र प्रो० शर्मा. मास्टर किशोरीरमण एवं कृष्णप्रसाद है। इनके अतिरिक्त जमींदार बाबू रामप्रसाद, रैवत, मंगल, मोती, राजेन्द्र सिंह आदि है। गौण पात्रों को भी लेखक ने पूर्ण सहानुभूति दी है। सभी जीते-जागते व्यक्ति हैं, जिन्हें हमारी सहानुभूति अवश्य मिलती है। इस उपन्यास में किसी भी नारी-पात्र को लेखक की सहानुभूति नहीं मिल पायी है। इसलिए इनका परिचय अत्यल्प हो पाता है। कमला, लाली, चम्पा आदि गणना के पात्र हैं। नारी-पात्रों का अभाव इस उपन्यास में खटकता है।

कृष्णप्रसाद

इस उपन्यास के प्रमुख पात्र कृष्णप्रसाद को लेखक की गहरी सहानुभूति मिली है। उपन्यास में सबसे कम अवस्था का यह पात्र सबसे महान् व्यक्तित्व रखता है। जन्म के कुछ महीनों के पश्चात् ही इसके जीवन में विचित्र मोड़ आने लगे। परिस्थितियों ने इस लोहपीटा मोती के बालक को राजकुँवर बना दिया। माता के जीवित रहते ही यह मातृहीन हो गया। सत्रह वर्ष की अवस्था में इस विलक्षण प्रतिभा के किशोर ने प्रो० शर्मा और मास्टर साहब के हृदय को अपने तर्कों से आकर्षित कर लिया। इसके प्रश्नों को सुनकर प्रो० शर्मा ने कहा 'कृष्ण से प्रभावित हुआ मै। लड़का विनीत था, पर प्रश्न करता था। प्रश्न करके दूसरा प्रश्न नहीं करता था, पहले अपने पहले प्रश्न का उत्तर चाहता था। इस प्रकार पग-पग बढ़ना एक शुभ लक्षण होता है।[3]" कृष्णप्रसाद मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से परे नहीं था। उसका कवि-हृदय लोहपीटा मोती की पुत्री चम्पा की ओर आकर्षित हो गया। यहाँ भी उसके साथ जीवन की विडंबना लगी रही, क्योंकि चम्पा उसकी सगी बहन थी। सीकरी से पत्र आने पर वह अपनी घटनाओं के रहस्य को छिपकर सुन सका और उसने प्रो० शर्मा से कहा-"मैं जमींदार का बेटा नहीं, मैं एक लोहपीटे का बेटा हूँ।[4]" मेले में जमींदार साहब से भी वह लिपटकर कहने लगा-"आप लौट जाइए पिताजी आप लौट जाइए। आपके कपड़े मैले हो जाएँगे आपने मुझे पाला-पोसा पर मेरा दोष नहीं सच मैंने धोखा नहीं दिया आपको।[5]" इसके बाद चिराग बुझ गया। कृष्णप्रसाद ने अपने मानवतावादी दृष्टिकोण को मृत्युके समय अपनी डायरी में कविता के रूप में लिखा-

"अब मैं न लोहपीटे का बेटा हूँ,
न मैं किसी जमींदार का।
मैं तो इन्सान हूँ।

जब मैं आया था तब मेरी कोई जाति नहीं थी
और जब मै जा रहा हूँ, तब भी मेरी कोई जाति नहीं है
आकाश को ऐसा ही खुला रहने दो,
धरती को भी मत बाँधो,
तुमने जो बीच-बीच में दीवालें खड़ी कर ली हैं
उन्हें गिरा दो क्योंकि वह तुम्हीं ने बनाई है

---

१ वही, पृ० १६।
२. आलोचना-३१-: जुलाई १९६४, पृ० ४४।
३ धरती मेरा घर पृ० ८६।
४ वही पृ० ११६।
५ वही पृ० १५४।

आज मैं निर्मल और स्वतन्त्र हूँ क्योंकि
आकाश मेरी छत है और धरती मेरा घर..........।[१]"

प्रो० शर्मा

प्रो० शर्मा इस उपन्यास के द्वितीय महत्वपूर्ण पात्र हैं। उपन्यास में वे परिपक्व बुद्धि को लेकर एक प्रोफेसर के रूप में प्रवेश करते हैं और अपने बौद्धिक स्तर को अन्त तक बनाये रखते है। अविवाहित प्रो० शर्मा के चरित्र में कहीं भी चारित्रिक बुराई परिलक्षित नहीं होती है। उन्होंने अपने जीवन के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए कहा-"मुझे यह ध्यान सदैव रहा है कि मैं साधारण लोगों की तरह मरने-जीने को नहीं हूँ। इसी विचार मे मैंने शादी नहीं की। मैं जानता हूँ कि वह एक घिराव है। इस विचार से ही मेरा मन ऊबता था कि मैं केवल अपने परिवार के लिए जिऊँ। जाने क्यों, मेरी भावना थी कि मैं संसार में अपनी सत्ता को सार्थक करूँ।[२]" प्रो० शर्मा की विद्वता एवं उनके व्यवहार से प्रभावित होकर मास्टर किशोरीरमण, जमींदारसाहब एवं कृष्णप्रसाद उनके आत्मीय बन गये। प्रो० शर्मा के अतिरिक्त मास्टर साहब का चरित्र भी अत्यन्त आकर्षक एवं सशक्त है।

'धरती मेरा घर' प्रेमचन्द की परपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। प्रेमचन्द के पात्रों की भाँति ही इस उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र आदर्शोन्मुख है। अपनी छोटी-छोटी भूलों के लिए भी वे प्रायश्चित करते है। मंगल मृत्यु के समय कृष्णप्रसाद के जीवन के रहस्य को व्यक्त कर ही चैन लेता हैं किन्तु इस उपन्यास में 'गोदान' के होरी की भाँति कोई पात्र नहीं है। इसमें कृष्णप्रसाद, प्रो० शर्मा और मास्टर साहब के चरित्र लगभग समानान्तर ही चलते हैं। 'को बड़-छोट कहत अपराधू' की ही बात है। लेखक ने इसमें अनेक समस्याओं को उभारा है। इसलिए कतिपय समीक्षक इसे 'समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास'[३] भी कहते हैं।

कुछ समीक्षकों ने इसे आंचलिकता की दृष्टि से 'कब तक पुकारूं' से भी श्रेष्ठ घोषित किया है। 'यदि कब तक पुकारूं पूर्णतया एक आंचलिक उपन्यास नहीं है तो 'धरती मेरा घर' अंशतः इस दावे को पूरा करते हैं।'[४] औपन्यासिक कला की दृष्टि से लेखक इस उपन्यास में 'कब तक पुकारूं' की अपेक्षा बहुत पीछे छूट गया है। जो चुस्ती एवं गाम्भीर्य 'कब तक पुकारूँ' में है, उसका इस उपन्यास में अभाव-सा लगता है। इस उपन्यास में आदर्शवाद की अधिक रक्षा की गयी है।

शिल्प

शिल्प की दृष्टि से 'धरती मेरा घर' में बहुत नवीनता भी है और प्रौढ़ता भी। आंचलिक उपन्यास होने के कारण स्थानिक शब्दों एवं मुहावरों का प्रयोग किया गया है, किन्तु इनके प्रयोगों से उपन्यास में जटिलता नहीं आ पायी है। 'जिनावर, साकसात, मड़ैया, डंडौत, परफैसर, परसाद, स्वतंतर आदि शब्द प्रयुक्त किये गये है, जिन्हें पाठक सरलता से समझ लेता है। "इस सम्बन्ध में शायद एक बात कही जा सकती है कि सीमित मात्रा में शब्दों के वे स्थानीय रूप तो स्वीकृत हो ही सकते है जो उनके शुद्ध रूप के अपेक्षाकृत इतने समीप है कि शुद्ध रूप पाठक को तुरन्त सूझ जाय, ...किन्तु जो रूप इतने स्थानीय हों कि उनको समझने के लिए पीछे दी हुई तालिका देखने की आवश्यकता न पड़े, उनका प्रयोग यदि न हो तो शायद अधिक उपयोगी होगा।[५]" डॉ० रांगेय राघव ने इस तथ्य का पूर्ण पालन इस उपन्यास में किया है। लोह पीटे भी अत्यन्त देशज शब्दों का प्रयोग नहीं करते। कहीं-कहीं अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया गया है, जैसे-तकल्लुफ, मुलम्मा, मिजाज, ताज्जुब, दहलीज, एतराज आदि। कथोपकथन की योजना भी बड़ी सुन्दर हुई है। उपन्यास को आकर्षक बनाने के लिए कविताओं को भी स्थान दिया गया है। उपन्यास का अन्तिम भाग कविता में ही लिखा गया है, जो बडा ही अस्वाभाविक लगता है। इसमें एक प्रकार से कथानक के कुछ अंशों की पुनरावृत्ति की गयी है, जिससे उत्सुकता और भी क्षीण हो जाती है। यदि उक्त अवतरण को कुछ पंक्तियों में कह दिया गया होता तो उपन्यास का आकर्षण बना रहता है।

इस प्रकार 'धरती मेरा घर' हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में गौरवपूर्ण है और डॉ० रांगेय राघव की उच्च कोटि की प्रतिभा का परिचायक है। उपन्यास के अन्त में प्रमुख पात्रों की मृत्यु से अत्यन्त कारुणिक दृश्य उपस्थित हो गया है, जिसके कारण पाठकों की सहानुभूति इस कृति को अधिक मिल सकी है।

---

१ वही, पृ० १७०-१७१-१७२।
२ वही. पृ० ४८।
३ डॉ० सुरेश सिन्हा हिन्दी उद्भव और विकास पृ० ४११।
४ श्री मधुरेश की आलोचना जुलाई १९६४ पृ० ४३। ५ श्री नेमिचन्द्र जैन अधूरे पृ० ४१

अध्याय चार

समाजवादी उपन्यास

मार्क्सवादी सिद्धान्तों से प्रतिपादित उपन्यास ही समाजवादी नाम से अभिहित है। 'समाजवाद' उपन्यास से अवगत होने के लिए मार्क्सवादी जीवन-दर्शन का अध्ययन आवश्यक है,क्योंकि इसी दर्शन ने प्रगतिवादी लेखकों तथा उनकी कृतियों को अनुप्राणित किया है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व से निर्दिष्ट होती है। पार्थिव शक्तियों की अवस्थिति से विचारात्मक प्रक्रिया का जन्म होता है। अतःमूल में वस्तुवादी दृष्टिकोण का होना सर्वथा अपेक्षित है। मार्क्सवाद के अनुसार भौतिक शक्तियाँ मानव-चेतना को बदलती है और मानव-चेतना भौतिक शक्तियों को बदलती है। इस प्रकार भौतिक शक्तियों को बदलता हुआ मानव स्वयं को भी बदलता है।[1] मार्क्सवाद ने मनुष्य के सामाजिक परिवेश को ही विशेष महत्व दिया। उसमें भी उसके आर्थिक पहलू को। आर्थिक साधनों के बदलने से समाज के सम्बन्ध बदलते हैं और समाज के सम्बन्धों के बदलने से समाज की सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य में नवीनता आती है। समाजवादी उपन्यासकारों ने इसी दृष्टिकोण से समाज के यथार्थ को चित्रित किया। मार्क्स के अनुसार समाज में केवल दो वर्ग हो सकते हैं:सर्वहारा और शोषक। प्रत्येक मनुष्य को इन्हीं दो श्रेणियों में थोड़े-बहुत मात्रा-भेद के अनुसार समझना चाहिए। पूँजीवाद ने समाज के वर्ग-भेद को और अधिक विषम एवं तीव्र बना दिया है जिसके कारण एक बहुत बड़ा वर्ग आर्थिक गुलामी में ग्रस्त है। मार्क्सवाद के ही प्रकाश में हम इन सब व्यक्तियों और समाज की समस्याओं का ठीक निदान कर पाते हैं। मार्क्सवादी अपनी इस विचार-सरणि को प्रत्येक स्थान, परिस्थिति और समय में अबाध रूप से प्रयुक्त करता है।[2] एक समीक्षक का मत है कि मार्क्सवाद का जितना गहरा प्रभाव पड़ा है,आज तक उतना अन्य किसी एक विचारक अथवा चिन्तक का नहीं पड़ा। मनुष्य के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक जीवन का कोई स्तर और कोई क्षेत्र मार्क्सवाद के युगान्तकारी प्रभाव से अछूता नहीं रहा।[3]

समाजवादी यथार्थवाद के साथ-साथ एक निश्चित भाव-धारा सन्निहित हो चली है। इस प्रकार के साहित्य की उपयोगिता वही है कि इससे पूँजीवाद के विनाश और समाजवाद की विजय में योग मिल सके। इससे यह आवश्यक हो जाता है कि लेखक समाज के उन मूल तत्वों को पकड़ने का प्रयत्न करे, जिनके द्वारा समाज की क्रान्तिकारी शक्तियों को बल प्रदान किया जा सके। इन शक्तियों को पहचानने और उनका समर्थन करने वाला साहित्य अनिवार्य रूप से किसानों-मजदूरों के संघर्ष को रूपायित कर उसे बल प्रदान करता है तथा पूँजीवादी शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेन्द्रित, जर्जर, विसंगतिमय प्रवृत्तियों पर चोट करता है। इस प्रकार समाजवादी साहित्य विनाश और निर्माण दोनों को साथ लेकर चलता है। किन्तु समाजवादी समाज का यथार्थ चित्रण मात्र साहित्य नहीं हो सकता। किसी रचना को साहित्यिक बनाने वाली वस्तु मानवी विकारों का प्रत्यक्षीकरण, व्याख्या अथवा विश्लेषण है। रागात्मिकता समाजवादी दर्शन में भी साहित्य का अनिवार्य अंग है। अतः समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों में सामाजिक वातावरण में मनुष्य का मनुष्य के विकारों का चित्रण किया जाता है। अधिकांश समाजवादी उपन्यासों में सिद्धान्तों का प्रतिपादन इतना अधिक किया गया है कि उनमें संवेदनीयता क्षीण पड गयी है। इसके कारणों का विश्लेषण करते हुए एक आलोचक ने लिखा है, 'जिस जीवन का चित्रण किया जाता है उसकी प्रगाढ़ अनुभूति लेखकों को कम रहती है। सैद्धान्तिक ढंग से तो उस रचना में मार्क्सवादी दृष्टिकोण आ जाता है, किन्तु वह रचना अनुभूति के उथलेपन की वजह से जीवन्त और प्राण-स्पर्शी नहीं हो पाती।[4]"

हिन्दी में समाजवादी यथार्थवाद की विवेचना सर्वप्रथम 'प्रगतिशील लेखक-संघ' द्वारा हुई। इस संघ का प्रथम अधिवेशन श्री ई०एम०फर्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में १९३५ में हुआ। भारत में उसके दूसरे वर्ष मुंशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में उसका प्रथम अधिवेशन हुआ। प्रगतिवाद के प्रति आरम्भ में जितनी ललक कवियों की रही, उतनी उपन्यासकारों की नहीं। उपन्यासकारों के लिए यह संदेश बहुत नया नहीं था; क्योंकि उपन्यास का जन्म ही सामाजिक यथार्थ को लेकर हुआ था। यही वजह है कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए प्रेमचन्द ने कहा कि लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है, इसलिए 'प्रगतिशील लेखक संघ' में प्रगतिशील अनावश्यक है।[5]" इसके बावजूद उपन्यासकारों ने दिल खोलकर प्रगतिशीलता का

---

1 *Relf Fox-'Novel and people'*

२ *आलोचना-१३, अक्टूबर १९५४, पृ० २०४।*

३ *शिवदान सिंह चौहान, 'साहित्यानुशीलन' पृ० १४०।*

४ *Reavey Soviet Literature To-day.p.22.*

५ *आलोचना १३ पृ० २०४ २०५*

६ *डॉ० नामवर सिंह आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ० ८१-८२।*

स्वागत किया।

हिन्दी के लेखकों में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृत राय लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव एवं रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि मुख्य हैं। इनकी कृतियों में मार्क्सवादी दर्शन स्पष्ट रूप से उभर कर आया है। भारत में समाजवादी यथार्थवाद के पूर्ण प्रचलन न होने के कारण लेखकों ने उसके सिद्धांत को बौद्धिक स्तर पर ही अपनाया है, जिसके कारण उनके उपन्यासों में कहीं न कहीं कुछ कमियां अवश्य दिखलायी पड़ती हैं। किन्तु इन कमियों के बावजूद उनके उपन्यासों में समाजवादी तत्व इतने अधिक हैं कि हम उन्हें समाजवादी उपन्यासकर के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश हैं। "यशपाल का रोमाण्टिक, रांगेय राघव का आदर्शवादी तथा भैरवप्रसाद गुप्त का यान्त्रिक दृष्टिकोण उनके उद्देश्य की पूर्ति में बाधक सिद्ध होता है।[१]" गोर्की ने भी माना है कि वास्तविक व्यवहार में जो समाजवादी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ है उन्हीं के प्रतिबिम्ब के रूप में साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद विकसित हो सकता है।[२]' इस परिभाषा का तात्पर्य यही है कि यथार्थवाद समाज का वास्तविक प्रतिबिंब है और जो समाजवादी या समाजवादोन्मुख नहीं है, उसका साहित्य यथार्थवादी हो तो समाजवादी नहीं हो सकता और समाजवादी हो तो यथार्थवादी नहीं रह सकता। अतः समाजवादी साहित्य के विकास के लिए समाज की विशेष परिस्थिति-समाजवाद आवश्यक है।

सामाजिक और समाजवादी दोनों उपन्यास समाज-केन्द्रित होते है। किन्तु दोनों मे मूलभूत अन्तर है। सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक जीवन का चित्रण रहता है, किन्तु उसे देखने की कोई निर्दिष्ट दृष्टि नहीं रहती, यानी दृष्टि तो होती है किन्तु वह किसी भी प्रकार की हो सकती है। किंतु समाजवादी उपन्यासों की एक निर्दिष्ट दृष्टि होती है, वह दृष्टि लेखक की निजी दृष्टि नहीं हो सकती वह मार्क्सवादी होती है। अर्थात् मार्क्स ने सामाजिक यथार्थ का जो विश्लेषण किया है, उसे ये उपन्यास नहीं छोड़ सकते।[३]

समाजवादी उपन्यासों में प्रायः सामान्य पिसी हुई जनता और जीवन की नवीन शक्तियों के प्रति सहानुभूति तथा उन्हें स्थापित करने का भाव एवं असंगतियों से ग्रस्त, झूठी शान के गर्वीले लोगों और सड़ी-गली प्राचीन जिन्दगी के ठेकेदारों के प्रति कठोर आक्रोश दिखायी पड़ता है। इन उपन्यासकारों ने किसान मजदूर और मध्य वर्ग से अपने अधिकांश पात्रों को चुना है। धनी पात्र साम्राज्यवाद के पिट्ठू के रूप में चित्रित किये गये है। "कुछ व्यक्तिवादी और सेक्सवादी लेखकों को छोड़कर इस युग के अधिकांश उपन्यासकारों ने भरसक मध्यवर्ग की यथार्थ कमजोरियों का चित्रित करने की कोशिश की है।[४] अतः ये उपन्यास मिथ्या-आदर्श से सक्रान्त नहीं मालूम पड़ते। समाजवादी उपन्यासों में व्यक्ति-माहात्म्य की महानता न होने के कारण नायक का चुनाव करना बड़ा कठिन हो जाता है। इन रचनाओं में नायकों का स्थान समाज ने ग्रहण कर लिया है। इस धारा के प्रसिद्ध विदेशी उपन्यासकार शोलोखोव एवं इल्या एहरेनबर्ग के उपन्यासों में नायक की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। हिन्दी के समाजवादी उपन्यासों में भी प्रायः नायक की ऐसी ही दशा है।

विषाद मठ

'विषाद मठ' (१९४६) डॉ० रांगेय राघव का प्रथम मध्यमकाय समाजवादी उपन्यास है। इस उपन्यास का नामकरण बकिमचन्द्र चटर्जी के बंगला उपन्यास 'आनन्द मठ' की प्रतिक्रिया में हुआ है। यह बंगाल के अकाल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है, जिसमें लेखक ने त्रस्त मानवता का करुणापूर्ण चित्र अंकित किया है। यह एक ऐसी कृति है जो लेखक के मानवतावादी पक्ष को उसकी सम्पूर्णता में उभारती है। उपन्यास लिखने से पूर्व राघवजी ने उस क्षेत्र का दौरा कर अभिशप्त पीड़ित लोगों से सम्पर्क स्थापित किया। डॉ० रांगेय राघव अकाल के साथ फैली महामारी में जनता को डॉक्टरी सेवा अर्पित करने के निमित्त आगरा से गये डाक्टरी जत्थे के लेखक के रूप में बंगाल गये थे। इस पृष्ठभूमि पर इन्होंने अनेक रिपोर्ताज भी लिखे हैं, जिनका संकलन 'तूफानों के बीच नामक पुस्तक में हुआ है।

इस उपन्यास का कथानक तीस भागों में विभक्त है, जिसमें बंगाल की त्रस्त मानवता के चित्रण के अतिरिक्त पूँजीपतियों की नृशंस स्वार्थपरता पर निर्मम प्रहार किया गया है, जिनके निकट मनुष्य के प्राणों का कोई मूल्य नहीं। श्यामपद, वसतपद एवं इन्दु की प्रमुख कथा के अतिरिक्त भोला, शोभा, चट्टोपाध्याय, कालीपद, हरिदासी,

---

१. सुषमा धवन, उपन्यास, पृ० २८५।

२. Gorky : Literature & Life. p. 22.

३ डॉ० मिश्र हिन्दी एक अन्तर्यात्रा पृ० ११२

४ डॉ० सिंह आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ० ११५

शबनम् एव ज्योत्सना आदि की भी कहानियाँ है। इस प्रकार यह उपन्यास एक कथा-मागर बन गया है। किन्तु लेखक ने बड़ी बुद्धिमत्ता से इन सभी छोटी-छोटी कहानियों को श्यामपद की प्रमुख कथा मे सम्बद्ध करने का प्रशसनीय प्रयास किया है। बंगाल की विशाल पृष्ठभूमि पर होने के कारण उनमें एक तारतम्य है। विच्छिन्न होकर भी वे परस्पर-सम्बद्ध हैं। ये कहानियाँ कथा को विकसित करने से बढ़कर बंगाल के अकाल की दशा को प्रकट करने में अधिक सहायक है।

बंगाल के एक गाँव को केन्द्र बनाकर लेखक ने अकाल की विभीषका के विभिन्न पहलुओं का चित्रण किया है। एक मुट्ठी अन्न के लिए घर, खेत, शरीर के बेचने का यह वर्णन अपने कटु यथार्थ में अत्यन्त दर्दीला है। पेट की ज्वाला के आगे स्नेह एवं नैतिकता के सभी बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। मनुष्य की मनुष्यता समाप्त-सी हो जाती है। भूख से तड़पते सर्वथा निरुपाय जन-समुदाय का जीवन एक क्रूर अभिशाप बन गया है। चटगाव के लोगों के हाहाकार को सुनकर श्यामपद अपने पुत्र से कहता है, "कुछ भूखे भिखारी हैं जो जंगल में घास और पेड़ों की छालें खाने के लिए इकट्ठी कर रहे है। आज उनके पास खाने को कुछ नहीं बचा है, इसलिए जगल में भटक रहे हैं। उनका जीवन एक पाप ही है। पेट के लिए आदमी क्या नहीं करता? खाने को चावल नहीं मिलता, दाल नहीं मिलती। पहले मौत सताती थी, अब जिन्दगी सताती है।[१]" अन्न तथा धन के अभाव के कारण लोगों के तन जर्जर और मन क्लान्त हैं। एक सर्वग्रासी विषाद की गहन कालिमा बंगाल के सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त हो उठी है। लोग गांवों को छोड़कर शहरों में भाग रहे है, किन्तु वहाँ भी हाहाकार ही मचा हुआ है। ढाका से लौटने पर वसंतपद ने कलकत्ता में देखा- "ईट-ईट भूखी थी, कण-कण भूखा था। चारों ओर भूखे-ही-भूखे थे। हरएक के मुँह से मै भूखा हूँ, मैं भूखी हूँ की अनन्त हाहाकार भरी ज्वालामुखी अपनी लपटों को धधका रहा था।[२]" निराश्रय, साधनहीन, नारियाँ साधन-सम्पन्न वर्ग द्वारा लुटी जा रही है। अनेक लड़कियाँ भूख की ज्वाला से तड़प कर वेश्या बन रही हैं। कुछ भूख के कारण अपने बच्चों को बेच रही है। इसमें नग्न-नारियों का भी चित्रण है, किन्तु उनकी नग्नता अपनी चरम विवशता में करुणा का उद्रेक करती है। कामुकता तो उस करुणा के आवेग से पूर्णतया लुप्त हो जाती है। दलित-पीड़ित दीन-दुखियों के आर्तनाद से बंगाल का सारा वातावरण कराह रहा है, किन्तु पूँजीपतियों पर कोई प्रभाव नहीं है। इसके विपरीत उनका शोषण-कार्य और तेजी से बढ रहा है। सारा चावल गोदामों में छिपा दिया गया, जिसके कारण दाम तेजी से बढ़ रहा है। इस प्रकार लेखक ने पूँजीपतियों के शोषण की निन्दा कर अपनी समाजवादी चेतना को स्पष्ट किया है। "प्रगतिवादी रचना का उद्देश्य समाज-व्यवस्था में उस विषमता की ओर संकेत करना है, जिसके फलस्वरूप मानव पशुओं मे भी हीन तथा दीन बन गया है।[३] इस कृति में आदि से अन्त तक करुणा की अविरल धारा बहती है। इस उपन्यास में लेखक ने राजनीतिक आक्रोश और पूर्वाग्रह से मुक्त होकर बंगाल की त्रस्त मानवता का रुला देनेवाला चित्र उरेहा है। यह समाजवादी उपन्यास होकर इस अर्थ में ऐतिहासिक है कि इसमें बंगाल में पड़े ऐतिहासिक अकाल का यथार्थ चित्रण है। इसके पात्रों के नाम भले ही काल्पनिक हों, परन्तु घटनाएँ दुर्भिक्ष एवं अन्य अपेक्षित तत्व सत्य है।[४] लेखक ने स्वयं लिखा है, "प्रस्तुत उपन्यास तत्कालीन जनता का मच्चा इतिहास है। इसमें एक भी अत्युक्ति नहीं, कहीं भी जबर्दस्ती अकाल की भीषणता को गढ़ने के लिए मनगढ़न्त कहानी नहीं।[५]" अंचल विशेष की प्रमुखता होने के कारण एक समीक्षक[६] ने इसे आंचलिक उपन्यास की संज्ञा देने का संकेत किया है, किन्तु इसमें आचलिक उपन्यास के पूर्ण तत्व नहीं पाये जाते। इसकी क्षेत्र-सीमा अधिक व्यापक है। भाषा की दृष्टि से इसमें आचलिकता नहीं है। कहीं भी बंगला के शब्दों का प्रयोग नहीं है। इस उपन्यास में लेखक ने हिंसक क्रान्ति का विरोध किया है। विध्वंसक क्रान्ति का समर्थक अरुण कहीं भी लेखक की सहानुभूति नहीं पाता है। वह भूख-पीड़ितों कीसहायता न कर उन्हें लूटने-जलाने की सलाह देता है। वह भिखारियों से कहता है, "वह देखो, खडी है न सेठ की इमारत!इसमें हजारों मन चावल भरा है। लूट लो उसे। हजारों मन चावल है उसके पास, हजारो मन........।[७]" अरुण के विपरीत इकबाल लोगों की नि.स्वार्थ भाव से सेवा कर जात-पाँत का विरोध करता

---

१ *विषाद-मठ, पृ० १५।*

२ *वही, पृ० १५, १६।*

३ *डॉ० सुषमा धवन हिन्दी उपन्यास, पृ० ३१५।*

४ *साहित्य-संदेश. जनवरी-फरवरी. १९६३. पृ० २७३।*

५ *विषाद मठ दो शब्द।*

६ *डॉ० गणेशन हिन्दी साहित्य का पृ० १४६।*

७ *विषाद मठ पृ० १०१।*

है। अरुण की नीतियों से मिलती-जुलती नीतियाँ आज के नक्सलवादियों की हैं, जो हिंसा के आधार पर समता का स्वप्न देखते है। इस प्रकार की नीतियां सदैव बड़ी घातक रही हैं।

चरित्र

विषाद मठ में नायक का चुनाव करना अत्यन्त कठिन है। इसमें बंगाल की भूखों मरती जनता ही एक मात्र के रूप में साकार होकर आयी है। यही कारण है कि उपन्यास में पात्रों का भारी जमाव है, जो मनुष्य के अनेक रूपों को उद्‌घाटित करते हैं, सामाजिक विसंगतियों को प्रकट करते हैं। पुरुष पात्रों में श्यामपद, वसंतपद भोला, शोभा, चट्‌टोपध्याय, रुद्रमोहन, चन्द्रशेखर, कालीपद, अब्दुलशकूर, अमिताभ, इकबाल, अरुण एव किशोर आदि प्रमुख है। इनमें श्यामपद का चरित्र अन्य पात्रों की अपेक्षा उपन्यास में अधिक चर्चित है। चटगाँव का यह किसान बडा ही स्वावलंबी और स्वाभिमानी है। शिशिर की मृत्यु के पश्चात् उसका जीवन उजड़ जाता है, किन्तु वह बड़े धैर्य के साथ परिवार का पालन-पोषण करता है। अकाल के समय वह विवश होकर चट्‌टोपध्याय के हाथ जमीन बेचकर घर लौटता है और चिन्ता के अथाह सागर में डूब जाता है। जी-जान से वह इन्दु की रक्षा करता हुआ वसंतपद को ढूढ़ने के लिए ढाका जाता है। इन्दु के बिछुड़ जाने पर वह विक्षुब्ध होकर रहमान के साथ घूमता है। अन्त में वह मूर्छित होकर गिर पड़ता है और गीदड़ उस पर टूट पड़ते हैं। गीदड़ों के दाँत लगते ही वह पीड़ा से चिल्ला उठता है और सदा के लिए संसार को छोड़ देता है। लेखक ने श्यामपद के माध्यम से एक अकाल पीड़ित व्यक्ति का बड़ा ही कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया है।

उपन्यास का दूसरा चर्चित पात्र श्यामपद का छोटा लड़का वसंतपद है। वह बत्तीस वर्षीय युवक असमय ही बीमारियों का केन्द्र बन जाता है। पिता की अनुमति लेने के पश्चात् वह ढाका जाकर चन्द्रशेखर की दुकान पर काम करता है, किन्तु रुग्ण चन्द्रशेखर की पत्नी लावण्यमयी के कारण उसके जीवन में एक नया मोड़ आता है। लावण्यमयी की भुजाओं में बँधकर वह अपना धैर्य छोड़ देता है। कालान्तर में उसे दुकान से निष्कासित कर दिया जाता है। वह नौकरी की तलाश में ढाका से कलकत्ता चला जाता है, किन्तु अकाल के प्रकोप के कारण उसे कहीं भी नौकरी नहीं मिलती। वह यहाँ भी सुन्दो नामक एक स्त्री की माया में फँस जाता है। एक दिन सहसा इन्दु को वेश्या के रूप में देखकर वह बड़बड़ाता हुआ कहता है, "वेश्या! इन्दु! इन्दु! वेश्या![1] घूम गये दो शब्द सिर में तेजी से और वह चक्कर खाकर गली में गिर गया।"[2] इसके पश्चात् वह एक सरकारी अस्पताल में भर्ती होकर अंतिम साँसें गिनता है।

वसंतपद एक सजीव पात्र है और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया उस पर होती है। वह उन्हीं परिस्थितियो के अनुसार ढलता जाता है। उसके जीवन का अन्त प्रेम के कारण नहीं, संघर्ष के कारण होता है। उसके चरित्र के मनोवैज्ञानिक पहलू को लेखक ने बड़ी सफलता के साथ रखा है।

इकबाल उपन्यास का एक जीता-जागता पात्र है। वह असीम साहस और जीवट का व्यक्ति है। वह एक प्रकार की कटुताओं और बाधाओं को सहन कर सघर्ष में रत रहता है। उसमें पुरुषत्व और सामर्थ्य है तथा मानव-सुलभ कोमलता और सहृदयता भी। अकाल से पीड़ित व्यक्तियों की जितनी वह सहायता करता है, वह स्तुत्य है। यद्यपि उपन्यास में उसे बहुत कम स्थान मिला है, किन्तु उसे साथ लेखक की गहरी सहानुभूति है। उसमें मानवता के गुण उभर कर आये है। इसके ठीक विपरीत चट्‌टोपध्याय और अमिताभ का चरित्र है। दोनों पूँजीपतियों के प्रतिनिधि हैं और मानवता के शत्रु।

नारी पात्रों में इन्दु का चरित्र अधिक व्यापक है। वह शिशिर की एकमात्र पुत्री है। शिशिर की मृत्यु के पश्चात् श्यामपद ही उसका पालनपोषण करता है। अकाल के समय इन्दु बाबा के साथ ढाका चली जाती है। बाबा के चले जाने पर वह वृद्धा द्वारा ठगी जाती है। यहीं उसके जीवन में एक अप्रत्याशित मोड आता है। वह कलकत्ता में वेश्या हो जाती है और जीवन के दूसरे अनुभवों से गुजरती है। वह भोलेपन के कारण अपने सारे रहस्य एक अन्य वेश्या साधना से बता देती है। साधना में नारीसुलभ दुर्बलताएँ अधिक हैं। वह इन्दु के रूप से ईर्ष्या करती है। इसलिए एक बीमार व्यक्ति से उसका मांसल सम्बन्ध स्थापित करा देती है, जिससे इन्दु एक भीषण रोग में फँस जाती है। इसके साथ ही साधना वृद्धा से शिकायत कर उसे घर से भी निकलवा देती है। यहीं से इन्दु के जीवन में पुनः एक मोड़ आता है। भीषण रोग के कारण वह सड़कों पर अत्यन्त दु खद जीवन व्यतीत करती है।

---

१ विषाद मठ पृ० ८८ ८९

२ वही पृ० १६६

लेखक ने इन्दु के चरित्र को बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से निर्मित किया है परिस्थिति-जन्य कमजोरियाँ को देखकर भी हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। इन्दु हमारे मन पर अपनी छाप छोड़ जाती है इन्दु के अतिरिक्त गौरी, शबनम, हरिदासी, ज्योत्सना, लावण्यमयी, साधना, कमला, नीलिमा आदि मुख्य पात्र हैं, जो उपन्यास के कथानक को अग्रसर करने में प्रशंसनीय योग देती हैं।

शिल्प

जहाँ तक उपन्यास के शिल्प और स्वरूप का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि यह डॉ० रांगेय राघव के अन्य उपन्यासों की परंपरा में ही है। इसमें वर्णनात्मक शैली अपनी पूरी गरिमा के साथ उभरी है। उपन्यास को रचने, सँवारने और उसे रोचक बनाये रखने की अपार क्षमता डॉ० रांगेय राघव में है। इसके छोटे-छोटे वाक्य वाह्य परिस्थितियों को ही व्यक्त नहीं करते, लेखक के भाव-वेग को भी व्यंजित करते हैं। पाठक का भावावेग भी उससे संतुलित हो जाता है और अति तीव्र टैम्पो का आभास होता है। लेखक अवसर के अनुकूल भाषा का प्रयोग करने में सिद्धहस्त है। व्यंग्य में भाषा की वक्रता, वाक्य गठन में स्वर की दृढ़ता, गम्भीर स्थिति में सांकेतिकता और अर्थगौरव के साथ ही नाटकीयता, चुटीले और चटकीलेपन के कारण उनके कथनों में स्वाभाविकता और आकर्षण दोनों का समावेश हुआ है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'विषाद मठ' देश की एक बड़ी घटना को लेकर लिखा हुआ एक महान् उपन्यास है। आश्चर्यजनक संयम के साथ लेखक ने कतिपय यथार्थ चित्रों को प्रस्तुत किया है। कहीं भी ऐसा नहीं हुआ है कि लेखक ने तल्लीन होकर कुरुचि और कुत्सा को उभारा हो।

"सीधा सादा रास्ता" (१९५१) डॉ० रांगेय राघव का एक वृहद् कार्य समाजवादी उपन्यास है। यह उपन्यास भगवतीचरण वर्मा के "टेढ़े-मेढ़े रास्ते" के प्रत्युत्तर में लिखा गया है। लेखक ने स्वयं लिखा है, "मैंने भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के आगे इसे लिखा है। मेरा उपन्यास अपने आप में स्वतंत्र है। इसका केवल एक सम्बन्ध अपने पूर्ववर्ती उपन्यास से है कि मेरे पात्र, उनकी परिस्थितियाँ, सामाजिक व्यवहार, घर भूगोल सपत्ति सब वही है, जो 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में हैं। कहानी अब आगे चलती है। इन पात्रों का अतीत 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की कहानी है, वह सब गुजर चुका है। जब उसकी आवश्यकता पड़ती है, तो वह चिंतन बनता है, पूर्वस्मृति बनती है। मैं नहीं कह सकता कि मैंने पहले उपन्यास का उत्तर लिखा है। किन्हीं विशेष पात्रों, परिस्थितियों का वर्माजी ने अपने अनुकूल एक विशेष चित्रण किया है। मैं समझता हूँ, उसमें कुछ विकृतियां हैं। मेरी राय में इन्हीं पात्रों का असली चित्रण नहीं हुआ। वह अब मैंने अपने अनुकूल किया है। वह विचारों का संघर्ष है।'[1] हिन्दी उपन्यास के इतिहास में यह एक नया प्रयोग है, जिसमें उपन्यास के माध्यम से अन्य उपन्यास में व्यक्त जीवन-दर्शन की आलोचना प्रस्तुत की गयी है। दोनों उपन्यासों के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। वर्माजी ने विभिन्न पार्टियों के संगठन की शिथिलताओं की ओर विशेष ध्यान दिया। इन शिथिलताओं, दोषों, त्रुटियों और अपराधों के बीच में भी जो महान् शक्ति जागृत होकर काम कर रही थी, जो आवेश सम्पूर्ण भारत में व्याप्त था, उसको वर्माजी ने नहीं पहचाना। अतः उनके कांग्रेसी, कम्युनिष्ट, आतंकवादी, किसी का मार्ग सीधा नहीं है, सब पराजय को स्वीकार करके विदेशी शासन और उससे जनित सभी दुर्व्यवस्थाओं को रहने देते हैं। इस प्रकार उपन्यास निराशावादी बनजाता है। किन्तु डॉ० रांगेय राघव ने जन-चेतना को समझा है। अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध सम्पूर्ण जनता में जो चेतना आयी थी, उसको उन्होंने स्पष्ट किया है, जिसके कारण उपन्यास का मूल स्वर आशावादी हो गया है। नर्तकी नीरा के सद्व्यवहारों को देखकर दयानाथ को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। इस पर इनके चाचा श्यामनाथ ने कहा, 'दुनिया में अभी इन्सानियत बाकी है। जिस दिन वह कहीं भी नहीं मिलेगी, उसी दिन हम एक-दूसरे का गला घोटकर हत्या करने लगेंगे।'[2]

'सीधा सादा रास्ता' अपने दो खण्डों में देश की स्वतंत्रता की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि तथा जीवन-दर्शनों को प्रस्तुत करता है। मानव-स्वभाव के अनगिनती रूपों के दर्शन इनके इस उपन्यास में होते है, विशेषकर जीवन की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को बड़े विस्तार से अंकित किया गया है। पहले खण्ड में नवाब अजीज बहादुर खैरा की सामाजिक, राजनीतिक जिन्दगी के टूटने, बिखरने और चूर-चूर हो जाने का वर्णन है। खोखली सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए नवाब लाखों रुपया कर्ज लेकर मछली का विवाह[3] रचाता है। इसी विवाह

---

१ सीधा सादा रास्ता, दो शब्द।

२ सीधा सादा रास्ता पृ० ४२३।

३ वही पृ० ३६।

के समय उसकी तीनों पत्नियाँ षड्यन्त्र रचकर सारा धन हड़प लेती है और नवाब को पागल घोषित कर देती हैं। नवाब के असन्तुलित हो जाने पर वे अपना मांसल सम्बन्ध अन्य लोगों से स्थापित कर लेती है। लेखक ने इस प्रकार के राजघरानों में व्याप्त अनैतिकताओं और विलासिताओं का अनेक स्थलों पर पर्दाफाश किया है। यह वर्णन इतना यथार्थ है कि इससे एक पूरे युग का विवरण मिल जाता है। इसी खण्ड में पण्डित रामनाथ की कतिपय गतिविधियों के अतिरिक्त उनके मझले पुत्र उमानाथ के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जर्मनी जाने के पश्चात् उसके मस्तिष्क में साम्यवादी भावना तो घर कर जाती है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में उसे चरितार्थ करने में वह असफल हो जाता है। नीरा के मांसल सौन्दर्य पर लट्टू होकर वह विलासिता के कीचड़ में बुरी तरह फँस जाता है। निस्संदेह पहले खण्ड के इन जीवन-चित्रों में मार्मिकता, स्वाभिकता अधिक है। स्थान-स्थान पर ऐसी कचोट और व्यथा है, जिसे एक कलाकार ही देखकर उजागर कर सकता है। दूसरे खण्ड में तत्कालीन जागृति का चित्रण और स्वतन्त्रता के लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा है। इस खण्ड में घटनाओं की उग्रता और तीव्रता अधिक उभर कर सामने आयी है। कथा और प्रसंगों के अनगिनती सूत्र उलझे दीख पड़ते है, जिसमें गहनता की अपेक्षा फैलाव अधिक है।

आलोच्य कृति में राजनीतिक प्रश्नों का बड़ी गहराई के साथ विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें पूर्वाग्रह एवं भावुकता को कहीं भी स्थान नहीं मिला है। इन्होंने विभिन्न पार्टियों के सिद्धान्तों की निष्पक्ष व्याख्या की है। गांधीवादी आदर्शों को स्वीकृत कर असीम, आस्था के साथ गुलामी की श्रृंखलाओं को तोड़ने का प्रयत्न करती हुई जनता के हृदयों को उन्होंने समझा और इस उपन्यास में प्रदर्शित किया। गाधीजी के संकेतों पर ही जनता ने सरकार के नियमों का विरोध किया। इन्द्रभान गांधीजी के कानून विषयक मतों को व्यक्त करता हुआ कहता है, कि "गांधीजी स्वयं कहते है कि वे कानून को नहीं मानते। आजाद हिन्दुस्तान मे सबसे पहले इस कानून को बदला जाएगा, क्योंकि यह कानून अंग्रेजों और उनके पिट्ठुओं के फायदे का है। जो इससे असहयोग नहीं करता वह देश की स्वतन्त्रता नहीं चाहता। अगर यह कानून जैसा का तैसा हमारे काम में आ सके, तो फिर अंग्रेजों से लड़ने की हमें क्या जरूरत?"[१] महात्मा गांधी के अस्पृश्यता आन्दोलन का भारतीय जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ता है जिसके कारण लोगों में मानवतावादी स्वर मुखरित होने लगता है। जनता एक साथ ही देश की सामाजिक और राजनीतिक दोनों समस्याओं को सुलझाने के लिए उद्यत हो जाती है। भगवतीचरण वर्मा के फैसिज्म क विरुद्ध डॉ० रांगेय राघव ने जनता का समर्थन किया है। जनता में मानवीय चेतना, आजादी से जीवन विताने की आकांक्षा, संगठन करने और लड़ने की क्षमता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का कुछ न होगा वाला दर्शन इनमें नहीं है। जनता में प्रगति करने की आस्था और विश्वास है। महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धान्तों की बड़ी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। अहिसा के पक्ष में मार्कण्डेय अनमोल तर्क प्रस्तुत करता हुआ कहता है, कि "हमारी अहिंसा तो हमारी ताकत की निशानी है कि जो अत्याचार करता है वही कमजोर है। उसमें पशुत्व नहीं पाशविकता है। आदमी में सिंहपन और भेड़ियापन हो तो हमें उसे गोली मार देने का अधिकार नहीं है। हमें उसे उसके पापों से छुटकारा दिलाना चाहिए।"[२] गांधीवाद की इतनी व्याख्या प्रस्तुत करने पर भी पूरे उपन्यास में लेखक का मत मोटे तौर पर समाजवाद का समर्थक है।

लेखक ने एक ओर मार्क्सवादी सिद्धान्तों को आत्मसात् किया है और दूसरी ओर शोषित जीवन का उनको गहरा व्यक्तिगत अनुभव है तथा उससे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए ये यथार्थ के क्रान्तिकारी पक्ष को पहचानते है तथा जीवन की उन शक्तियों को उभारते हैं, जिनसे समाज में विषमता दूर होगी, रूढ़ियों का नाश होगा और मानव का विकास होगा। यथार्थ की भूमि पर इन्होंने कहीं-कहीं महात्मा गांधी के अतिशय आदर्शवादी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। ब्रह्मदत्त स्टालिन और महात्मा गांधी की तुलनाकरता हुआ कहता है, कि गांधी टाल्सटाय की भाँति है, आदर्शवादी है, स्टालिन को अपना जैसा आदमी समझता हूँ। गांधी बनने के लिए कुछ अद्भुत होने की भी आवश्यकता है। फिर गांधी कल्पनालोक में भी रहते हैं। वे समझते है कि यहाँ पूँजीवादी देशों होने के कारण भले है।"[३] इस प्रकार इस उपन्यास में एकांगी सिद्धान्तवादिता नहीं आ पायी है। जिन्दगी के प्रस्तुतीकरण में एक समर्थ लेखक अपनी वस्तुनिष्ठा को बनाये रखकर ही विचारधारा विशेष को कलात्मक रूप में स्थापित कर पाता है। कम से कम महान् लेखक और महान् कृति में यह अनिवार्य हैं 'सीधा

---

१. सीधा सादा रास्ता, पृ० ३७२।

२. वही, पृ० ३७४।

३ वही पृ० २८०

सादा रास्ता इस कसौटी पर बड़ा खरा उतरता है स्वयं लेखक ने सिद्धान्तवादिता के संदर्भ में अपना मत प्रस्तुत किया है, "यदि सीधा सादा रास्ता को कोई गौर से पढ़े तो देख सकता है कि उसमें गांधीवाद का विश्लेषण कम्युनिस्टों वाला नहीं लिखा गया। मार्क्स से जो मुझे लेना था, वही मैंने सदैव किया जैसे अन्यों से बहुत कुछ लेने योग्य लिया है।"[1] इस कृति में लेखक ने मजदूर-आन्दोलन पर भी प्रकाश डाला है। इन्होंने इस तथ्य पर बल दिया है कि संगठित मजदूर वर्ग ही क्रान्ति की सही अगवाई कर सकता है।[2] मजदूर नेता ब्रह्मदत्त रूस के मजदूरों की सफलताओं का प्रकाश डालता हुआ कहता है, उन्होंने वहाँ लड़कर अपना राज कायम कर किया है। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की यही सबसे बड़ी कमजोरी है कि यहाँ मजदूर-आन्दोलन मजबूत नहीं है और राष्ट्र के नेता वही है जो मजदूर को नौकर ही समझते हैं।[3] मजदूरों के प्रति साम्राज्यवादियों के बर्बर व्यवहारों का बड़ा नग्न चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है।हड़ताल के समय ब्रह्मदत्त मजदूरों की सभा बुलाता है और कांग्रेसी पूँजीपतियों से सावधान रहने की चेतावनी देता है। उसी समय पुलिस उन पर गोली चलाती है, जिससे पैंतालीस मजदूर मारे जाते हैं और असंख्य घायल हो जाते हैं, किन्तु मजदूरों का आत्मबल कम नहीं होता।

लेखक ने इस उपन्यास को 'सीधा-सादा रास्ता' कहा है। इन्होंने यह मानकर लिखा है कि सामन्ती संस्कारों के प्रतीक रामनाथ से मुक्त होकर उसके लड़कों द्वारा अपनाये गये रास्तों को जो भगवती बाबू ने टेढ़े मेढ़े रास्ते कहा है, वही तो सीधे-सादे रास्ते हैं। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के रहस्य को उद्‌घाटित करता हुआ ब्रह्मदत्त कहता है, "पैसे वालों के गुलाम जो रोटी-कपडे पर ईमाना बेच देते हैं, हमेशा वही लिखते है जिससे आदमी टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर भटकता रहे, उसे सीधा-सादा रास्ता दिखायी देना बन्द हो जाय ईमान बेचनेवाले, चेतनाहीन, कुत्ते गद्दार इन्सानियत के सबसे बड़े दुश्मन, उनकी कुरुप आत्मा कोढ़ की तरह गलने लगी है।"[4] सच्चा साहित्यकार समाज का अगुआ होता है और वहीसमाज में चेतना लाता है।

'सीधा-सादा रास्ता', 'गोदान' की परम्परा में सामाजिक यथार्थ के चित्रण का एक उत्कृष्ट साहित्यिक आयोजन है। इसमें लेखक की यथार्थवादी विचारधारा व्यापक रूप से चित्रित हुई है। प्रस्तुत उपनयास में घटना-विधान, दृश्य-विधान, पात्र एवं परिस्थितियाँ सभी कुछ अत्यन्त यथार्थवादी हैं। जीवन और समाज से सम्बन्धित जितनी भी परिस्थितियों का चित्रण किया गया है, वे सब यथार्थ हैं। ये यथार्थवादी चित्रण बड़े मार्मिक और सजीव है।

चरित्र

डॉ० रांगेय राघव की सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि वे पात्रों का चित्रण करते समय किसी दल के दृष्टिकोण को नहीं अपनाते, किसी पूर्वगृहीत आदर्श के मापदण्ड से पात्रों को नहीं नापते। जहाँ कहीं किसी आदर्श या सिद्धान्त का समर्थन या विरोध किया गया है, वह पात्रों के मुँह से कराया गया है और वह पात्रों की प्रकृति के अनुकूल भी है। लेखक की इस निष्पक्षता के कारण पात्र अत्यन्त यथार्थ बन गये हैं। इसके विपरीत 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में भगवतीचरण वर्मा ने अपने मत के समर्थन में साम्यवादी पात्रों को तोड़-मरोडकर विकृत रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें भारत के राष्ट्रीय वातावरण की उथल-पुथल का चित्रण किया गया है। इनमें समाविष्ट घटनाओं में किसी व्यक्ति का विशेष महत्व नहीं है। इसलिए सभी पात्र अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व लेकर उतरे है।

पण्डित रामनाथ तिवारी, बानापुर के लब्धप्रतिष्ठ जमींदार हैं। तिवारीजी के अकड़ और प्रतिष्ठा भारतीय जमींदारों की मनोवृत्ति की परिचायक है। वे टूट जाना चाहते हैं, किन्तु झुकना उन्हें पसन्द नहीं है। पण्डित रामनाथ तिवारी ब्रिटिश शासन में अपने वर्ग को सुरक्षित समझकर सरकार के विरुद्ध होने वाले हर आन्दोलन का विरोध करते हैं। पर वे स्वयं बड़े अभिमानी हैं और यह समझते हैं कि सरकार का अस्तित्व जमींदारों के कारण है। उन्होंने डिप्टी कमिश्नर से साफ-साफ कह दिया है कि ब्रिटिश सल्तनत की जड़ें ताल्लुकदारों और जमींदारों ने मजबूत की हैं। आपको यह हमेशा ख्याल रखना चाहिए।"[5] किन्तु उनकी अकड़, उनका स्वाभिमान, उनकी

---

१ साहित्य-संदेश, जुलाई-अगस्त १९५६, पृ० ८७।

२ सीधा सादा रास्ता, पृ० २८६-८७।

३ वही, पृ० २८८।

४ वही, पृ० २१८।

५ सीधा-सादा रास्ता पृ० ४६।

बराबरी, उनका गौरव सब अंगरेजों ने अटूट स्वामिभक्ति और वफादारी के रूप में लिया। तिवारीजी में समाज राष्ट्र एवं मानवता के प्रति कोई प्रेम नहीं है। साम्राज्यवाद के प्रति वे पूर्ण समर्पित हैं और उसकी रक्षा के लिए वे किसी भी प्रकार का त्याग करने को तैयार हैं। साम्राज्यवाद के नाम पर ही वे अपने तीनों लड़कों को छोड देते हैं। इस प्रकार लेखक ने उनके चरित्र को बड़े चरित्र को बड़े मनोवैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत करते हुए उन्हें साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया है।

उपन्यास के दूसरे पात्र उमानाथ के व्यक्तित्व में उतार-चढ़ाव और विविधता अधिक है। अपनी पत्नी महालक्ष्मी और पुत्र अवधेश को छोड़कर वह यूरोप चला जाता है और कालान्तर में वहीं जर्मन-स्त्री हिल्डाकैमर से विवाह कर लेता है। हिल्डा के सम्पर्क से वह कम्युनिस्ट हो जाता है और उसे लेकर भारत चला आता है। यहाँ वह पुलिस के आतक से डरकर साम्यवाद से हट जाता है और कलकत्ते में छिपकर हीरालाल के नाम से रहता है। हिल्डा के यूरोप चले जाने के पश्चात् वह नर्तकी नीरा से अपना मांसल सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। उसका जीवन विलासिता का पर्याय बन जाता है। नीरा के पूछने पर वह कहता है, 'अब किसी बाजारू जिन्दगी की मुझे चाट पड़ गयी है, उसको छोड़कर मै घर नहीं जाना चाहता। महालक्ष्मी सुन्दर है, अच्छी है, पर मुझे वह नहीं चाहिए, ठण्डी है। मुझे लपट चाहिए, तुम जैसी।'' ···· '' घुड़दौड़, जुआ, शराब, औरत, व्यापार, सट्टा, झूठ, फरेब, रईसी की शान जो भी आजकल की सभ्यता है, मै उसमें डूब गया हूँ।'[१] इसके पश्चात् वह शीलराज के नाम 'जागरण थियेटर' कम्पनी चलाता है, वह परिवार के प्रति इतना क्रूर और उदास है कि कानपुर और प्रयाग में महालक्ष्मी को देखने पर वह उसे तिरस्कृत कर देता है। विलासिता की दुर्गन्धि में उसका स्वास्थ्य सड़ जाता है और युवावस्था में ही वह संसार से चल बसता है।

हरदत्त तगादगीर का लड़का ब्रह्मदत्त कम्युनिस्ट है। कांग्रेसी के रूप में वह राजनीतिक जीवन में प्रवेश करता है, किन्तु कालान्तर में वह कांग्रेसी पूँजीपतियों से क्षुब्ध होकर उससे अलग हो जाता है। वह अपने त्याग और कर्तव्य के कारण जनप्रिय बन जाता है। इसीलिए वह चुनाव में दयानाथ को पराजित कर देता है। वह रूसी मजदूरों का प्रशंसक है और उसी ढाँचे पर भारतीय मजदूरों को भी ले आना चाहता है। वह अत्यन्त स्वाभिमानी और तीक्ष्ण बुद्धि का मजदूर-नेता है। लेखक की सबसे गहरी सहानुभूति ब्रह्मदत्त के साथ ही है। यही कारण है कि वह उपन्यास का सबसे जीता-जागता पात्र बन गया है। ब्रह्मदत्त के अतिरिक्त श्यामनाथ, दयानाथ, प्रभानाथ, नवाब अजीज बहादुर खैरा, मार्कण्डेय, डाबसन आदि प्रमुख पात्र है, जो उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

नारी-पात्र

नारी-पात्रों में महालक्ष्मी का चरित्र सर्वोत्कृष्ट है। वह सभ्य, चरित्रवान सिद्धान्तप्रिय सुन्दर एव पतिव्रता नारी है। भावुकता, कल्पनाशीलता और कोमलता के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व में साहस, संयम और खुलेपन का ऐसा मिश्रण है, जो उसे विशिष्टता देता है। पति के आवारेपन के कारण उसे वैवाहिक जीवन का सुख नहीं मिल पाता है। वह उमानाथ की सारी कमजोरियों के वावजूद उसे आराध्यदेव के रूप में पूजती है। उसके चरित्र में कहीं भी शिथिलता नहीं आ पायी है। पति की बीमारी को सुनते ही वह उसकी सेवा में तुरन्त पहुँच जाती है। उसका सारा जीवन उमानाथ की याद में ही व्यतीत होता है। महालक्ष्मी भारतीय नारियों के आदर्श को प्रस्तुत करती है। लेखक ने उसके चरित्र को बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। महालक्ष्मी के अतिरिक्त अन्य नारी-पात्रों में नीरा, राजेश्वरी, गुलनार, बेगम नरगिस, कुलसुम, हरदेई आदि मुख्य हैं और वे अपनी छाप पाठक के मन पर छोड़ती हैं।

डॉ० रांगेय राघव की दृष्टि स्त्री के शोषण, पीड़न और अपमान पर अधिक गयी है। पूरे उपन्यास में स्त्री-सम्बन्धी विचारों की भरमार है। पूँजीवादी समाज में नारी भोग-विलास की वस्तु है, जिस पर पुरुष का पूरा आधिपत्य है।

शिल्प

डॉ० रांगेय राघव की वर्णनशक्ति और गहरी है। भाषाशैली सरल, व्यावहारिक, प्रवहमान, संयत तथा विषयानुकूल परिवर्तनशील क्षमता से पूर्ण है। लोक-शब्द का प्रयोग भी इसमें हुआ है, किन्तु इतना ही जितना वातावरण-विधान के लिए आवश्यक है। उर्दू-अंग्रेजी के शब्द भी पाये जाते हैं। प्रचलित मुहावरों का प्रयोग भी यहाँ हुआ है। विषयानुकूल उपमाओं के प्रयोग से उसे उत्कर्ष तथा स्पष्टता देने में डॉ० रांगेय राघव विशेष सफल

१ वही पृ० १४४।

हुए है. पात्रानुकूल संवादों की बड़ी सुन्दर योजना बन पायी है। उपन्यासकार नवाब राजा रामनाथ से कहता है 'आपको तो चलना ही होगा वर्ना सब ताल्लुकेदार और रईस हमारी इज्जत अफजाई करें और हुजूर का इकबाल कि आप न हों, माशाल्लाह! सर पर पगड़ी हो और सरपेच न हो।'[1] प्रथम खण्ड में अरबी-फारसी शब्दों की बहुलता है, किन्तु ये शब्द व्यवहृत होने के कारण पाठक के सामने कोई समस्या नहीं उत्पन्न करते। उपन्यास जिस महान उद्देश्य को लेकर चला है, उसी के अनुपम शिल्प ग्रहण कर लेने के कारण वह वैविध्यपूर्ण कथा को संवेद्य बना सका है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि डॉ० रांगेय राघव ने 'सीधा-सादा रास्ता' को हर प्रकार से यथार्थ बनाने का सजग तथा सफल प्रयास किया है। जीवन की यथार्थता के प्रति लेखक के अत्यधिक आग्रह ने उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करने में विशेष योग किया है।

हुजूर

हुजूर (१९५२) डॉ० रांगेय राघव का छोटा, परन्तु सुसंगठित समाजवादी उपन्यास है। इस उपन्यास को समाजवादी उपन्यासों के अन्तर्गत रखने में आलोचकों[2] में मतैक्य है। इसमें एक कुत्ते की आत्मकथा के रूप में इस कटु यथार्थ को उभारा गया है कि अनेक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद मानव का शोषण उसी प्रकार बल्कि उससे भी भीषण हो रहा है और शोषितों की दशा पशुओं से भी बदतर है। सम्पूर्ण उपन्यास तेरह भागों में विभक्त है, जिसमें अंग्रेजी का शासन-पद्धति, उनके शोषण, अत्याचार, पुराने रईसों की विलासिता विषमता, मध्यवर्ग एवं निम्न वर्ग की यथार्थ परिस्थिति और उनके सुख-दुःख, घुटनपीड़ा, शोषण, कुण्ठा, नेताओं के पतनशील आचरण आदि का यथार्थ एव मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है।

हुजूर उपन्यास का कथानायक विलायती कुत्ता जैक अनेक स्वामियों के यहाँ रहकर अपनी तिक्त अनुभूतियों द्वारा समाज पर तीखे एवं चुटीले व्यंग्य करता है तथा लेखक के उद्देश्य को व्यंजित करता है। सर्वप्रथम वह अंग्रेज कप्तान के सम्पर्क में रहकर उसकी नग्न-वासना का चित्र देखता है और सोचता है कि 'इनकी दुनिया का एक पर्दा यह भी है कि ये कामुक हैं। फिर सोचा क्या हिन्दुस्तानी नहीं है? हैं वे भी पर एक अधिकार के गर्व में है। दूसरे गरीबी में परेशान।'[3] अंग्रेजों के घर में खुले व्यभिचार, नग्न-विलास आदि का यथार्थ चित्र अंकित कर उनके प्रति घृणा एवं वितृष्णा का भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया है। लार्ड क्लाइव के संदर्भ में वे अंग्रेज साम्राज्यवादियों पर प्रहार करते हुए कुत्ते के माध्यम से कहते हैं कि 'मुझे अंगरेजों पर ताज्जुब हुआ। इस कदर कमीने आदमी की जो कौम इस तरह इज्जत कर सकती है वह क्या इन्सानियत की बू अपने भीतर कायम रख सकती है? वह असल में अपने स्वार्थो से अंधी हो चुकी है'[4] इस जाति ने भारतीय स्वतन्त्रता सेनानियों के साथ बड़ा ही अमानवीय व्यवहार किया। उनके पशुवत् व्यवहार को देखकर ही कुत्ता जैक समस्त मानव जाति पर तीखा व्यंग्य किया करता हुआ कहता है कि "यकीन मानिये। कुत्तों की किसी जाति ने कुत्तों की किसी दूसरी जाति को गुलाम बनाकर नहीं रखा।"[5] अंग्रेज कप्तान के पश्चात् हरीप्रसाद, रमेश सिंह तथा सेठ मटरूमल के यहाँ रहकर वह भारतीय रईसों की विश्वासघातिनी प्रवृत्ति, कामुकता, अनैतिकता, लोलुपता, आदि का नग्न चित्र प्रस्तुत करता है। इसके पश्चात् मध्यवर्गीय चित्रकार कवि, वकील आदि के सम्पर्क में जाकर वह उनकी परिस्थितियों का ऑखों देखा हालबताता हुआ, उनके जीवन-मूल्यों पर तीखे व्यंग्य कसता जाता है। सुनयना के माध्यम से वह मध्यवर्गीय समाज की सतही मान्यताओं एवं रूढ़ियों पर तीव्र प्रहार करता है। सुनयना की इच्छा के विरूद्ध उसका पिता उसके विवाह की योजना बनाता है। वह आत्महत्या करने के लिए नदी के किनारे आ जाती है वहीं उसकी भेंट चित्रकार अनुराग से होती है। वह अनुराग के पूछने पर कहती है कि 'मेरे पिताजी मेरी शादी की बात चला रहे थे। उन्होंने मुझे बहुत प्यार से पाला है, लेकिन मैं अनजान आदमी से विवाह नहीं करना चाहती। इसलिए मैंने सोचा, जिंदगी ही खत्म कर दी जाये।'[6] यहीं जैक के जीवनानुभवों का चक्र समाप्त

---

१ सीधा-सादा रास्ता, पृ० १८।

२ अ: डॉ० सुषमा धवन, हिन्दी उपन्यास, पृ० ३१३।
ब: डॉ० सुरेश सिनहा, हिन्दी उपन्यास, उद्भव और विकास, पृ० ४१७।
स: श्री मधुरेश, आलोचना- ३१, पृ० ३६।

३ हुजूर, पृ० २८।

४ वही पृ० १७।

५ हुजूर पृ० १८ ६ वही पृ० ७१।

नहीं हो जाता, वह निम्नवर्गीय जीवन की अनुभूति भी करता है, जिसमें व्यथा ही व्यथा दिखायी पड़ती है।

इस प्रकार इस कृति में समाज के शोषण, नग्नता, दारिद्रता, परवशता एवं कुनीतियों का चित्रण है। विभिन्न खण्ड-चित्रों को एक सूत्र में पिरोकर लेखक युग-सत्य को समाजवादी दृष्टिकोण से अभिव्यक्ति देता है और सामाजिक वर्गों की स्थिति तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। एक आलोचक का मत है कि समाज के विभिन्न स्तरों का जीवन-दृश्य खण्ड-चित्रों के रूप में सांकेतिकता के आधार पर उपस्थित किया गया है इन खण्ड चित्रों की एकसूत्रता स्थिर रखी गयी है और बदलते हुए युग में लेखक ने दिखलाया है कि परिवर्तन हुए, किन्तु शोषित मानव उसी प्रकार, सम्भवतः उससे भी अधिक हीनतर जीवन बिता रहा है।[1]

'हुज़ूर' उपन्यास में राजनीतिक चेतना के विकास के विविध चित्रों को एक कड़ी के रूप में पिरोया गया है। विभिन्न शासकों की गतिविधियों के अध्ययन के पश्चात् जैक के मस्तिष्क में यह चेतना उदित होती है कि वर्षों से चली आ रही शासन-नीति से कोई परिवर्तन नहीं आया। पुराने गोरे शासकों का स्थान आज के भारतीय नेताओं तथा अफसरों ने ले लिया है। कांग्रेसियों ने बिल्कुल अंग्रेजों का जामा पहन लिया था। छुटभइयों को लूट कर छोड़ा, बड़े-बड़े गद्दियों पर बैठे पुलिसवाले देशभक्त करार दिये गये। वामपंथी जेलों में पकड़कर रख दिये गये,आज़ाद हिन्दुस्तान में लगातार दफा १४४ लगी रहने लगी और महँगाई बढ़ती जा रही थी। रोज नेता झूठे वायदे करते थे और वे ही आई०सी०एस० के ऊँचे पदों पर रख दिये गये।'[2] शोषित समाज के जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं आने पाया। इन सबसे लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'ईमान दौलत के पीछे पागल है। ... जातियों का उठना-गिरना उसके धन और शक्ति के बल पर चलता है। आज मैं अनुभव करता हूँ कि जब तक श्रम करनेवाले को ही समाज में उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं मिलेगा, इमान और उसकी दुनिया निरन्तर ऐसे ही भटकती रहेगी।'[3] इस स्थल पर लेखक का समाजवादी दृष्टिकोण सांकेतिक न होकर स्पष्ट उभर आया है। उनका मत है कि शोषण और वर्ग वैषम्य हमारी जड़ें खोद रहे है और अधिकार-लिप्सा हमारी शत्रु बन गयी है। इन सबको समाप्त करने के लिए एक क्रान्ति की आवश्यकता है-ऐसी क्रान्ति जिसमें वर्तमान उलट-पलट हो सके और एक नवीन समाजवादी स्तर के समाज की रचना की जा सके। राजनीति के संदर्भ में ही उन्होंने चुनाव के भयानक दुष्परिणामों की ओर भी संकेत किया है। जमींदार हरीप्रसाद के पतन का एकमात्र कारण चुनाव ही है, किन्तु कांग्रेसी उम्मीदवार को जिताकर लेखक ने समाजवाद की विजय करायी है। इसके अतिरिक्त लेखक ने जातिवाद, छुआछूत एवं घूसखोरी आदि पर भी हल्का प्रकाश डाला है।

चरित्र

इस आलोच्य कृति में विभिन्न कथा-खण्डों में हम विभिन्न पात्रों की झाँकी देख पाते हैं। कोई भी पात्र लगातार उपन्यास में आद्यन्त अपना व्यक्तित्व नहीं प्रकाशित कर पाता है, क्योंकि जैक अपने स्वामियों को बदलता जाता है। कुछ विशिष्ट पात्र उपन्यास के प्रारम्भ में अपना परिचय देकर गायब हो जाते हैं और कृति के अन्त में बड़े ही नाटकीय ढंग से जैक के सामने गुजरते हैं। लेखक ने जिन पात्रों को लिया है, उनके यथार्थवादी होने में कोई संदेह नहीं है। वे सभी जीवन के यथार्थ से लिए गये पात्र है। यह स्पष्ट है कि लेखक ने अपने उद्देश्य के अनुकूल प्रायः वर्ग प्रतिनिधि तथा गतिशील पात्रों को लिया है। हरीप्रसाद, रमेश सिंह, सेठ मटरूमल आदि भारतीय जमींदारों एवं पूँजीपतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो स्वार्थपरता, कामुकता एवं लोलुपता की प्रतिमूर्ति हैं। 'मेरी' पाश्चात्य नारियों का प्रतिनिधित्व करती है, जिनके जीवन में नैतिकता एवं सच्चे प्रेम का कोई मूल्य नहीं है। वासना की तृप्ति ही उनके जीवन का पर्याय है। जान ओ कोहन के आने के बाद वह अपने प्रेमी धोबी के लड़के से घृणा करने लगती है और उसकी हत्या पर प्रसन्न होकर कहती है कि 'चलो अच्छा हुआ। यह भी समाप्त हो गया।'[4] इसी प्रकार सुनयना मध्यवर्गीय भारतीय नारियों का प्रतिनिधित्व करती है जो रूढ़ियों और विद्रोहों के बीच में टूट रही हैं।

शिल्प

इस कृति में लेखक अपने राजनीतिक मत की सांकेतिक व्यंजना नहीं, स्पष्ट व्याख्या करता है। इससे उसकी कला में स्थूलता आ गयी है। बाद की गरमी से, मार्मिकता की तुलना में बौद्धिकता अधिक बढ़ गयी

---

१. श्री मोती सिंह, आलोचना-१३, पृ० २०८।

२. हुज़ूर, पृ० १०८-१०९।

३ हुज़ूर पृ० ११०।

४ वही पृ० २५।

और इससे उपन्यास के प्रभाव को किंचित् क्षति पहुची है व्यगात्मक शैली को अधिक अपनाया गया है जो अतीव तीखी एवं पैनी है। चुटीले हास्य व्यग्य की सुन्दर योजना है। कथोपकथन, भाव और शैली दोनों दृष्टि से पात्रानुकूल हैं। जैसे अंग्रेज कप्तान हरीप्रसाद से कहता है, 'आप बड़े वफादार हैं, आपका बात हम नहीं टालने सकता। कुट्टा आपको जरूर डेगा।'[2]

अन्त में हम कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास में एक नया प्रयोग है।[3] यह कथ्य और शिल्प, भाषा और अभिव्यंग्य दोनों में नवीन दृष्टि का उन्मीलन करता है और हिन्दी कथा-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में सामान्य सिद्ध होता है।

●●●

१ हुजूर, पृ० ६१, ९२।

२ वही- पृ० ३६।

३ संपादक-समिति डॉ० हरिवंशराय बच्चन डॉ० नगेन्द्र [illegible] साहित्य पृ० १०१।

अध्याय पाँच

□

ऐतिहासिक उपन्यास

□ □

उपन्यास मानव-जीवन के अनुभव की कहानी है। व्यक्ति की अनुभूतियों और संवेदनाओं का ऐसा वर्णन होता है कि उसमें सार्वभामिक और सार्वकालिक भावना उत्पन्न हो जाती है। उपन्यास में कल्पना का प्राधान्य होता है और इतिहास में भौतिक सचाई को प्रस्तुत करने का दावा रहता है। ऐतिहासिक सामग्री और औपन्यासिक कला के सुन्दर समन्वय का परिणाम होता है कि ऐतिहासिक उपन्यास। ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास और वर्तमान का तथा यथार्थ और कल्पना का बहुत सन्तुलित और आनुपातिक समन्वय होता है। ऐतिहासिक उपन्यास को यह सत्य पाना ही होता है कि इतिहास वर्तमान के लिए ही है। साहित्यकार सर्जक है, जीवन का सर्जन करना ही उसका लक्ष्य होता है। वह इतिहासकार की तरह सम्पूर्ण बीती बातों को उनकी अनेक स्थूल तथा यथातथ्य रंग-रेखाओं में पुनः प्रस्तुत नहीं करता। वह सर्जक के गहन दायित्व को समझकर उन्हें एक गहरे मानवीय सत्य से जोड़ता है। इतिहास विवरण देता है, उपन्यास चित्रण करता है। चित्रण में चयन के आन्तरिक मन्तव्यों का नैरन्तर्य होता है। इसी कारण यह अधिक सूक्ष्म एवं अधिक व्यंजक होता है। 'उपन्यासकार चाहे इतिहास की तमाम घटनाओं और पात्रों को ले या कुछ ही पात्रों या घटनाओं को या केवल वातावरण को यदि वह कलाकार है तो उसके उद्देश्य में अन्तर नहीं पड़ेगा। वह इन सबका नियोजन इस ढंग से करेगा कि वर्तमान जीवन के प्रश्न और मानव-मूल्य मुखर हो जाँए।'[1] ऐतिहासिक उपन्यासों में तत्कालिक अवतारणा उनकी अनिवार्यता होती है।[2] ऐतिहासिक उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति वातावरण की स्थापना में ही है। इसलिए ऐतिहासिक विकास के किसी भी युग से कथा का चयन क्यों न किया गया हो, उस युग की पृष्ठभूमि और विवरण कथा के निर्वाह और विकास के लिए आवश्यक है।

ऐतिहासिक उपन्यास के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की गयी हो।[3] उसमें प्रचलित ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा न गया हो, कथानक एवं वातावरण की कल्पना करते समय उपन्यासकार को उसकी ऐतिहासिकता पर पूर्ण ध्यान देना पड़ता है। कतिपय ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण का चित्रण प्रायः ऐतिहासिक न होकर आधुनिक प्रकार का होता है। कभी-कभी उसमें ऐसे प्रसंग भी समाविष्ट होते है, जो सर्वथा अधुनातन हैं। औपन्यासिकता के प्रभाव में उपन्यासकार बहुधा ऐसे उल्लेख प्रस्तुत कर देता है, जो प्राचीन युग के ऐतिहासिक संदर्भ में सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होते है। 'किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्तकाल में गुलाबी और फिरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़-फानूस लाए जाएँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिये जाएँगे और उन पर करतल ध्वनि होगी, बात-बात में 'धन्यवाद' 'सहानुभूति' ऐसे शब्द यथा 'सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना ऐसे फिकरे पाये जायँगे तो काफी हँसनेवाले और नाक-भौं सिकोड़नेवाले मिलेंगे। इस जमीन पर बहुत समझ-बूझ कर पैर रखना होगा।'[4] 'अतः उपन्यासकार का कार्य दोहरा हो जाता है। एक ओर उसे ऐतिहासिकता की रक्षा और अपने कथन को सशक्त बनाने के लिए अतीत के गर्भ से अपरिचित अथवा विशिष्ट तथ्यों, घटनाओं, पात्रों और शब्दों को प्रमाणरूप में खोज-खोज कर जुटाने की आवश्यकता पड़ती है और दूसरी ओर उसे औपन्यासिक कलाओं की पूर्ण रक्षा करनी पड़ती है। विषय तथा यथार्थात्मकता की दृष्टि से सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास में यह अन्तर है कि सामाजिक उपन्यास में वर्तमान के सन्दर्भ में यथार्थ का चित्रण किया जाता है तथा ऐतिहासिक यथार्थ में विगत के सम्बन्ध में ऐतिहासिक यथार्थ का संबंध अतीत के किसी विशिष्ट युग की यथार्थता से जोड़ा जाता है, जबकि सामाजिक यथार्थ प्रायः वर्तमाना युग के उस जीवन पर आधारित होता है, जो अपने मूल रूप में वर्तमान रहता है।

---

१ डॉ० रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १५०।

२ (क) डॉ० वृन्दावनलाल शर्मा : 'अहिल्याबाई' का परिचय, पृ० २१।

'ऐतिहासिक उपन्यास में तत्कालीन वातावरण की अवतारणा लेखक के लिए अनिवार्य है।'

(ख) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, 'हिन्दी कथा-साहित्य', पृ० २२७।

'ऐतिहासिक उपन्यासो में लेखक की सबसे बड़ी कुशलता ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करने में है।'

३ डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा-समालोचक : यथार्थवाद विशेषांक पृ० १६२।

'मेरी सम्मति में इतिहास के साथ खिलवाड़ करना अनुचित है। इतिहास के पूरे निर्वाह में जो कठिनाई लेखक को भुगतनी पड़ती है उसे सर कर लेने पर उसे जो सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है, वह अपार है और सौन्दय-बोध की निधि को बढ़ाता है।

४ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ४१४।

ऐतिहासिक उपन्यास के निर्माण की मूल प्रेरणाओं का विश्लेषण करते हुए डॉ० जगदीश गुप्त ने लिखा है कि उपन्यासकार इन सात भावनाओं से प्रेरित होकर इतिहास की ओर प्रवृत्त हुए: वर्तमान से पराजित अथवा असन्तुष्ट होने के फलस्वरूप पलायन की भावना, अतीत को वर्तमान से अधिक श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण समझते हुए उसके पुनर्संस्थापन की भावना, कतिपय ऐतिहासिक पात्रों या घटनाओं के प्रति न्याय की भावना, वर्तमान को शक्तिशाली बनाने के लिए अतीत से उपजीव्य खोजने की भावना, इतिहास-रस में लिप्त रहनेकी सहज भावना, जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम, आदर्श-स्थापन तथा वीरपूजा की भावना, जीवन की किसी नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की भावना।[१] 'इन भावनाओं में से कोई एक या कई संयुक्त होकर प्रमुख अथवा गौण रूप से प्रेरणा देते हुए ऐतिहासिक उपन्यास का बीज प्रस्तुत कर सकती हैं। आलोचक ने इन सात भावनाओं का वर्गीकरण लेखकों की रचनाओं के आधार पर किया है। हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन, राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतंत्रता आन्दोलन के समानान्तर हुआ। इसलिए उनमें जात्याभिमान, राष्ट्रप्रेम तथा वीर-पूजा की भावना प्रधान रूप से मिलती है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप हिन्दी के प्रथम सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा की कृतियों में राष्ट्रीयता, वीरता, कर्तव्यनिष्ठा, व्यक्तिगत त्याग एवं बलिदान तथा समाज-मंगल के स्वर मुखरित होते है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में मानवतावादी जीवनदर्शन का निरूपण हुआ है। इस परंपरा से भिन्न ऐतिहासिक उपन्यास-जगत में एक दूसरी प्रवृत्ति समाजवादी रचनाओं की है, जिनमें मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर अतीत का विवेचन एवं विश्लेषण हुआ है।[२] राहुल सांकृत्यायन एवं यशपाल इस परंपरा के प्रमुख उपन्यासकार हैं। राहुल ने अपने उपन्यासों में गणतंत्र की संघ-व्यवस्था को, जो साम्यवादी समाज का आदि स्वरूप है, आदर्श आर्थिक एवं सामाजिक विधान के रूप में निरूपित किया है। यशपाल ने 'दिव्या' में मारिश के चरित्र द्वारा मार्क्सवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया है। स्पष्टत यह एक अनैतिहासिक तत्व है और ऐतिहासिक उपन्यास को कमजोर बनानेवाला है।

ऐतिहासिक उपन्यास में लेखकों को पात्रों का ढाँचा स्वत: तैयार मिलता है। उसे केवल चारित्रिक सम्पूर्णता प्रदान करते हुए एक व्यक्तित्व देना होता है। पात्रों के कार्य-कलाप की सामग्री और उससे सम्बन्धित वातावरण भी उसे इतिहास से मिल जाता है और कल्पना की सहायता से वह उसी में नवीनता तथा प्रभावात्मकता उत्पन्न करता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सीधे इतिहास से उठाकर पात्रों को उपन्यास में रखा जाता है, क्योंकि उपन्यास का अपना संसार होता है, जो वास्तविक जगत् से भिन्न होता है। यही बात ऐतिहासिक घटनाओं के लिए भी कही जा सकती है। ये सभी उस युग को साकार करने के संपोषक तत्व हैं, किन्तु स्वयं में प्रभाव नहीं; क्योंकि अन्य औपन्यासिक तत्वों की सापेक्षता ही में इनके औचित्य को देखा जा सकता है। फिर भी इतिहास की सीमाओं का निषेध नहीं किया जा सकता है। समस्याएँ प्रस्तुत करते हुए और पात्रों से तर्क कराते हुए उस युग की मूल विशेषता पर दृष्टि रखना अनिवार्य है अन्यथा कृत्रिमता आ सकती है। "निश्चय ही पात्रों के अपने राजनीतिक विचार हो सकते है और होने भी चाहिए किन्तु शर्त यह है कि वे पात्रों के अपने विचार हों, लेखक के नहीं। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि किसी पात्र के विचारों में और लेखक के विचारों में कोई अन्तर न हो, किन्तु ऐसी स्थिति में भी उन्हें पात्र की ही आवाज में प्रकट होना चाहिए। इससे यह परिणाम भी निकलता है कि उस पात्र की अपनी निजी आवाज,-उसका अपना व्यक्तिगत इतिहास होना चाहिए।"[३] इसलिए अध्ययन और कल्पना की क्षमता लेखक में अपार मात्रा में होनी चाहिए। कर्तव्य की इस गुरूता को देखते हुए ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करने में लेखक सहम जाते हैं। यही कारण है कि साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों की कमी है।

ऐतिहासिक उपन्यासकारों में डॉ० रांगेय राघव का स्थान विशेष महत्व रखता है। उनके उपन्यासों में ऐतिहासिकता की उपेक्षा नहीं मिलता तथा सबसे अधिक महत्व चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता को दिया गया है। उपन्यासों के विषय ऐतिहासिक और प्राग-ऐतिहासिक दोनों है। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों की संख्या आठ है, जिनमें चार केवल प्रागैतिहासिक काल पर ही आधारित है। 'मुर्दो का टीला' (१९४८) उपन्यास के कथानक का मण्डप मोहन-जो-दड़ो कालीन अज्ञात सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन की पृष्ठभूमि पर निर्मित किया गया है। मण्डप की सीमा में द्रविड़-सभ्यता का चरम उत्कर्ष परिलक्षित है और कोनों पर बर्बर आर्य, साम्राज्यवादी फराऊन,

---

१- श्री जगदीश गुप्त- आलोचना- पृ० १७८।

२ डॉ० सुषमा धवन हिन्दी पृ० ३३२

३ रेल्फ फाक्स " और हिन्दी अनुवाद पृ० १०६ १०७

असत् का विकराल रूप और पूंजीवाद का जर्जर वृक्ष है चारों ओर से घिरी द्रविण शासन-प्रणाली दम तोड़ने लगती है। सत् पर असत् का व्यापक आक्रमण होता है और सत् का गला घोंट दिया जाता है, जिसकी रक्षा के लिए प्रकृति स्वय असत् का विनाश करती है। उपन्यास की कहानी-सरिता सत्-असत् के तट के बीच में बहती हुई विनाश-सागर में लीन हो जाती है। कथानक बहुत ही रोचक और वेगवान होकर आया है। इसमें नये-नये चमत्कारपूर्ण प्रसंगों तथा नई-नई कुतूहलोत्पादक रोमांचकारी घटनाओं की भरमार है। कथानक की श्रृंगारिकता भी रोचकता का करण है। एक तो मणिबन्ध-वेणी-नीलूफर तथा गायक-वेणी-नीलूफर के श्रृंगारिक त्रिकोणों के संघर्ष से कथा में उत्कुसता के तत्व स्थिर हैं, दूसरे लेखक ने श्रृंगारिक प्रसंगों का रस लेकर वर्णन किया है। श्रृंगारिक त्रिकोणों से विकसित होकर भी कथानक के समष्टिपरक मानवीय धरातल को क्षति नहीं पहुँची- यही इसकी महत्ता है।[1] कथानक की गति पहले कुछ मंद और उत्तरोत्तर तीव्र होती गयी है। वर्णन-बहुलता से कथानक की गति कहीं-कहीं शिथिल हो गयी है। उपन्यास का चौदहवाँ परिच्छेद, जिसमें मिस्र और मोहन-जो-दड़ो की प्राचीन सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, एक आरोपित निबन्ध सा लगता है। यह परिच्छेद दुरूह, अस्पष्ट और नीरस है। उसकी वहाँ न कोई आवश्यकता है और न उपयोगिता। इस परिच्छेद के हटा देने से कथा में कोई अन्तर नहीं आ सकता।

मुर्दों का टीला द्रविड-सभ्यता की छाया में लिखी गयी महान् कृति है। द्रविड-आर्य के परस्पर संघर्ष को द्रविड दृष्टिकोण से आँका गया है। लेखक ने इस ऐतिहासिक रचना में युग देखा है, युग के माध्यम से समाज और समाज से व्यक्ति देखा है। तद्‌युगीन गतिविधियों को लेखक ने पात्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है। इसलिए इनके पात्र काल्पनिक होते हुए भी उसी एतिहासिक वातावरण में साँस लेते हैं, उनमें आधुनिकता की धर-पकड़ नहीं है। "रांगेय राघव का दृष्टिकोण व्यक्तिगत रूप से मुझे अधिक संयत और मोहनजोदड़ों की सभ्यता को अपेक्षाकृत तटस्थ-भाव से देखने का संकल्प अधिक श्लाघनीय प्रतीत हुआ। उनका "दास" दासों की सी बात करता है या नहीं इसके आत्यतिक निर्णय के साधन तो किसी के पास उपलब्ध नहीं है......हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह आधुनिक जीवनदर्शन, तर्क-शैली तथा विचार-प्रवाह से प्रायः मुक्त है और आदिम समाज के संस्कार उसमें परिलक्षित होते हैं। कहीं भी लेखक ने सप्रयास आधुनिक-जीवन की समस्याओं को आरोपित करने का कौशल नहीं दिखाया है।[2]

'मुर्दों का टीला' उपन्यास का मुख्य उद्देश्य गणतन्त्रात्मक शासनप्रणाली की व्याख्या एवं साम्राज्यवादी व्यवस्था के खोखलेपन को स्पष्ट कर पूँजीवाद के दोषों का चित्रण करना है। मोहन-जो-दड़ो में गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली थी, जिसके कारण प्रत्येक नागरिक अपने कार्यों में स्वतंत्र था। पहले इस महानगर में दास-प्रथा नहीं थी, किन्तु मिस्त्र के सम्पर्क में आने के कारण यहाँ यह प्रथा भी प्रचलित हो गयी। दासों को नागरिकों के समान समानता का अधिकार न मिला। कीकटाधिपति के काम-कुण्ड से वेणी को निकालकर गायक बिल्लिभित्तूर मोहन-जो-दड़ो भाग आया। कीकट में भी द्रविड़ का ही राज्य था, किन्तु सामन्तवाद ने व्यक्तिस्वातन्त्र्य को जर्जर कर दिया था। शासक ईश्वर का अवतार माना जाता था। इसी कारण गायक को वेणी से प्रेम करने के सहज अधिकार से वंचित किया जा रहा था, क्योंकि वेणी शासक की वासना का केन्द्र बन चुकी थी। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का उपासक बिल्लिभित्तूर उस कीचड़ से भाग आता है, किन्तु उसके संस्कार में समता की भावना नहीं है। जिस समय श्रेष्ठि मणिबंध नर्तकी से स्नानागार में क्रीड़ा करने के लिए आग्रह करता है, उस समय गायक कहता है-'हम श्रीमानों की समता नहीं कर सकते, महाश्रेष्ठि'। 'किन्तु यहाँ तो सब नागरिक समान हैं।' मणिबन्ध ने उपस्थित स्नान करनेवालों की ओर इंगित करके कहा- देखते नहीं!दासों के अतिरिक्त यहाँ कोई बन्धन नहीं है।'[3]

इस महानगर में दास-प्रथा के होते हुए भी जनता को अपने प्रतिनिधियों को निर्णीत करने का पूर्ण अधिकार था। गणपति, सेनापति एवं अन्य उच्च अधिकारी जनता के द्वारा ही चुने जाते थे। 'रांगेय राघव ने राहुल तथा यशपाल की भाँति गणतन्त्र-प्रणाली से शासित इस नगर के जीवन को गौरवमण्डित तो अवश्य किया है, परन्तु कल्पनाप्रसूत पात्रों द्वारा मार्क्सवादी विचारों का उनकी तरह प्रचार नहीं किया है।'[4] यहाँ पात्र मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक तो मालूम होते हैं, किन्तु स्वयं लेखक किसी भी पात्र के रूप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या

---

१ डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ७७६।

२ श्री जगदीश गुप्त, आलोचना १३, पृ० उपन्यास-अंक, पृ० १८२।

३ मुर्दों का टीला पृ० २४'

४ डॉ० सुषमा धवन हिन्दी पृ० ३७१।

नहीं करता। गणतन्त्रात्मक प्रणाली की सफलता व्यक्ति-कर्तव्य के सही मूल्यांकन और विस्तृत भावनाओं पर आधारित है। मोहन-जो-दड़ो के महानगर में इस प्रथा का सही रूप प्राप्त होता है। गायक बिल्लिभित्तूर कहता है- 'मेरे लिए देश अपना नहीं, कोई पराया नहीं, जहाँ संतोष से मनुष्य मुस्कुराता है वही मेरा स्वर्ग है। जहाँ असाम्य और विद्वेषों से घृणा हँसती है, वही मेरी भावनाओं की टक्कर का क्षेत्र है। स्वतन्त्रता मेरा ध्येय है। अपने दुःख को दूसरों के दुःख के सामने खो देना मेरा कर्तव्य है। मनुष्य को सहायता देना मेरा एक मात्र धर्म है और पृथ्वी को स्वर्ग की कल्पना ही न रखकर पृथ्वी पर स्वर्ग उतार लाने का श्रम मेरे महादेव की शक्ति है।'[1] गायक का यह कथन मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया' आदर्श के अनुरूप है। इसीलिए कतिपय समीक्षक गायक और मणिबन्ध में क्रमशः राम और रावण का रूप देखते हैं।[2]

श्रेष्ठि मणिबन्ध आमेन-रा की मन्त्रणा से गणतन्त्र-शासन के स्थान पर साम्राज्यशासन-पद्धति को स्थापित करने के प्रयत्न में हिंसात्मक साधनों का उपयोग करता है। निरंकुश अधिकार प्राप्त करने की महात्वाकांक्षा ने मणिबन्ध को उन्मादी बना दिया। वह सैनिकों को ललकारता है-सैनिकों!साम्राज्य की दूर-दूर तक फैली हुई सीमाएँ आज तुम्हारे खड्गों की ऐसी झंकारा सुनना चाहती हैं कि समुद्र की प्रबल तरंगें भी लज्जा से अपनी मर्मर छोड़ दें। सूर्य के-से प्रदीप्त भाल जब तुम ऊँचे उठाओ तब धरती थर-थर काँपने लगे।'[3] उसकी अहमन्यता से सारा नगर नष्ट हो जाता है और वह अपनी प्रेयसी वेणी को भी जीतने में असफल रहता है। अन्त में प्राकृतिक प्रकोप के समय वह अधीर होकर कहता है- 'कहाँ है उसका साम्राज्य? कहाँ उसकी अधिकार मादकता? वह पापी है, वह हत्यारा है ...।'[4]

इस कृति में दास और नारी-समस्या का विशेष चित्रण है। मानव-कलेवर में जन्म लेकर दास आजीवन स्वामी के संकेतों पर जीता था, उसकी स्वयं की न तो कोई अभिलाषा होती थी और न कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व। पति-पत्नी के रूप में जीवन व्यतीत करने का भी अधिकार उसे प्राप्त नहीं था। इस कारण विशालकाय अपाप के सामने उसकी प्रिया हेका को मुट्ठी भर शरीरवाला प्रधान पकड़ लेता है और अपाप मौन रह कर इसे सहन कर लेता है। दासों की-सी कुछ स्थिति नारियों की भी थी। वे केवल वासना की तृप्ति के लिए जीवित थीं। अपूर्व रूपसी नारियाँ नीलूफर और वेणी पुरुष के भोग-विलास का उपकरण बनकर आजीवन नारी-सम्मान से वंचित रहकर, जीवन के अभाव में अट्टहास करती हुई विनाश के पथ पर चलती है। उनका रूप उनके जीवन का अभिशाप है। नीलूफर का सौंदर्य कंचन से खरीदा जाता है और वेणी का सौंदर्य कंचन-माहात्म्य से। एक-दूसरे के प्रति विद्वेष तथा ईर्ष्या की घातक भावनाएँ उनके जीवन को नष्ट कर देती हैं। वेणी का सहज स्नेह गायक के साथ नहीं रह पाता। कीकट में वह निरंकुश शासक की रखैल बनती है, तो मोहन-जो-दड़ो में मणिबन्ध की प्रेयसी।

इस उपन्यास में लेखक ने जीवन की उन शक्तियों की ओर संकेत किया है जो मानव को पंगु और असहाय बना देती है। धन का मद जीवन के लिए घातक है, क्योंकि उसके चंगुल से छूटने के बाद मनुष्य असहाय पक्षी की तरह बेहाल होकर गिर पड़ता है। आत्मग्लानि के अतिरिक्त उसे कोई सहारा नहीं रह जाता। धन से ऊब जाने के बाद मणिबन्ध वेणी से कहता है- 'मैं इस अपार धनसे घृणा करने लगा हूँ। यह सोना मेरी आँखों में आग की लपटों की भाँति जलता है। इसकी भयानक प्यास को मैं कभी नहीं बुझा सका। पहले यह मेरी संपत्ति था, आज मैं स्वयं उसकी संपत्ति हो गया हूँ, यह मुझे खा जाना चाहता है।'[5] प्रारम्भ में विश्वजीत ने भी मद की धाराएँ बहा दी थी। 'वह अपने को भूल चला। विलास की पराकाष्ठा को देखकर महानगर काँप उठा। उन दिनों विश्वजित सुन्दरियों की पग-पायल पर झूमा करता।'[6] मिस्र में संपत्ति के नष्ट हो जाने के पश्चात् उसका भी सारा मद उतर जाता है और वह भिखारी की तरह सड़कों पर घूमता है। अधिकार की भावना मनुष्य को सत्पथ से डिगा देती है और वह दंभी बन जाता है। शासक हो जाने के पश्चात् मणिबन्ध निर्दोष नागरिकों की निमर्म हत्या कराता है। अधिकार-भावना से ही वेणी और नीलूफर के चरित्र में अमानावीय तत्व आ जाते

---

१. *मुर्दों का टीला, पृ० ३४१।*

२. *साहित्य-संदेश : जनवरी-फरवरी १९६३ : रांगेय राघव स्मृति अंक, पृ० २८१।*

३. *मुर्दों का टीला, पृ० ३४०।*

४. *मुर्दों का टीला, पृ० ३७३।*

५. *वही, पृ० १११।*

६ *वही पृ० ३६७*

है और उन्हें लड़खड़ा देते है

देश-काल के अंकन की दृष्टि से यह एक सफल ऐतिहासिक उपन्यास है। मुट्ठी भर अवशेषों के बल पर इस बृहद् ऐतिहासिक उपन्यास का भवन निर्मित हुआ है। 'मुर्दों का टीला' संभवतः रांगेय राघव का अब तक का सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें उन्होंने मोहन-जो-दड़ो के समय के अज्ञात सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की कल्पनाजन्य कहानी कही है। इस प्रागैतिहासिक सभ्यता पर साहित्यिक कल्पना का यह हिन्दी में पहला उपन्यास है।[1] इस उपन्यास का इतिहास-तत्व अधिकांशतः वातावरण पर आधारित है वातावरण-विनियोग के लिए लेखक ने निम्नलिखित साधनों का उपयोग किया है:-

१- उपन्यास के पात्रों को प्राचीन नाम देना, यथा-मणिबन्ध, नीलूफर, हेका, अपाप, बिल्लिभित्तूर, आमेन-रा।

२- पात्रों के पारस्परिक शिष्टाचार के लिए प्राचीन संबोधनों का प्रयोग करना, जैसे- महाप्रभु, देव, देवी, महाश्रेष्ठि।

३- वस्तुओं, पदाधिकारियों के लिए संस्कृत के प्राय- अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करना, जैसे-शिरस्त्राण, महानागरिक आदि। इसके अतिरिक्त मिस्री शब्दों का भी प्रयोग करना।[2]

४- प्राचीन जातियों, देशों आदि के नाम लेना तथा उस संदर्भ में मोहन-जो-दड़ो के महानगर की भौगोलिक स्थिति, लिपि, भाषा आदि का ज्ञान करना।

५- इतिहास-प्रसिद्ध घटना-जैसे आर्य-द्रविड़ संघर्ष की कल्पना से मूर्त करके महानगर की गतिविधि से सबंधित करना।

६. पात्रों के बहुविध आचरणों, उनके स्वाभाविक, चिंतन एवं संवादों द्वारा तत्कालीन सभ्यता-संस्कृति का चित्रण करना।[3]

उपन्यास के पात्र इतिहास-सम्मत होकर लेखक की कल्पना-शक्ति और औपन्यासिक प्रतिभा के परिणाम है। प्रमुख पात्रों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है- प्रगतिशील भावनाओं से प्ररित और प्रतिक्रियावादी विचारों के पोषक। मणिबन्ध, आमेन-रा, वराह आदि सामन्तवादी व्यवस्था के समर्थक और मानवता-विरोधी है। इनके विपरीत विश्वजित, बिल्लिभित्तूर, अपाप, हेका, चन्द्रा, नीलूफर आदि दासता-विरोधी एवं मानव-स्वभाव के प्रबल समर्थक है। ये सभी गतिशील पात्र हैं। इनके चरित्र अपने बाहरी और भीतरी दोनों रूपों में बड़े ही स्पष्ट, आकर्षक और व्यक्तित्व-संपन्न है। लेखक ने चरित्रों के निर्माण में आधुनिक मनोविज्ञान का सम्यक् उपयोग किया है।

मणिबन्ध उपन्यास का प्रमुख पात्र है। उपन्यास की अधिकांश घटनाएँ उसके चारों ओर घूमती हैं। गणतन्त्र और साम्राज्यवाद के बीच इसकी जीवन-सरिता बहती है। पहाड़ी सरिता के समान उसकी विचार-धाराएँ निश्चित पथ पर न चलकर तोड़-फोड़ में लगी रहती है। उपन्यास में उसका प्रवेश प्रौढ़ व्यक्ति के साथ होता है। उसमें विलक्षण बुद्धि और अप्रत्याशित कार्य करने क्षमता है। इसी कारण कतिपय समीक्षकों ने उसे शक्ति, क्रूरता और अन्याय में रावण का प्रतिनिधि माना है। उसका जीवन अत्यन्त रहस्यमय है। वह अपने जीवन-काल के सबसे बड़े विरोधी विश्वजित का पुत्र है। इसका रहस्योद्घाटन उपन्यास के अंतिम पृष्ठ पर होता है। इसलिए पितृ-हत्या का पाप भी उसके सिर पर चढ़ता है। मिस्र से आती हुई नौका के डूब जाने से उसकी माँ का देहान्त हो गया और वह मछेरों के कारण बच जाता है। वह वेणी से अपना परिचय देता है- 'सिन्धु ने दान दिया था। मेरा नाम सिंधुदत्त पड़ा। दुःखों से अभिभूत जहाज में छिपकर मिस्र भाग गया। वहाँ मैंने जीवन के अनेक अनुभव किया और मेरे नेत्र खुल गये। संसार मेरे सामने पड़ा था।'[4] मिस्र के निरंकुश शासक फराऊन के व्यक्तित्व से वह विशेष प्रभावित है। इसीलिए उसका जीवन अधिकार-लालसा की पूर्ति में बीतता है। उसके जीवन में काम-भावना प्रबल है। वह नीलूफर के मांसल सौन्दर्य से प्रभावित होकर कहता है- 'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ सुन्दरी! आज से तुम मेरे हृदय की स्वामिनी हो।'[5] किन्तु उसके प्रेम का आधार वासना है। प्रेम-सम्बन्धी वार्ता के समय ही वह नीलूफर से कहता है- 'नहीं सुन्दरी! वह केवल सुन्दर स्त्री को ढूँढ़ता है। वह कभी नहीं चाहता कि उसको

---

१ शिवदान सिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ० १७०।

२ मुर्दों का टीला, पृ० ११३, ११४।

३. डॉ० सत्यपाल चुघ, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ७७०।

४ मुर्दों का टीला. पृ० ३६५।

५ वही पृ० ३।

प्यार करने का भी कोई दुस्साहस करे।'[1] उसकी इस भावना का समर्थन उस समय भी होता है, जब वह वेणी से प्रेम करने लगता है और नीलूफर से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है।

कालान्तर में वह नीलूफर और वेणी के बाद चन्द्रा को अपनी पत्नी बनाने की योजना बनाता है। आमेन-रा का कुसंपर्क उसकी दुर्नीतियों को उत्तेजित करता है। निरंकुश सम्राट् बनने की अभिलाषा से प्रेरित होकर वह महानगर में आतंक फैलाता है और असंख्य नागरिकों की हत्या करता है। उपन्यास के अन्त में वह अपने पिता की हत्या कर देता है। वह आत्मग्लानि से अभिभूत हो उठता है। 'मणिबन्ध को बार-बार इच्छा हुई कि पत्थर पर सिर पटक कर आत्महत्या कर ले ''' उसने अपने पिता की हत्या की है'''''' '''।'[2] उसका हृदय अन्तर्द्वन्द्व से आक्रान्त हो जाता है। वह प्रकृति के थपेड़ों से बेहोश होकर जलराशि में तिरोहित हो जाता है।

बिल्लिभितूर

बिल्लिभितूर दासता-विरोधी, नारी-स्वातंत्र्य का समर्थक और गायक है। उसके हृदय में साम्राज्यवाद के प्रति घृणा है। कीकटाधिपति के अत्याचार के कारण वह अपनी प्रेयसी वेणी के साथ मोहन-जो-दड़ो की महानगरी में चला आता है। उसका प्रेम मणिबन्ध के प्रेम से नितान्त भिन्न है। उसके प्रेम में मांसलता की दुर्गन्धि नहीं। वह नीलूफर से कहता है- 'हम एक-दूसरे को प्रेम करते हैं। जिस दिन यह हृदय उचट जायगा उस दिन कोई भी शक्ति एक करके नहीं रह सकेगी। मैं कवि हूँ। प्रेम चाहता हूँ। स्त्री को बाँधना नहीं चाहता।'[3]

गायक धन की अमोघ शक्ति को जीवन के लिए घातक मानता है। उसके हृदय की विशालता का परिचय उस समय मिलता है, जब वह नीलूफर से कहता है- 'आओ अतिथि! बिल्लिभितूर का द्वार कभी किसी के लिए बन्द नहीं हुआ। उसको अपने किसी भी धन से मोह नहीं है; क्योंकि उसके पास प्रेम के धन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उस धन को उससे मोहन-जो-दड़ो के महाश्रेष्ठि तो क्या, स्वयं महादेव भी अपनी सम्पूर्ण समाधि-शक्ति लगाकर भी नहीं छीन सकते।'[4]

वह अपने सद्व्यवहार से नीलूफर को प्रसन्न रखता है। वेणी के प्रति भी उसके हृदयमें प्रेम है। वह मानवतावाद का प्रबल समर्थक है, इसीलिए मानव-निर्मित किसी संकुचित सीमा में बँधना नहीं चाहता। वह चन्द्रा से कहता है- "मैं वह पूर्ण सामूहिकता चाहता हूँ, जहाँ जीवन मंगलमय कर्म और ज्योतिमर्य विचारों से परितृप्त है, जहाँ गति में घृणा, उच्छृंखलता नहीं, आगे बढ़ने की त्वरा मर्यादा है, कठोर कर्कशता नहीं, एक साम्य संगीत पर चलता-चिंतन क्षेत्र है, विश्व का आनन्दमय क्षेत्र है।[5] इसी भावना से प्रेरित होकर वह मणिबन्ध का विरोध करता है। उसकी वीरता से प्रभावित होकर विश्वजित उसे सेनापति बनादेता है। वह निरंकुश शासन का विरोध करता हुआ अपने जीवन का बलिदान कर देता है। गायक के साथ लेखक की सहानुभूति अपेक्षाकृत अधिक है। उसके उद्देश्य में लेखक का स्वप्न मूर्त होता है।

उपन्यास में विश्वजित का आगमन पागल के रूप में होता है। किन्तु उसका सभी घटनाओं से सम्बन्ध है वह न्याय-प्रेमी, गणतन्त्र का उपासक और साम्राज्यवाद का विरोधी है। कटु सत्य का पक्षपाती और अनुभवी है। प्रत्येक घटना के पूर्व उसकी भविष्यवाणी होती है और प्रायः सभी घटनाएँ सच होती हैं। वेणी और गायक को पहले ही सचेत करता है, नीलूफर के अर्द्धनग्न शरीर की उपेक्षा करता है, चन्द्रहास की सोलह वर्षीया पुत्री को संधि के लिए भेजते समय वह विरोध करता है। मणिबंध की क्रूरता का घोर विरोधी तथा क्रांतिकारी उपदेष्टा होने पर भी वह अन्त में मणिबन्ध की हत्या करनेके लिए तैयार हो जाता है। पारिवारिक सम्बन्धों के रहस्योद्घाटन होने के पश्चात् वह वात्सल्य से अभिभूत होकर हाहाकार करने लगता है। उसके चरित्र का यह परिवर्तन बड़ा स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है। विश्वजित् के अतिरिक्त आमेन-रा, विशालाक्ष, चन्द्रहास, वाराह, अपाप एवं अक्षयप्रधान आदि महत्वपूर्ण पात्र हैं। इन सभी पात्रों के गति-विकास में स्थान-स्थान पर अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि हुई हैं।

नारी पात्रों में नीलूफर, वेणी, चन्द्रा, वीणा और हेका का चरित्र महत्वपूर्ण है। नीलूफर मिस्री गायिका है। वह पिता और माता के सुख से वंचित होकर दर-दर भटकती है। उसे प्रारम्भ में अभिमान होता है कि उसने

---

१. वही, पृ० ४।

२. वही, पृ० ३७२-७३।

३. वही, पृ० २५-२६।

४ मुर्दों का टीला पृ० ३१-३२।

५ वही पृ० ३५०।

मणिबन्ध को अपनी झंकार में बद्ध कर लिया है, किन्तु वर्णा के आगमन के पश्चात् वह अपने को कोसती हुई दिखलायी पड़ती है। वह अनेक प्रयत्नों के बाद नायक का प्रेम और विश्वास पाने में समर्थ होती है। वेणी के चरित्र में भी इसी प्रकार का उतार-चढ़ाव आता है। दोनों एक ओर नायक के प्रभावशाली और दूसरी ओर मणिबन्ध के शक्तिशाली व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट होती हैं। विल्लिभिलूर के सम्पर्क से उन्हें प्रेम तथा जीवन का वरदान प्राप्त होता है, मणिबन्ध के साथ उन्हें वैभव एवं विलास की सुविधाएँ उपलब्ध होती है।

इस कृति में भाषा-शैली का सौन्दर्य विशेष उल्लेखनीय है। विषय और शैली में अद्भुत सामंजस्य है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि अलंकारों से युक्त कवित्वमयी भाषा-शैली है। बहुधा आकर्षक अनुक्रम में रखे शब्दों के लघु-लघु वाक्यों से उसमें प्रवहमानता आ गयी है। कहीं प्रकृति की समता और कहीं विषमता से शैली की प्रवाहतीव्रता में सहायता ली गयी है। 'शब्दों या वाक्यांशों की पुनरुक्ति, मिलते-जुलते शब्दों के संयोग, सार्थक विशेषणों के प्रयोग, विराम-चिन्हों के समुचित उपयोग तथा स्फुट वाक्यों एवं विरोध के झटकों के विनियोग से प्रभाव-तीव्रता का और भी वर्द्धन हुआ है। अनेक पृष्ठों पर मुक्त, कवितावत् पंक्तियों का विधान हुआ है। भाषा की काल्पनिक सज्जा के पीछे लेखक की अनुभूति-प्रवह भावोष्णता विद्यमान है, जिससे भाषा-शैली में अन्तःस्फूर्ति की दीप्ति आ गयी है।'[१] उपन्यास में संस्कृत-गर्भित भाषा का बाहुल्य है। जैसे अपिस वृषभ भी तो पूज्य है और 'अपिस' वृषभ की आराधना से मनुष्य का एक स्वार्थ सिद्ध हो सकता है। वह सर्वशक्तिमान से निकटता का अनुभव करता है। किन्तु मोहन-जो-दड़ो के निवासी देवता की आराधना को अपनी स्वार्थसिद्धि नहीं कहते।[२] इस उपन्यास के संवादों में चरित्रानुकूलता, प्रसंगानुकूलता तथा स्वाभिकता है। उपन्यास के प्रभाव में इस तत्व ने सानुपातिक योग दिया है।

अन्त में हम कह सकते है कि 'मुर्दों का टीला' एक कल्पना-प्रधान प्रागैतिहासिक उपन्यास है। सुदूर अतीत का कथानक होने के कारण लेखक की कल्पना को अभिप्रेत रूप से विहार करने का अवकाश मिला है। इस उपन्यास की शैली में प्रवाह-गांभीर्य और काव्योचित झनकार है।

चीवर

'चीवर' (१९५१) डॉ० रांगेय राघव का दूसरा सफल ऐतिहासिक उपन्यास है। उपन्यास का कथानक हर्षकालीन सामन्ती व्यवस्था पर आधारित है। इस उपन्यास में 'ऐतिहासिक कल्पना-मात्र का प्रक्षेपण नहीं किया गया है, अपितु शुद्ध ऐतिहासिक वातावरण को औपन्यासिक रूप में चित्रित किया गया है। देश-काल की उस पृष्ठभूमि में लेखक ने सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव को चित्रित किया है। लेखक ने 'चीवर' में यशपाल की 'दिव्या' की भाँति बौद्ध धर्म का निकृष्ट और स्खलित रूप स्वीकार नहीं किया है। सम्भवतः चीवर की रचना 'दिव्या' की प्रतिक्रियास्वरूप हुई है। 'दिव्या की औपन्यासिक सफलता पर लेखक को सन्देह नहीं है; क्योंकि 'यशपाल का कलापक्ष 'दिव्या' में बहुत ही मँजा हुआ है। यशपाल की 'दिव्या' में बौद्ध-समाज पर गहरा प्रहार मिलता है, पर पढ़ने में कहीं नहीं मालूम पड़ता कि लेखक ने अपनी कुछ धारणाएँ बना ली है, जिन्हें वह पात्रों पर ठूँसने का यत्न करेगा।'[३] अन्तर केवल इतना है कि राघवजी ने बौद्ध धर्म को मानव-जाति की अबाध मंगल-कामना का प्रतीक माना है।

चीवर का मुख्य प्रतिपाद्य विषय जीवन में स्थायी शांति की प्राप्ति है। भौतिक सुखों के कीचड़ में फँसकर मनुष्य कर्तव्य को भूल जाता है। वह स्वार्थान्ध होकर अपनेको भी नहीं देख पाता, उसकी संकुचित विचारधारा ही विश्व-अशान्ति का कारण बनती है। राज्यश्री अपने पति गृहवर्मा से कहती है- 'यदि मनुष्य राज्य, धन और यश का लोभ न करे, यह वासना का मूल मिट जाये, तो संसार में कभी युद्ध नहीं होगा।'[४] स्त्री, धन और भूमि के त्रिकोणात्मक क्षेत्र में आबद्ध होकर मानव विवेक खो बैठता है और किसी-न-किसी रेखा से उलझ कर अपने व्यक्तित्व को खरोंचता है। 'सामंतों और राजाओं में स्त्री और भूमि के लिए ही तो युद्ध होते थे। स्त्रियां अधिकाश उन्हीं पुरुषों को पसंद करती थीं, जो उन्हें दिन दहाड़े तलवार के बल पर लूट ले जाने की शक्ति रखते थे।'[५]

सांसारिक आकर्षण से बचने के लिए मनुष्य धर्म का आश्रय लेता है। समस्त धर्मों की मूल आत्मा मानव-धर्म

---

१ डॉ० सत्यपाल चुघ, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ७८३।

२ मुर्दों का टीला, पृ० ११२।

३ डॉ० रांगेय राघव, संयम और संघर्ष, पृ० ११-१२।

४ चीवर पृ० १२।

५ वही पृ० १६।

है। धर्म उसी लक्ष्य तक पहुँचने के विभिन्न पथ है। ऐतिहासिक संदर्भ में लिखे जाने के कारण 'चीवर' में बौद्ध धर्म को व्यक्त किया गया है। धर्म-निरपेक्षता के प्रति लेखक बड़ा सजग है '.........कान्यकुब्ज में जैन तीर्थंकर ऋषभदेव, राम, कृष्ण तथा बुद्ध के अतिरिक्त महावराह, सूर्य, शिव की उपासना करने वाले भी थे।'[१] बौद्ध-धर्म के प्रबल प्रचारक महाराज हर्ष ने प्रयाग मे अधिवेसन के समय 'आदित्य की आराधना की। सूर्य की मूर्ति काष्ठ की थी।---जिस समय सम्राट् हर्ष ने शिव-पूजा की, ब्राह्मण प्रसन्न हो गये..........।[२] दान के समय धर्म विशेष कोई बन्धन नहीं था। लेखक को पलायनवादी रूप ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह असामाजिक है, अस्वस्थ है। जनहित और स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण का सामंजस्य ही उसे प्रिय है और इस उपन्यास का मूल इसी सत्य में निहित है। यही कारण है कि तपस्या और संयम की गरिमा तथा गृहस्थ-सांसारिकता का सामंजस्य ही उसे अभीष्ट है। राज्यश्री के माध्यम से उसने यही किया है। बृद्ध भिक्षु राज्यश्री से कहता है- 'देवी! मन को साधो। आनन्द बुरा नहीं है, क्योंकि तुम अभी गृहस्थ हो। तुम्हारे लिए यही अच्छा है।.........तू उपासिका है, तेरे लिए यही धर्म श्रेष्ठ है।'[३] 'राज्यश्री उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने जीवन को स्व और पर की सीमा से ऊपर उठा लेती है।

डॉ० राघव के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दों का टीला' के पात्र इतिहास-सम्मत न होकर लेखक की कल्पना-शक्ति तथा औपन्यासिक प्रतिभा के परिणाम थे। किन्तु चीवर के अधिकांश पात्र इतिहास-सम्मत हैं। लेखक ने सभी पात्रों का अंकन सबल रेखाओं से किया है। जहाँ तक पात्र-परिचय का प्रश्न है, 'को बड़-छोट कहत अपराधू।' किन्तु कथा-धारा में पड़कर कुछ पात्रों का चरित्र अधिक उभर आया है। वास्तव में 'चीवर' की सबसे महत्वपूर्ण सृष्टि राज्यश्री का अद्‌भुत व्यक्तित्व है। वह समाज के अमानवीय नीति-विधान का विरोध करती है। शिकार करना शासकों का प्रारंभिक कर्तव्य माना जाता रहा। 'मृग-शावक' को देखकर राज्यश्री का हृदय वेदना से कराह उठता है। वह पति से कहती है- 'छिः छिः कितने कठोर हैं आप स्वामी! इसके नयन कितने निर्मल और पवित्र हैं!'[४] इसमें कोई सन्देह नहीं कि इतनी संवेदनशील, सजग, गौरवमयी नारी का चित्रण हिन्दी-उपन्यासों में कम मिलता है। हिन्दी-उपन्यास की अनेक तपस्विनियाँ कतिपय सांसारिक झोकों के बाद अपना व्यक्तित्व चकनाचूर कर देती हैं। किन्तु राज्यश्री के चरित्र का अंकुर भीषण ग़त्यावरोधों के परिवेश में ही विकसित होता है। 'सर्वकल्याण' ही उसका जीवन-दर्शन है। उसके इस जीवन-दर्शन के पथ में न कहीं झंखाड़ है, न दीवार खड़ी हो पायी है और न पड़ाव है, जहाँ वह आकर बैठ गयी हो। उसका पथ निरन्तर विकासमान है।

राज्यश्री का व्यक्तित्व अपने आप में प्रखर, प्रभावशाली है ही, साथ ही उपन्यास के अन्य पात्रों को भी प्रभावशाली बनाता है। सम्राट् हर्षवर्द्धन देवी चयनिका आदि प्रमुख पात्रों को राज्यश्री ही आलोकित करती है। गृहवर्मा उसके सौन्दर्य से अभिभूत होकर कहता है- 'मेरी मनश्री हो। एक-एक पल में मुझे प्रतीत होता है जैसे युग बीत रहे हैं......तुम्हारे इन नयनों को देखता हूँ तो मेरे हृदय की अतृप्ति मिट जाती है। देखता हूँ, फिर देखता हूँ, किन्तु मन नहीं भरता।'[५] वह सुन्दरता की पावन मूर्ति है। 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' के अनुसार उसका नारी-जीवन सार्थक है। उसकी तुलना अनिंद्य सुन्दरी पद्‌मावती से की जा सकती है। बर्बर अलाउद्दीन के समान मालवराज देवगुप्त उसके मुख को देखकर बेहोश हो जाता है। अन्तर इतना है कि पद्‌मावती अपना जीवन देकर सतीत्व की रक्षा करती है, राज्यश्री जीवन जीकर।

राज्यश्री अनेक रूपों में हमारे समक्ष उपन्यास में आती है। प्रत्येक रूप के साथ लेखक की गहरी सहानुभूति है, किन्तु इस सहानुभूति में कहीं भी न तो अति है और न कहीं अमानवीय तत्व भी उभर पाये हैं। पिता प्रभाकरनवर्द्धन के राजकुल में वह लज्जाशीला, कलावंत कुलकन्या एवं राज्यवर्द्धन तथा हर्षवर्द्धन की भगिनी है। गृहवर्मा के संपर्क में विशुद्ध गृहिणी है। आदर्श भारतीय नारी के समवेत गुण उसमें समाहित हैं। गृहवर्मा की हत्या और देवगुप्त के कारागृह से मुक्त होने के बाद वह विश्वस्त आश्रय के अभाव से संत्रस्त युवती मात्र है। वह आश्रय की खोज में भटकती है और दिवाकर मित्र की सहायता से पुनः हर्ष के निकट पहुँचती है। राजकुल में पहुँचने पर युवती बौद्ध भिक्षुणी के रूप में आती है। इस रूप में समाज में व्याप्त असमानता की खाई को पाटने का

१. वही, पृ० १३।
२. वही, पृ० २६१।
३. वही, पृ० १।
४. चीवर, पृ० ११।
५ वही पृ० २१।

प्रयास करती है। उसका व्यक्तित्व इतना प्रखर हो उठता है कि हर्ष उसके संकेतों पर चलकर समस्त सम्पत्ति का दान पाँचवें वर्ष प्रयाग में कर देता है। अन्त में वह हर्ष को चीवर देकर बौद्ध भिक्षु बना देती है।

हर्षवर्द्धन

उपन्यास का दूसरा मुख्य पात्र हर्षवर्द्धन है। पिता प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु, भाई राज्यवर्द्धन की हत्या और भगिनी राज्यश्री के वैधव्य के गहरे आघातों से वह विचलित हो उठता है, किन्तु शत्रुओं से बदला लेने के लिए कटिबद्ध होकर वह भाभी चयनिका से कहता है- 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस खड्ग से मैं वसुंधरा पर रक्त की ऐसी नदी बहाऊँगा कि हिमालय से कन्याकुमारी और सिंधु से कर्णसुवर्ण तक पृथ्वी लाल हो जायेगी और शत्रु की विधवाओं के चीत्कार के हाहाकार में सारा समुद्र-गर्जन भी डूब जायेगा।'[1] हर्षवर्द्धन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चलकर मालव-नरेश देवगुप्त की हत्या करता है और शशांक का अन्त तक पीछा करता है। राज्यश्री के प्रभाव से वह आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करता हुआ कहता है-'भिक्षुणी! मैं आज प्रतिज्ञा करता हूँ कि कभी भी विवाह नहीं करूँगा।'[2] 'धन, धरती और नारी का मोह बड़ाही सबल होता है। ऋषि मुनि से लेकर देवता भी इनके पाश से मुक्त नहीं हो पाते। 'चित्रलेखा' के योगी कुमारा गिरि का आसन चित्रलेखा को कुटी में देखते ही हिल गया। नारी-कटाक्ष और स्पर्श से ऋषिकुमार पुण्डरीक और नारद का संयम ढीला हो गया। किन्तु देवी चयनिका द्वारा प्रेषित अनेक सुन्दरियों के स्पर्श और कटाक्ष हर्ष को डिगाने में असमर्थ हो जाते हैं। अनिंद्य सुन्दरी मागधी विवाहिता बनने के प्रलोभन से हर्ष के निकट जाती है। 'हवा का झोंका आया और स्त्री के बाल बिखर कर सम्राट के मुख पर लगने लगे। स्त्री को जैसे नींद आ रही थी। ....उसका वक्ष अब हर्ष के वक्ष से सट गया था। हर्ष ने देखा स्त्री उन्मत्त-सी थी। वह विह्वल थी और उसने अपनी दोनों आँखें मींच ली थीं।.... ....सम्राट चौंक कर पीछे हट गये। कहा-मागधी! देवी! जाओ अप्सरा जाओ। ....तुम पुरुष नहीं? स्त्री ने आघात किया। सम्राट हँसे, कहा मेरा पौरुष उत्तरापथ की हवा में पुकारता है। लड़की! जा चली जा। मागधी चली गयी।'[3]

सम्राट हर्ष बौद्ध-समर्थक होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति समान भाव रखता है। वह साहित्यकारों, कलाकारों एव धार्मिकों का आदर करता है और उच्चकोटि का साहित्यकार है। नागानन्द, रत्नावली उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ है। प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट, भारवि, मयूर आदि उसके राज्याश्रयी थे।

उपर्युक्त समवेत गुणों से सम्पन्न होने पर भी हर्ष का व्यक्तित्व उपन्यास में अधिक परिपुष्ट और सक्षम नहीं हो पाया है। इसलिए वह बहुत ही अतिरंजित और आदर्शीकृत लगता है। उसमें एक प्रकार से स्वयं लेखक का आत्मप्रक्षेपण है। राज्यश्री के व्यक्तित्व के प्रकाश से वह प्रकाशित होता है। उसकी गतिविधियों का नियत्रण स्वयं उसके हाथ में न होकर राज्यश्री के हाथ में है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही वह राज्यश्री के हाथ में जाने लगता है और अन्त में तो एक कठपुतली-सा बन जाता है। 'शीलादित्य' का मुकुट पहनकर वह 'विक्रमादित्य' से विदाई लेता है। चीवर के पात्रों की संख्या देखकर आश्चर्य होता है। एक विशाल जनसमूह ही एकत्र हो गया है, किन्तु लेखक ने प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्रों को भी सबल रेखाओं से अंकित किया है। गौण पात्रों को लेखक ने व्यक्तित्व दिया है, वे अपना जीवन जीते हैं। गौड़-नरेश शशांक एवं मालव-शासक देवगुप्त उपन्यास के खल पात्र हैं। लेखक ने दोनों पात्रों में महत्वाकांक्षा का ढोंग, रुचिहीनता, कामुकता, ओछापन, वैमनस्य और द्वेष आदि सभी विशेषताएँ एक साथ दिखायी हैं। लेखक ने शशांक को तो दुष्टता और नीचता की प्रतिमूर्ति बनाया है। उसकी नीचता बौधिद्रुम को काटकर अपनी अन्तिम सीमा पर पहुंच जाती है। प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान-च्वांग का परिचय उपन्यास के अन्तिम परिच्छेदों में होता है। हर्षकालीन ऐतिहासिक उपन्यास होने के कारण लेखक चीनी यात्री का वर्णन आवश्यक मानता है अन्यथा यात्री के प्रति लेखक की विशेष सहानुभूति नहीं दिखायी पडती। अन्य पात्र उपगुप्त, महाकवि बाणभट्ट, भारवि, मयूर, पुलकेशिन द्वितीय, रविकीर्ति, गृहवर्मा, विंदुवर्मा, विष्णुवर्द्धन, कामकन्दला, मल्लिका, प्रियंबदा आदि उपन्यास-गगन में टिमटिमाते तारे के समान दिखायी पडते है, उनका अपना अस्तित्व है, किन्तु व्यक्तित्व नहीं। पाठक उन्हें स्वयं में प्रकाशित देखता है, किन्तु उनके प्रकाश से वंचित है।

हर्षकालीन परिप्रेक्ष्य में लिखा गया चीवर साहित्यिक ऐतिहासिकता से दूर नहीं है। महाकवि बाणभट्ट,

---

१ चीवर पृ० १७१।

२ वही पृ० १४१।

३ वही पृ० १७८।

भारवि आदि तत्कालीन साहित्यकारों की साहित्यिक रचनाएँ भावात्मक और कलात्मक दोनों दृष्टिकोणों से अधिक गंभीर और संयत हैं। चीवर की भी भाषा-शैली अधिक सुसंस्कृत है। वर्णन बड़े-बड़े अवश्य है, किन्तु भाषा-शैली चमत्कारपूर्ण होने से वे अधिक आकर्षक बन गये हैं। उनके रूप-चित्र भावना की आँखों में उभरते चले जाते हैं और पाठक उस दृश्य से सम्पृक्त होने की स्थिति की प्रतीति करता है। इसमे काव्यात्मक शैली को विशेष महत्व मिला है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि चीवन डॉ० रांगेय राघव का अत्यन्त सफल ऐतिहासिक उपन्यास है। इतिहास-तत्व की रक्षा करते हुए लेखक ने चरित्र-निर्माण तथा देशकाल-चित्रण को विशेष महत्व दिया है। उसने ऐतिहासिक खण्डहर में अपने युग का दीप जलाया है, जिससे उस दीप-प्रकाश में खण्डहर के भाग दिखायी पड़ते हैं।

अंधेरे के जुगनू

अंधेरे के जुगनू : १९५३ : साहित्य गतिविधियों का एक रूप निस्सन्देह यह है कि वर्तमान स्थितियों को अतीत के संदर्भ में भी पहचानने का यत्न किया जाय अथवा अतीत को किसी आधुनिक दृष्टि-केन्द्र के अन्तर्गत रखा जाय। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप अतीत वर्तमान के आधार स्तम्भ का कार्य करता है और वर्तमान की अतीत काल की गहराई में एक नया आयाम प्राप्त होता है। वर्तमान और अतीत की सार्थकता की भावभूमि पर भविष्य के प्रासाद का निर्माण प्राप्त होता है, जो अपेक्षाकृत अधिक स्थायी और आकर्षक होता है। डॉ० रांगेय राघव के प्रायः सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्तमान और अतीत का सुन्दर सामंजस्य प्राप्त होता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास की मर्यादा की पूर्ण रक्षा हुई है। अधिकांश विद्वानों ने उन पर मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार का आरोप लगाया है, किन्तु स्वयं उन्होंने इसका उत्तर दिया है. 'सामाजिक यथार्थ की अवच्छिन्न श्रृंखला को देखना संस्कृति की विरासत को ग्रहण करना है। मैंने कभी मार्क्सवाद को इतिहास पर ठूंसा नहीं। अन्तर्विरोधों को दिखाकर तत्कालीन समाज के प्रगतिमय तत्वों को प्रदर्शित करना ही मेरा ध्येय रहा है'[1] इस उपन्यास में उन्होंने इस कथन को पूर्णतः चरितार्थ किया है।

आलोच्य कृति में महाजनपद युग से भी पुराने समय का चित्रण किया गया है। 'मुर्दों का टीला' उपन्यास के काल के समान ही इस उपन्यास के काल पर भी ऐतिहासिक तथ्य प्रायः अत्यन्त कम प्राप्त होता है, क्योंकि इतिहास में इस काल को अन्धकार युग कहते हैं। 'इस उपन्यास में मैंने पाणिनि सूत्रकार के हिसाब से समय निकाला है।⋯ ⋯यह काल महाभारत के सात सौ या आठ सौ वर्ष बाद बुद्ध से चार पांच सौ साल पहले का चित्रण है।[2] 'इस उपन्यास का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का क्रमिक विकास दिखाना है।

महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्य जातियों की शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगी और क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों में पारस्परिक विरोध बढ़ने लगा। क्षत्रिय उन विशेषाधिकारों के विरोधी हो गये, जो ब्राह्मण वर्ग को प्राप्त थे जैसे अवध्य होना, भूमि का कर न देना, उनकी संपत्ति पर क्षत्रिय का अधिकार न होना[3]। प्रस्तुत उपन्यास में क्षत्रियों के वे प्रयत्न वर्णित है जो उन्होंने ब्राह्मणों की सर्वाधिकारी सत्ता को समाप्त करने में लगाये थे। गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की अभिव्यक्ति के प्रति लेखक का विशेष आग्रह था, जिसके कारण अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों में उसने इसकी रूपरेखा खींच कर उसके उभय पक्षों पर प्रकाश डाला है। इस उपन्यास में लेखक ने आधुनिक स्थितियों की चेतना के साथ लगभग १००० ई० पू० के आन्तरिक कलह से जर्जर और अधिकार-मद में पथभ्रष्ट व्यक्तियों के जीवन में उस युग की अराजकता, विश्रृंखलता और मूढ़ता के सूत्र एवं उनकी परिणति खोजने का प्रयास किया है। महाराज वह्निकेतु की मृत्यु के पश्चात् उनके एकतंत्रीय शासन की घुटन से मुक्त करने के लिए अमात्य प्रावृट ने कुल गणों की योजना बनायी थी, किन्तु उस योजना को व्यावहारिक रूप प्राप्त न हो सका। अमात्य पुत्री वृहद्धती क्षत्रिय कूटनीतिज्ञ गंधराज एवं आभीरराज भूमन्यु से कहती है, 'उस अमात्य की पुत्री हूँ जिसने महाराज वह्निकेतु के स्वर्गवास के बाद यह घोषणा की थी कि एक कुल के स्थान पर अनेक कुलों का गण बनेगा, किन्तु तुम लोग जो अनेक कुलों का गण बनाना चाहते थे, इस बात को नहीं सह सके कि मेरे पिता शिल्पश्रेणियों को नया अधिकार देना चाहते थे। तुम ब्राह्मणों को मिटाकर श्रेष्ठि शासन चाहते थे

---

१. अंधेरे के जुगनू, पृ० ३ भूमिका।

२ अंधेरे के जुगनू, पृ० ६ । भूमिका।

३ वही पृ० ७ भूमिका।

'ब्राह्मण अमात्य प्रावृट जातीय संकीर्णता से अलग होकर गणतंत्र के वास्तविक रूप को व्यक्त करना चाहते थे, जिसमें मानवता निर्बाध रूप से सांस लेती। महिषी शैखावत्या अपने पुत्र शोणकेतु से अमात्य-परिवार की नीतियों को स्पष्ट करती है- 'जब लिच्छवि, वज्जिय, शाक्य, कोलिय और मल्ल एकतंत्रों को समाप्त करके अपने गण खड़े कर रहे थे तब इसी केतु कुल के भागवत ब्राह्मणों ने कर्मकाण्डियों और पाखण्डी ब्राह्मणों का विरोध करके केतु कुल के साथ सौवीरों के गण को ब्राह्मणों के हाथों से मुक्त किया था।[२] 'अमात्यपुत्री वृहद्धती भी गणों की चर्चा करती है, जिसे सुनकर शोणकेतु कह उठता है-'तुम गण क्यों चाहती हो वृहद्धती? गण क्षत्रियों का शासन है। दासों, श्रेठियों और श्रेष्ठियों का नहीं। क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजाओं से संसार में पैदा हुए हैं। उन्होंने ब्राह्मणों से पृथ्वी को जीता है।"[३] गंधराज के राजनीतिक जाल में फँसकर कुमार शोणकेतु विद्रोह कर उठता है और सेना की सहायता से उभड़ते हुए दासों, ब्राह्मणों का विनाश करता है। शोणकेतु की प्रेयसी सनगा जात्याभिमान के कारण उसकी हत्या कर वृहद्धती से कहती है- "यह गण भी एकराष्ट्र की भाँति ब्राह्मणों का विनाश चाहता है। तू मेरी बहन है, मैंने देखा है तुझे कि तू भूल कर रही है, मैं तुझे नहीं छोड़ सकती[४]।" गणराज्य की स्थापना को संघर्ष का मूल मानकर दोनों पक्ष संघर्ष करते रहे और अन्ततः दोनों का विनाश हो गया। इस उपन्यास में लेखक की गणतंत्रात्मक नीति अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की तरह स्पष्ट नहीं हो पायी है। समस्त उपन्यास में आभीर-सौवीर-संघर्ष, गधराज-दास संघर्ष ही वर्णित है। उपन्यास भर में न तो गणतंत्र की कोई परिभाषा ही दी गयी है और न उसका महत्व ही अंकित है।

ऐतिहासिक धरातल पर निर्मित इस उपन्यास के कलेवर में सामाजिक गतिविधियों के चित्र स्पष्टतः अंकित है। तत्कालीन समाज में जातीय-संकीर्णता की दीवार इतनी ऊँची हो गयी है थी कि व्यक्ति उसे कूद कर राज्य के सुख की कल्पना करने में असमर्थ था। जाति-हित की रक्षा के लिए वयोवृद्ध क्षत्रिय गंधराज ने देश की स्वतंत्रता को गौण स्थान देकर विदेशी आक्रमणकारी आभीरों को निमंत्रित कर लिया था। इस रहस्य को वह वयोवृद्ध शिपिविष्ट से उद्घाटित करते हुए कहता है-" हमने आभीरों को निमंत्रित करके यहाँ के दासों और कर्मकर शूद्रों को दबाये रखने का यत्न किया था। ···· आभीरों ने दासों को बढ़ावा देकर, प्रजा का एक पूरा पक्ष ही अपने राज्य की दृढ़ नींव बना लेने का प्रयत्न किया। दासों के साहस बढ़े। क्षत्रियों के अधिकारों पर कुठाराघात होने की पूरी सम्भावना हो गयी। ब्राह्मणों ने तो गण की परपरा को ही ठीक नहीं समझा है।[५]" व्यक्तिगत द्वेषाग्नि में देश के हित को भूलनेवाले भारतीय इतिहास में बहुत हैं, किन्तु जातिगत स्वार्थ के लिए देश को नष्ट करनेवालों का यह विचित्र उदाहरण है। जातिगत बन्धन इतना सशक्त हो गया था कि जीवन का कोई भी मोड़ जाति-सीमा को पार नहीं कर सकता था। छल से वृषकेतु का विवाह ब्राह्मण-कन्या वृहद्धती से हो गया, किन्तु रहस्य खुलने पर वृहद्धती आकाश में पागल होकर कहती है- "नीच क्षत्रिय! तुम्हारे भीतर इतना विष था। ···चराधम क्षत्रिय होकर तुमने ब्राह्मणी पर दृष्टिपात किया · मेरा सर्वनाश हो गया। अब वह धरती पर सिर पटकने लगी[६]।" वृहद्धती के विलाप का प्रमुख कारण जाति-बन्धन ही था अन्यथा विधव विवाह उस समय प्रचलित था। किन्तु वर्ण-व्यवस्था इसी युग में बदल गयी। पहले जहाँ आर्य केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होते थे, इस युग में यहाँ के नाग, राक्षस आदि निवासियों का समाज भी अन्तर्मुक्त हो गया था।[७] "इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के परिवर्तन के कारण अनार्यों का भी समावेश होने लगा।" ····· आचार्यों के पुजारी आर्य पुजारी(ब्राह्मण) तथा योद्धा योद्धाओं (क्षत्रियों) में व्यापारी (वैश्यों) व्यापारियों में तथा शुद्र (कमकरों) शूद्रों में मिल गये। आज भी यह चेष्टा भारत में है। नाई, न्यायी ठाकुर और कोली तन्तुवाय वैश्य तथा बढ़ई लोग ब्राह्मण बनते हुए दिखाई देते हैं।[८] "इस प्रकार वर्तमान सामाजिक परिवेश में भी उनके ऐसे उदाहरण है, जो शर्मा से शुक्ल अथवा वैश्य से क्षत्रिय बनते हुए दिखाई पड़ते हैं। वर्णो में यह सम्मिश्रण अतीत काल से लेकर अब तक निरन्तर होता चला आ रहा

---

१ अँधेरे के जुगनू, पृ० ४९।
२ वही, पृ० ८८।
३ वही, पृ० १६५।
४ वही, पृ० २७२।
५ अँधेरे के जुगनू, पृ० १५५।
६ वही पृ० १४२।
७ अँधेरे के जुगनू, पृ० ४(भूमिका)।
८ वही पृ० ४(भूमिका)।

है। अतः आज का कोई भी व्यक्ति अपने वर्ण की शुद्धता पर अभिमान नहीं कर सकता है। सम्भवतः लेखक ने सामाजिक एकता को बल देने के लिए ही जाति-सम्मिश्रण को अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिक महत्व दिया है। क्योंकि वर्तमान समाज में जातिगत द्वेष की ऐसी ज्वाला भभक रही है, जिसमें समाज का हित स्वाहा हो रहा है। जातिगत विषमता की जो अग्नि कई सहस्त्र वर्ष पूर्व लगी थी, वह आज भी धधक रही है। अत उपन्यास की जिन्दगी आज से एक इंच भी आगे बढ़ी या घटी नहीं दीखती।

इस उपन्यास में लेखक की नारी विषयक मान्यताएं अधिक स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखक ने नारी को मर्यादा के चौखटे में बन्द कर विवशता को ऐसी जंजीर में बाँध दिया, जहाँ वह सर्वग्रासी संकट में कर्त्तव्य के अतिरिक्त जीवन की किसी भी स्वाभाविकता से परिचित नहीं हो पाती। वह मानव-शरीर पाकर शोषण, उत्पीड़न, अपमान, अत्याचार और पाशविक व्यवहार को सहन करती हुई पति-हित में इतनी रम जाती है कि उसे इन कटुताओं का आभास मात्र भी नहीं हो पाता। किन्तु इस उपन्यास में नारियाँ पशु जीवन न जीकर मानव-जीवन जीती हैं, जिसके कारण उनके चरित्र में अन्तर्द्वन्द परिलक्षित है। विवाहिता नारी के जीवन में मायके के प्रति एक सम्मानपूर्ण धारणा होती है। कुलीन परिवार की कन्याएं अकिंचन परिवार में प्रायः गर्वीली हो उठती हैं और परिवार में अशांति का कारण बन जाती हैं। पति भी ससुराल के वैभव की चकाचौंध में स्त्रैण बन जाता है। आभीरराज भूमन्यु द्वारा अपमानित होने पर आभीर महिषी सौरमेयी कहती है- मैं पार्वत्य मण्डलेश्वर मद्रविजयी पाशिवाट की दुहिता हूँ भूमन्यु! मेरे कारण ही तू अभीरराज है। यदि मैं कल किसी दूसरे का वरण कर लूँ तो यही आभीर तेरी हत्या कर देंगे। तूने मुझ पर हाथ उठाया? तेरा इतना साहस! बर्बर पशु।.........मैं तेरे इस साहस का फल तुझे ....[1]। "इस प्रकार के अनेक उदाहरण आज के समाज में भी दृष्टव्य है। उपन्यास में वर्णित दूसरा मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि एक नारी दूसरी तरुणी की सुन्दरता को ईर्ष्या की दृष्टि से देखती है। "मोह न नारि नारि के रूपा" की युक्ति की सार्थकता को अधिक बल मिला है। नारी की यह स्वभावगत ईर्ष्या अवस्था-विशेष को स्वीकार नहीं करती। सास-बहू के बीच ईर्ष्या ही कलह की दीवाल बनाती है। सनगा के रूप-लावण्य को देख कर और शोणकेतु से उसके सम्बन्धों को सोच कर महिषी शैखावत्था मन के अन्तराल में पुकार उठती है, "प्रत्येक व्यस्क स्त्री जो तरुणी से ईर्ष्या करती है या डरती है, इसका कारण यही है कि वह तरुणी को अपने से अधिक सशक्त समझती है। सशक्त अपने आप में नहीं, अपने प्रभाव से पुरुष को पराजित करने की सामर्थ्य होने के कारण भी। और वयस्का क्योंकि किसी समय यौवन रूपी खड्ग की धार पर नृत्य करके संसार को चकित कर चुकी होती है......।[2] "उपन्यास में वर्णित तीसरा मनोवैज्ञानिक सत्य" सौतिया डाह है। आभीर-महिषी सौरमेयी के लिए यह असह्य है कि उसके वैवाहिक-जीवन में कोई अन्य नारी प्रवेश करे। सनगा के इस कथन पर "तेरा यौवन और स्त्रीत्व सब व्यर्थ है, क्योंकि तेरा पुरुष तुझे पशु से हीन समझता है[3]। सौरमेयी का हृदय काँप उठता है और इसी नारी-सुलझ ईर्ष्या के कारण ही वह शत्रु-बंदियों को मुक्त कर देती है तथा अपनी अन्य दो सौतों की हत्या कर देती है।

उपन्यास में वर्णित तत्कालीन समाज में नारियां भोग्या ही मानी जाती रहीं। समाज में पुरुष के समक्ष उनका कोई स्थान नहीं था। सनगा की सहायता के संदर्भ में कुमार शोणकेतु कहता है, 'जो यह समझता है कि मदिरा पीकर वह अपने आपको भूल सकता है, उसे स्मरण रखना चाहिए कि मद दूर होने पर उसकी व्यथा पहिले से कहीं अधिक बढ़ जाती है'[4]। 'और' स्त्री एक बरसाती नदी है और पुरुष एक पर्वत है, वह अन्ततोगत्वा उसके चरणों पर गिरती है।"[5] कुमार शोणकेतु की नारी विषयक धारणा से क्षुब्ध होकर महिषी शैखावत्या कहती है, 'शोण स्त्रियों को निन्दा करते समय यह न भूल कि तू भी एक स्त्री का पुत्र है, मैं तेरी जननी भी एक स्त्री ही हूँ।'[6] महिषी के इस कथानक में डॉ० रांगेय राघव की नारी-जागरण विषयक धारणा निहित है। मैथिलीशरण के 'द्वापर' में नारी का यही प्रतिपादित स्वर व्यक्त है।[7]

---

१. वही, पृ० १३५।

२. अँधेरे के जुगनू, पृ० ५५।

३. वही, पृ० १३१।

४. वही, पृ० ३९।

५. वही, पृ० ५७।

६ वही पृ० ४०।

७ द्वापर पृ० ४१।

इस उपन्यास में लेखक ने तत्कालीन समाज में प्रचलित विवाह-संबंधी स्थितियों पर प्रकाश नहीं डाला है। इतना ही आभासित हो पाता है कि उस समय बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी। पति की मृत्यु के प्रश्चात नारिया देवर से भी विवाह कर सकती थीं। 'सौवीरों में ब्राह्मणियां पहले देवर को पति बनाती थीं।'[१] विवाह-पद्धति का आभास वृषकेतु और दृहद्धती के पाणिग्रहण के समय होता है।' सौरमेयी ने जाकर देखा कि नाग कोण के कक्ष में वाद्यध्वनि हो रही थी और एक अवगुंठनमयी आभीर स्त्री को नंगे खड्गों के बीच में अग्नि के चारों ओर वृषकेतु के साथ प्रदक्षिणा करायी जा रही है।'[२] क्षत्रियों में अपरहण की प्रवृत्ति को अधिक सम्मान मिला था। आभीर कन्या के विवाह के सम्बन्ध में महिषी-शैखावत्या वृषकेतु से कहती है, 'रे जड। क्षत्रिय पुत्र। और सो भी केतुकुल में होकर कन्या अपरहण करने को माता की आज्ञा ले रहा है।...... ...धिक्कार है तुझे! जिस समय तेरे पिता ने मुझे अपहरण किया था ... ...कहा था कि शैखावत्या। आज से यह रक्त तेरा कुल है.........।'[३]

उपन्यास का ऐतिहासिक गठन महाजनक युग की परिस्थिति से संबंधित है। लेखक की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उपन्यास की कतिपय घटनाओं की रेखाओं में उसने अपनी अद्वितीय कल्पना एवं सूझ से ऐसा रंग भर दिया है कि उसमें उस युग का समस्त धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक वातावरण सजीव हो उठा है। किन्तु लेखक गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के ऐतिहासिक विकास में अधिक रम गया है, जिससे धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों पर हल्का रंग चढ़ पाया है। 'मुर्दों का टीला' उपन्यास में लेखक ने सतर्कता से धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियों का चित्रण किया है, वैसी सतर्कता इस उपन्यास में लक्षित नहीं है। इस काल में वैदिक धर्म अंधविश्वासों और ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों से आच्छन्न हो गया था। ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष के कारण ब्राह्मणों का पतन हो रहा था। अतः अन्य वर्णों से उनकी श्रद्धा उठ चुकी थी। 'केवल ब्राह्मण वैदिक संस्कृत बोलते, किन्तु जनसाधारण में लौकिक संस्कृत साहित्यिक भाषा थी और जन भाषा पालि प्रचलित हो रही थी।'[४] संस्कृत भाषा प्रायः सिन्धु प्रदेश से मगध तक निर्विवाद रूप से समझ में आती थी। 'लेखक भाषा-विषयक भ्रम के दुष्परिणाम से परिचित था। अतः अपने अधिकांश उपन्यासों में भाषा सम्बन्धी भ्रमों का निवारण किया है। लेखक की दृष्टि से 'यदि परस्पर संबंध रखना है तो इससे सहज तरीका है, रूसी की तरह एक राष्ट्रभाषा को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जाए । तब अपनी भाषा, अपनी बोली, एक राष्ट्रभाषा से काम चल सकता है। क्लासिकल भाषा क्लासिकल भाषा यहाँ भी आवश्यक नहीं है'[५]। उपन्यास के पात्र जब गुप्त बात करना चाहते है तो जनभाषा के अतिरिक्त अपनी भाषा में बोलने लगते हैं। 'आभीर सैनिक महानगर की नर्तकियों के अर्धनग्न शरीरों से जब विलासतापूर्वक खेलते तब वे स्त्रियाँ निर्लज्जता से हंसती और उस समय जनभाषा छोड़ अपनी भाषा में बातें करने लगतीं, जिसमें अब लगभग समस्त जनभाषा का ही प्रभाव था[६]।' लेखक ने तत्कालीन वेश-भूषा पर भी प्रकाश डाला है। 'उनके भावों में जंघाओं तक को ढंकनेवाले पुटबद्ध जुते थे जिनके किनारे रंग-बिरंगे थे और सिरों पर शिरस्त्राण थे।... ...उनकी स्त्रियाँ अधोवासक घुटनों तक लटकते पहने थीं किन्तु उन पर हिरण्य का कसीदा था वे भारी थे।......वे हाथों में और पैरों में कुहनियों और पिण्डुलियों तक क्रमशः हाथी दाँत लाख और पंचधातु के आभूषण पहनतीं[७]।'

चरित्र

'अंधेरे के जुगनू' में पात्रों का एक जुलूस निकला है। राघवजी की चरित्र-सृष्टि की प्रमुख विशेषता यह है कि वे सभी पात्रों का परिचय इतने जोश से कराते हैं कि पाठक के मन पर उनकी गहरी छाप पड़ जाती है। उपन्यास के सभी पात्रों को अलग-अलग व्यक्तित्व दे देना लेखक की जागरूक प्रतिभा का प्रमाण है। 'चरित्र-चित्रण की सफलता साहित्य की सफलता है क्योंकि साहित्य में, व्यक्ति में ही समाज का प्रतिनिधित्व होता है। उस व्यक्ति को यदि कठपुतली के रूप में चित्रित किया जाता है तो वह कभी प्रभाव नहीं डाल सकता। इतिहास में जब हम जिस युग के व्यक्ति का चित्रण करेंगे हमें उस युग के ही व्यक्ति का चित्रण करना पड़ेगा[८]। 'यद्यपि

---

१ अंधेरे के जुगनू, पृ० १६५।
२. अंधेरे के जुगनू, पृ० १४१।
३ वही, पृ० ११६।
४. वही, पृ० ४४।
५ संगम और संघर्ष पृ० ८६।
६ अंधेरे के जुगनू, पृ० ४१।
७ अंधेरे के जुगनू, पृ० ४२ ४३।
८ डॉ० रांगेय राघव संगम और संघर्ष पृ० १०।

इस उपन्यास के अधिकांश पात्र काल्पनिक हैं, किन्तु उनकी वेश-भूषा, उनका रहन-सहन महाजनपद युगीन व्यक्ति के समान ही है। उपन्यास की सबसे बड़ी चारित्रिक विशेषता यह है कि कोई ऐसा पात्र नहीं है जिसके प्रकाश से अन्य पात्र प्रकाशित होते हों अथवा उसके प्रकाश से अन्य पात्रों का प्रकाश धूमिल हो जाता हो। कुमार वृषकेतु शोणकेतु, आभीरराज, भूमन्यु, गंधराज, अमात्य प्रावृट सबके सब एक ही स्तर पर, लगभग एक ही कारणों से, अपना जीवन समाप्त करते है और सबके मरने की प्रतिक्रिया लगभग एक ही प्रकार की होती है। अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में कोई न कोई पात्र लेखक की विचारधाराओं का प्रचारक अवश्य हुआ है, किन्तु इस उपन्यास में लेखक समदर्शी हो गया है।

वृषकेतु

सौवीर कुल का उत्तराधिकारी वृषकेतु, शोणकेतु का अग्रज, वहिंगकेतुका पुत्र, आर्य दीर्घकेतु का पौत्र तथा आर्य भद्रकेतु का प्रपौत्र है। उपन्यास की कथा-धारा में वृषकेतु को अधिक स्थान मिला है। लेखक ने वृषकेतु के चरित्र को आदर्श पात्र बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। "चीवर" के हर्षवर्द्धन की भाँति वह उत्तराधिकारी होता हुआ भी राज्य के प्रति लोलुप नहीं है। राज्य की विकास ही उसके जीवन का सबसे बड़ा साध्य है। वह प्रावृट से कहता है-"देव! जिस समय आपने पूज्य पिता के स्वर्गवास के अनन्तर अमात्यों का मण्डल बिठाया था, मैने तो उत्तराधिकारी होने पर भी राज्य लेने की चेष्टा नहीं की। राज्य में कुलों का वैमनस्य घटाने को मैने तो कुलों का गण बनाना स्वीकृत कर लिया था। जानता था कि यदि यह नहीं होगा तो समस्त सौवीर सत्ता ही समाप्त हो जायगी।[१]" किन्तु वृषकेतु शारीरिक रूप से ही शुरू से अन्त तक उपन्यास में है। वह महिषी शैखावत्या और अमात्य प्रावृट के संकेतों पर नाचनेवाला लट्टू है। उपन्यास के किसी भी पृष्ठ पर वह चिन्तनशील नहीं दिखायी पड़ता। वह बुद्धि का नहीं किन्तु खड्ग का धनी है। आभीरराज भूमन्यु के द्वन्द्व युद्ध के समय "हठात् आभीर राज ने बढ़कर आक्रमण किया। वृषकेतु ने झुककर वार बचाया, परन्तु उस समय वृषकेतु के प्रचण्ड खड्गघात से आभीरराज का खड्ग छूट गया और वह लुढ़क गया। निकट ही था कि वृषकेतु उसको मार डालता कि गधराज बीच में आ गया। उसने चिल्लाकर कहा-"वृषकेतु की जय। सौवीर की जय।[२]" वृषकेतु तीव्र संवेदनशील व्यक्ति है। वह अमात्य पुत्री वृहद्धती को उसकी किशोरावस्था से प्यार करता है, किन्तु संयम के चौखटे के भीतर ही सीमित है। आभीरराज भूमन्यु के छल से जब उसका पाणिग्रहण विधवा वृहद्धती से होता है, तो रहस्य खुलने पर वह प्रायश्चित करता हो दिखायी पड़ता। वृहद्धती के अनेक उलाहनों के समय" वह समुद्र की भाँति गंभीर दिखायी देता था जैसे उसमें कष्ट सहने की अपरिमित शक्ति है और वह सहज ही विचलित नहीं हो सकता।[३] अन्त में वृहद्धती चीख उठती है-"छि वह मेरा दंभ और अज्ञान था। तुम कितने अच्छे हो। अर्थ, सब मनुष्य समान हैं।[४]" शोणकेतु के विरोधी हो जाने पर भी वह निरन्तर गण की रक्षा के लिए संघर्ष करता है। वृहद्धती की मृत्यु सुनते ही "वृषकेतु गिरा और सदा के लिए सो गया।[५]"

आभीरराज भूमन्यु

उपन्यास में अभीरराज भूमन्यु का प्रवेश खलनायक के रूप में हुआ है। "आभीरराज भूमन्यु लम्बा व्यक्ति था और उसका वक्ष प्रशस्त था।[६]" व्याघ्रवंशीय क्षत्रिय गंधकाल के निमंत्रण से वह सौवीर-भूमि पर आक्रमण कर वहाँ का शासक हुआ। "उसको यह प्रिय खेल था कि जब वह रण-भूमि में शत्रुओं को पराजित करता था तो शत्रु के अधिनायक का नरमुण्ड निकलवाकर उसे सुवर्ण में जड़व कर, उसमें मदिरा भर कर पीता हुआ, शत्रु सैनिक और योद्धाओं के नरमुण्डों की मीनार बनवाकर, विधवा शत्रु-स्त्रियों को अर्धनग्न करके उनका नृत्य देखकर, अट्टाहास करता था और फिर अपने सैनिकों को पराजित ग्राम या नगर में आग लगाने की आज्ञा देकर आनंदित होता था।[७]" वह मांसल-सौन्दर्य प्रेमी है इसलिए नारी का आदर वह उसके शारीरिक बनावट के अनुसार ही करता है। उसकी विलासिता के कारण ही महिषी सौरमेयी असन्तुष्ट रहती है और शत्रुओं का समर्थन करती

---

१. अँधेरे के जुगनू, पृ० ६५।
२ अँधेरे के जुगनू, पृ० १४०।
३ वही, पृ० ११३।
४ वही, पृ० २४५।
५. वही, पृ० २७६।
६ वही पृ० ४४।
७ वही पृ० ११।

है अन्त में उसकी हत्या भी सौरमेयी के प्रेमी ह्रीमान के द्वारा हो जाती है।

अन्य पुरुष पात्रों में कुमारशोणकेतु, ह्रीमान, अमात्य प्रावृट, व्याघ्र, क्षत्रिय गंधकाल, आर्य शिपिविष्ट आदि मुख्य है। वास्तव में कथानक का मण्डप दो स्तम्भ अमात्य प्रावृट और गंधकाल की नीतियों पर आधारित है। यह संघर्ष आभीर-सौवीर संघर्ष नहीं था अपितु प्रावृट-गंधकाल की नीतियों का संघर्ष था। अमात्य प्रावृट का चरित्र अधिक सबल और मानवीय है। उनके मस्तिष्क में गंधकाल की तरह अनैतिक और अमानवीय नीतियों का प्रश्रय नहीं था।

नारी पात्रों में वृहद्धती, सनगा, शैखावस्था, सौरमेयी, दमयन्ती, सुवर्चला, मदनमंथिनी आदि मुख्य है। किन्तु किसी भी पात्र को लेखक ने यों ही नहीं छोड़ दिया है। ये नारी पात्र व्यक्तिगत सबलता-दुर्बलता आशा-आकांक्षा से समन्वित हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने नारियों को मनोवैज्ञानिक चरित्र दिया है। आभीरराज भूमन्यु की महिषी होने पर भी सौरमेयी ह्रीमान से प्रेम करती है और शोयाकेतु की शारीरिक सबलता को देखकर मुग्ध हो उठती है। आज भी ऐसी अनेक नारियाँ है, जो प्रतिष्ठित पति की पत्नी होने पर भी अपना शारीरिक संबंध अन्य पुरुषों से कर लेती है। सनगा का चरित्र अधिक मुखर है। वह अपने इस विशिष्ट गुण के कारण कुमार शोणकेतु को अपने प्रेम-पाश में बाँध लेती है। उसकी विलक्षण बुद्धि का परिचय तब प्राप्त होता है जब वह बन्दिनी होने पर भूमन्यु और सौरमेयी के बीच द्वेष का बीज बोकर अपने ऐसी शोणकेतु को कारागार से छुड़ा लेती है। किन्तु अमात्य प्रावृट के पत्र को पढ़कर 'सनगा! मैं तेरा पितृव्य नहीं, पिता हूँ। वृहद्धती की माता से विवाह होने के पूर्व ही एक ब्राह्मणी के गर्भ मे तेरा जन्म हुआ था' -पागल हो जाती है और प्रेमी शोणकेतु की हत्याकर स्वयं वृहद्धती से संघर्ष करती हुई मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

'अंधेरे के जुगनू' में संवाद-तत्व का समुचित समावेश हुआ है। ये संवाद प्रायः पात्र परिस्थितियों के अनुकूल हैं, अतएव शील-प्रकाशक तथा सुन्दर हैं। अमात्य प्रावृट के कथनों में उनके स्वभाव की निर्द्वन्द्व दृढता, दूसर पर छा जाने की शक्ति एवं काम लेने की कुशलता मिलती है वृषकेतु के कथनों में एक शूर, मानवतावादी, सहृदय तरुण की समयानुसार ओजस्विता आर्द्रता तथा दृढ़ता। ये संवाद तात्कालिक वातावरण के उपयुक्त है।

'अंधेरे के जुगनू' की भाषा-शैली शो सफलता तत्सम बहुत संस्कृत शब्दावली के प्रयोग में है। इसमें प्रसगानुसार परिवर्तन तथा गम्भीर विषयों के प्रतिपादन की क्षमता है। अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से उसमें तात्कालिक वातावरण-विधान की अद्भुत क्षमता आ गयी है। लेखक ने इन अप्रचलित शब्दों का अर्थ भी दे दिया है, जैसे कुतक(कालीन), पालिंगुणिम (जूता), सीता (खेती का सरकारी कर) आदि। कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता से दुरुहता भी आ गयी है। जैसे- 'प्रकोष्ठ में काष्ठ स्तम्भों पर मणिमालाएं लटक रही थीं। बीच में अगरुपात्र रखा था। भित्तियों पर चित्र बने थे और एक स्वच्छन्द चन्दन की फलका पर ऊदबिलाव की खाल के उद्दलोमी कंबल के नीचे कदलीमृग के चमड़ों से बना कम्बल कदलीमिगपवरपच्चत्थरण पड़ा था। सामने की तिपाई पर गोणक बिछा था'[२]। स्थान-स्थान पर काव्यमयी भाषा के प्रयोग से लेखक ने विषय की सरसता को बढ़ाया है।

कुल मिलाकर 'अंधेरे के जुगनू' डॉ० रांगेय राघव का एक सामान्य ऐतिहासिक उपन्यास है। इस कृति में लेखक का गणतंत्रात्मक शासन-विधान विषयक दृष्टिकोण अस्पष्ट और उलझा हुआ है। उपन्यास का अन्त कारुणिक है। इसमें सत्, असत् दोनों पक्ष नष्ट हो जाते हैं, अतः पाठक के मन पर कोई छाप नहीं पड़ती।

राह न रुकी

'राह न रुकी' (१९५८) डॉ० रांगेय राघव का एक लघु ऐतिहासिक उपन्यास है। 'राह न रुकी' उपन्यास का कथानक बुद्ध-महावीर-युग की सामन्ती व्यवस्था पर आधारित है। उपन्यास में लेखक की व्यक्तिगत दार्शनिक विचार-धारा अधिक मुखर हो उठी है। किन्तु उसके विचारों के वाहक पात्र युग की सीमाओं में नियंत्रित और अनुशासित है। व्यक्ति से अधिक उसकी दृष्टि युग पर है और युग के अन्तराल से उसका व्यक्ति उभरता है। इसीलिए ऐतिहासिक उपन्यास की मर्यादा की पूर्ण रक्षा हो पायी है। 'चीवर' में बौद्ध धर्म की उत्कृष्टता व्यक्त करने के पश्चात् लेखक की दृष्टि जैन धर्म पर गयी। उसके अनुसार जैन धर्म, बौद्ध-धर्म का अग्रिम पथ है, जो अधिक उदार, सशक्त और मानवतावादी है। 'लोगों ने प्रायः बुद्धमत को अधिक देखा है, उन्हें जैनमत का

---

१ अंधेरे के जुगनू, पृ० २६४।

२ अंधेरे के जुगनू, पृ० ६८।

भी व्यापक प्रभाव देखना चाहिए। जिन मार्ग को अपनाने वालों ने अपने समय में बड़े-बड़े प्रयोग किये थे, जो आज भी अपना महत्व रखते हैं। एक दृष्टि से महावीर का मत अधिक व्यापक था, क्योंकि उन्होंने गृहस्थ को अधिक महत्व दिया था और स्त्रियों का उन्होंने साधना के पंथ में प्रायः बराबरी का दर्जा दे दिया था।[१]' जैन धर्म का पलायनवादी रूप लेखक को ग्राह्य नहीं है, क्योंकि इससे जनहित और स्वस्थ समाज की भावनाओं को गहरा आघात लगता है। '.........तप और वन। यह जीवन से भागना है। लोक में इससे परिवर्तन नहीं होगा। तपस्वी इस लोक को ठीक नहीं कर पाता तो यहाँ से भाग जाता है, परन्तु यह मैं ठीक नहीं समझता।'[२] संयम के साथ जीवन-संघर्ष में रत रहना मनुष्य का सबसे पुनीत कर्तव्य है। यह दृष्टिकोण 'दिनकर' के 'संन्यास खोजना कायरता है मन की' दृष्टिकोण से साम्य रखता है। 'लोक में संयम का अर्थ तपस्वियों के कारण पलायन हो गया है। भाग जाओ, छोड़कर भाग जाओ। मैं भागूँगा नहीं। संयम का अर्थ घुटन और सड़ना नहीं है; स्वस्थ बहाव है। अपने स्वार्थ की चिंता करना पशुत्व का उत्तराधिकार है। उससे ऊपर उठने की आवश्यकता को देखकर मनुष्य उठ नहीं रहा है।'[३]

उपन्यास में मनुष्य की कुछेक मूलभूत समस्याओं को अंकित किया गया है, जो अतीत काल से अबाध गति से गतिमान है। हिंसा, घृणा, विरोध, असन्तोष, वैषम्य आदि समस्याएँ आदि काल से अब तक चली आ रही हैं और भविष्य में भी चलती रहेंगी। हर युग में इन समस्याओं के हल का प्रयास किया गया, किन्तु प्रयास के साथ-साथ वे जटिल से जटिलतर होती गयीं। मनुष्य हिंसा का अवसान हिंसा में देखना चाहता है। जिस समय अंग-देश पर वत्स-शासक शतानीक ने आक्रमण किया, उस समय परिषद् में एक स्वर गूँज उठता है- 'युद्ध। युद्ध का बदला युद्ध! हत्या का बदला हत्या! ध्वंस का बदला विध्वंस! नाश का बदला सर्वनाश!'[४] इसी मानसिक धरातल पर हजारों वर्ष बाद आज का वैज्ञानिक सुसभ्य संसार भी चल रहा है। अनेक शांति-उपासक युद्ध का हल युद्ध में देख रहे हैं। वियतनाम इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार की संकुचित मनोवृत्ति के कारण मनुष्य सुख-शांति खोकर प्रतिशोध की परिधि में चक्कर काट रहा है। स्थायी शांति के लिए मनुष्य के विचारों में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। शांति का समर्थक दधिवाहन परिषद् के निर्णय का विरोध करता हुआ कहता है-'मैं इसे स्वीकार नहीं करता। युद्ध से युद्ध, युद्ध से युद्ध। शांति से शांति। युद्ध से शांति नहीं-विनाश। शांति से युद्ध नहीं-निर्माण और समृद्धि। इन दोनों का भेद मूलभूत है और सदा ही बना रहेगा।'[५]

देशकाल की आवश्यकता के अनुरुप नारी को प्रकाश में लाने और उसके अन्तर्द्वन्द्वों को व्यक्त करने की लेखक ने सफल चेष्टा की है। मध्यकाल में नारी के प्रति जो अवहेलना की गयी थी, उसका परिहार करने में अनेक आधुनिक साहित्यकारों ने बहुत बड़ा साहित्यिक योग दिया है। किन्तु डॉ० रांगेय राघव को नारी का एक पक्षीय रूप स्वीकार नहीं। उन्होंने प्रशंसा और निंदा के पंक से मुक्त कर नारी को कर्तव्य-पथ पर खड़ा किया है, जहाँ वह अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वयं जिम्मेदार है।'.........कौन कर रहा है यह अत्याचार! स्त्री और पुरुषों पर स्त्री और पुरुष ही तो अत्याचार कर रहे है। भाग्य का नाम मत दो, उसे, वह तुम्हारे कर्मों का फल है। यह झूठ है कि स्त्री पर अत्याचार हो रहा है। अत्याचार स्त्री-पुरुष दोनों पर है।'[६] उन्होंने पदलोलुप नारियों के व्यक्तिगत स्वार्थों की निन्दा करते हुए लिखा है- 'हमारे समाज में उच्च वर्ग की जो स्त्रियां आज झूठी स्त्री-स्वतन्त्रता की बातें करती हैं, उनके लिए उपन्यास की पात्र वसुमती एक पाठ है।'[७] इसके साथ ही लेखक ने उपन्यास में कुछ परिवारिक समस्याओं की ओर भी संकेत किया है। पारिवारिक जीवन मे सास-बहू के सम्बन्धों की समस्या बड़ी जटिल है, जो अतीत काल से लेकर अब तक उसी रूप में व्याप्त है। सास अपने पुत्र पर पूर्ण अधिकार चाहती है। उसकी दृष्टि बहू केवल बच्चे पैदा करने और काम करने के लिए होती है।'[८] पुरुष स्वभावतः युवती को अधिक महत्व देता है; जो सास के लिए असह्य है। किन्तु सास की दृष्टि में पुत्र-दोषी

---

१. राह न रुकी, भूमिका।

२. वही, पृ० ११७।

३. वही, पृ० १२०।

४. वही, पृ० ९९।

५. राह न रुकी, पृ० १००।

६. वही, पृ० १५३।

७. वही, भूमिका।

८ वही पृ० १५।

न होकर बहू दोषी होती है, जिससे स्थायी संग्राम छिड़ जाता है। इस समस्या की ओर संकेत करती हुई वसुमती से जरिता राजकुमारी कहती है- 'सदा से ऐसा ही होता आया है। बहू आती है तब सास तंग करती है जब वही बहू सास बन जाती है तब अपने बेटे की बहू से बदला लेती है।'[१] अतः पति के घर में प्रवेश करने के क्षण से ही बहू सास के प्रति शंकित हो उठती है। कभी-कभी तो माताएं बहुओं के कुचक्र में फंसकर नारकीय जीवन व्यतीत करती है। पुत्री के हृदय में भाभी की अपेक्षा माता के प्रति अधिक प्रेम होता है। इसी ममता से विवश होकर वह माता और भाभी के संघर्ष से अलग नहीं रह पाती जिससे बहू पर दो सीमाओं से आक्रमण हो जाता है। किन्तु ननद भाभी के घर में प्रायः दयनीय जीवन व्यतीत करने के लिए ही विवश होती है। उपन्यास में राजकर्मचारी की गुणवती विधवा बहन भाभी के कारण भाई से अलग होकर ठोकरें खाती रहती है।

इस उपन्यास में डॉ० रांगेय राघव का समाजवादी दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हो उठा है। आर्थिक विषमता को उन्होंने समाज का अभिशाप माना है। 'सब मनुष्यों की आत्मा एक समान है, जाति-पांति के बंधन झूठे हैं। कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं।'[२] दास-प्रथा का विरोध, नारी-स्वतन्त्रता का समर्थन, साम्राज्यवाद के प्रति घृणा, शोषित तथा पीड़ित व्यक्ति के लिए सहानुभूति- ये सब लेखक की प्रगतिवादी चिन्तनधारा के प्रतिफल हैं।

चरित्र-चित्रण

पात्रों की सम्यक् योजना में डॉ० रांगेय राघव पर्याप्त सफल हुए हैं। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र इतिहास-सम्भव हैं। सभी पात्रों के साथ लेखक की समान सहानुभूति है। उसमें ऐसे निरर्थक पात्र नहीं हैं, जिन्हें गणना के लिए रख दिया गया हो। ये सभी पात्र जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों के प्रतीक हैं। लेखक ने इनके बाहरी-भीतरी दोनों पक्षों का अंकन सफलता से किया है। मिसेज लीवी ने उपन्यास के पात्रों पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है- 'चरित्र पाठक की सृष्टि है, लेखक की नहीं। वस्तुतः उपन्यास को केवल यही करना है कि वह उन्हें सबल रेखाएं दे दे। पाठक उनसे सहयोग करेगा ताकि उसे निश्चय हो जाय कि वह वास्तविक व्यक्तियों के साथ है।'[३] इस दृष्टि से लेखक ने सभी पात्रों को सुदृढ़ रेखाओं से अंकित किया है। 'दिव्या' में जिस प्रकार 'मारिश' और दिव्या' लेखक की विचारधारा को प्रकट करने के साधन हैं, उसी प्रकार 'राह न रुकी' में वासुमती और दधिवाहन लेखक के प्रचारक हैं। अन्तर इतना है कि यशपाल ने स्वयं स्वीकार कर लिया है, परन्तु डॉ० रांगेय राघव ने कहीं कोई संकेत नहीं किया है।

वसुमती उपन्यास की सबसे महत्वपूर्ण सृष्टि है। वह अंग-शासक दधिवाहन और रानी धारिणी के प्रेम की साकार प्रतिमा है। चौदह वर्षीया इकलौती राजकुमारी का प्रवेश उपन्यास में एक दार्शनिक पात्र के रूप में होता है। उच्च-वंश में उत्पन्न होकर भी उसमें चांचल्य नहीं, स्वभाव का गाम्भीर्य है, चिंतन की शक्ति है। आवरण-मात्र से ढका कामुक भुक्खड़पन उसमें नहीं है। कुमार सिद्धार्थ के समान उसके जीवन के प्रथम चरण में ही ससार की कुछ ऐसी कटुताएँ व्यक्त होती हैं, जिनसे उसका हृदय द्रवित हो उठता है। प्रथम ग्राम-यात्रा में वृद्धा की दुर्दशा, कपिता की मानसिक पीड़ा, सारथी के पुत्रियों की वेदना, कवि के गृह-कलश आदि के श्रवण से उसका कोमल मस्तिष्क झनझना उठता है और वह विवाह के बंधन में न बंधने की प्रतिज्ञा कर लेती है। अपनी मा से कहती है-मैं तो देखती हूँ कि विवाह में प्रायः दुःख होता है, स्त्री कुछ चाहती है, पुरुष कुछ चाहता है और झगड़ा होता है।......मां। विवाह ही बुरा है।'[४] किन्तु वह मर्यादा की सीमा को सदैव स्वीकार कर आगे बढती है। उसके व्यक्तित्व में जो कुछ मुखर है, वह है अमानवीय सामाधिक विधान के प्रति विद्रोह। न्याय और कर्तव्य के समक्ष उसे जीवन का कोई भी सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं। पिता के द्वारा अपराधिनी शेफालिका को क्षमा कर देने के निर्णय को सुनकर ही वह विक्षुब्ध हो उठती है और कहती है- 'महाराजा यह निर्णय पापपूर्ण है।'[५] क्योंकि 'यदि शेफालिका को भय था वह अपने पति की हत्या करती। उसने अपने क्रूर पति को तो छोड़ दिया। ...इसने दूसरों के घर उजाड़ दिये.........इसने जो कुछ किया, लोक के लिए नहीं, अपने लिए किया। यह दण्डनीय है।'[६] दधिवाहन पुत्री के तर्क से गद्‌गद होकर कहता है-'पुत्र। मूर्ख पुत्र का मैं क्या करूंगा। मेरी पुत्री

---

१ वही, पृ० १५।

२ राह न रुकी, पृ० १५४।

३ डॉ० प्रेमशंकर, धरती; परिकथा हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग, पृ० १५८।

४ राह न रुकी, पृ० ३१।

५ राह न रुकी, पृ० ४३।

६ वही पृ० ४४।

इतनी बुद्धिमती है, इसे देखे। लोक देखे। धन्य पुत्री ……।[१] कालान्तर में वह वसुमती को अपना उत्तराधिकारी बनाता है। उस समय नारी का शासिका होना एक अनहोनी घटना थी। उस सामाजिक परिवेश में नारियां मात्र काम-वासना की साधन थीं।

वसुमती अद्भुत नारी है, जिसकी सहनशीलता की कोई सीमा नहीं। उसके व्यक्तित्व के धैर्य का चौखटा लेखक ने प्रारम्भ मे अन्त तक बड़ी सावधानी से बनाये रखा है- इतना ही कभी-कभी तो असाधारण लगता है। बन में माता-पिता के शव को देखकर उसका हृदय कराह उठता है, किंतु उसके धैर्य की चादर खिसक नहीं पाती। वह विश्वासघाती रथी की अधीरता को देखकर कहती है-'ओ रथी! तू मेरा पिता है अब। कायर मत बन। राह रुकी नहीं है। यहीं से जीवन को पवित्र करना प्रारम्भ कर।'[२] यहीं से उसके जीवन के कई मोड़ आते है। रथी की पत्नी तथा श्रेष्ठि धनवाह की पत्नी की नारी-सुलभ ईर्ष्या के कारण उसे अनेक कष्ट भोगने पड़ते है जिसे वह मौन रूप से सहन करती है। वह वसुमती से चंदनबाला हो जाती है और अपने अतीत जीवन को रहस्य में रखती है। जैन धर्म को स्वीकार करते समय उसका सारा रहस्य खुल जाता है, किन्तु वह भौतिक सुखों को ठुकराती हुई कहती है- 'अब मुझे प्रासादों में नहीं रहना है, लोक को जाकर यह सुनाना है कि दु ख से लड़ो, दुःख मिटाओ। लोक की सेवा से बढ़कर कोई सुख नहीं।'[३]

दधिवाहन

अंग-देश का शासक दधिवाहन गम्भीर, विचारशील, शिष्ट एवं मानवतावादी है। वह व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज, समाज से देश की ओर बढ़ता है और अन्त में इन सबसे ऊपर उठ जाता है। वह स्वयं को राज्य का अधिकारी न मानकर एक प्रहरी मानता है। 'मैं दधिवाहन, अंगदेश का राजा, राज्य की शुभचिन्ता में सदैव तल्लीन रहा हूँ और सन्नद्ध प्रहरी की तरह मैंने राज्य के कल्याण के लिए चेष्टा की है।[४] 'ऐतिहासिक कालावधि का ध्यान न देकर हम चरित्र-चित्रण के परिप्रेक्ष्य में देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'चीवर' का हर्षवर्द्धन शीलादित्य का जामा पहनकर 'राह न रुकी' उपन्यास में दधिवाहन के रूप में प्रकट होता है। हर्षवर्द्धन प्रतिक्रिया एवं राज्य-विस्तार के लिए हिंसात्मक गतिविधियों का प्रश्रय लेता है। किन्तु दधिवाहन के रूप में वह इन समग्र मानव-दुर्बलताओं को छोड़ देता है। शतानीक के आक्रमण के समय परिषद एक स्वर से युद्ध का निश्चय करती है किन्तु दधिवाहन युद्ध का अन्त युद्ध में न देखकर शांति में देखता है। उसके अनुसार मानव-विनाशक वीर नहीं बर्बर है-"यह मान लिया गया है कि वीरता इस लूट-मार में छिपी हुई है, किन्तु इसमें मनुष्य का निर्माण नष्ट हो जाता है। उसे बार-बार वीभत्सता का सामना करना पड़ता है। कला और विद्या का युद्ध में विनाश होता है ··· क्षत्रिय का धर्म ही बर्बर कही गयी है। इसीलिए क्रूर कर्म को करते हुए क्षत्रिय को लज्जा नहीं आती।[५]"

शतानीक के बर्बर आक्रमण को मानवता की ढाल पर रोकने के लिए वह अकेले युद्धस्थल में चला जाता है और शतानीक से कहता है "लोक में बलप्रयोग से न आज तक कभी शांति स्थापित हुई है, न कभी होगी। याद रखो कि जब तक खड्ग का प्रयोग होता रहेगा, तब तक घृणा इस पृथ्वी पर जीवित बनी रहेगी। जिसमें निरीह प्रजा की हत्या होगी। उसमें कभी विश्वास अपनी जड़ नहीं जमा सकेगा।[६] "किन्तु शतानीक की स्वार्थ ज्वाला में उसके मानवता के सारे संदेश जल गये अंत में वह स्थायी शांति के लिए स्वयं खड्ग अपने पेट में घुसेड़ कर कहता है- यह देखो सीमा मिट गयी। अब देखो। मनुष्य का अन्त क्या है। कुछ ही देर में राजा नहीं रहूंगा और मुझे चील-कौवे खा जायेंगे……… इतना ही है मनुष्य का जीवन ···इसी के लिए है इतना झूठा अहंकार।[७]" और अंतिम सांस लेता है।

दधिवाहन के साथ लेखक की गहरी सहानुभूति है और उसके चरित्र को उठाने मे उसे पूर्ण सफलता मिली है। किन्तु पाठक दधिवाहन की संन्यासी और दार्शनिक के रूप में तो सहानुभूति दे पाता है, शासक के रूप में नहीं। शासक का यह पुनीत कर्तव्य माना जाता है कि वह बर्बर आक्रमणकारियों का विरोध करे। गीता

---

१ वही, पृ० ४४।

२ वही, पृ० १५०।

३ वही, पृ० १५३।

४ वही, पृ० ८२।

५ राह न रुकी, पृ० १०१।

६ वही पृ० १२६।

७ वही पृ० १३३।

में योगिराज कृष्ण ने स्वयं अपने अवतार के रहस्य को बताते हुए कहा है-

"परित्राणाय साधूनाम विनाशय च दुष्कृताम् धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।[1]" इसके अतिरिक्त भी शुभ-कार्य के लिए आत्म बलिदान तो प्रशंसनीय है, किन्तु आत्महत्या नहीं।

"राह न रुकी" उपन्यास के पात्रों की संख्या "चीवर" और "मुर्दों का टीला" की अपेक्षा बहुत कम है। शतानीक, बिंबसार उपन्यास के खल पात्र हैं, जो व्यक्तिगत स्वार्थ के धरातल पर जीवन के किसी भी उद्देश्य एव सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। धारिणी के चरित्र को उठाने का प्रयास तो लेखक ने किया है, किन्तु वसुमती और दधिवाहन के सामने उसे भूल-सा गया है। अन्य पात्र रुद्रवर्मा, मारुत, श्रेष्ठि धनवाह, प्रसेनजित्" वर्द्धमान महावीर, जरिता, नीला, श्यामलता, मंगला, विरजा, सुनाना आदि उपन्यास में नाटकीय ढंग से आकर पाठक को अपना परिचय दे जाते हैं।

शिल्प की दृष्टि से इस उपन्यास में आकर्षण भी है और प्रौढ़ता भी लेखक ने प्रमुख पात्रों को केन्द्र मानकर उनके व्यक्तित्व के दृष्टिकोण से घटनाओं को, विचारों और अनुभवों के परस्पर आदान-प्रदान को चित्रित किया है। दार्शनिक विवेचन की बहुलता के कारण वाक्य अधिक गंभीर एवं सशक्त हैं। सारी कथा चार खण्डों में विभाजित है और उत्तम पुरुष में कही गयी है।

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि इस उपन्यास में लेखक के विचारों को जितना स्थान प्राप्त हुआ है, उतना ऐतिहासिक वातावरण एवं उपन्यास-शिल्प को नहीं। उनसे इस कृति को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि मनुष्य अपने अतीत की उच्च भूमि पर खड़ा होकर भविष्य के सूर्योदय का दर्शन कर सके। इसके पात्र जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों के प्रतीक हैं, जो ऐतिहासिक वातावरण में सांस लेकर समस्याओं के समाधान की ओर संकेत करते हैं।

पक्षी और आकाश

'पक्षी और आकाश' (१९५८) डॉ० रांगेय राघव का इतिहासाश्रित उपन्यास है। ऐतिहासिक आवरण में निर्मित यह वस्तुतः एक काल्पनिक कथा है। कल्पना-साहित्य में इतिहास को सहायता देती है, किन्तु इस कृति में उसकी सहायता विस्मयकारिणी है। कतिपय ऐतिहासिक पात्रों के स्तम्भ पर इस विशाल काल्पनिक साहित्यिक कृति का प्रासाद निर्मित है, जो दर्शन के रंग से रंगीन और आकर्षक हो गया है। वर्द्धमान-बुद्ध-युग की सामन्तीय व्यवस्था पर आधारित 'पक्षी और आकाश' दूसरा उपन्यास है। प्रथम उपन्यास 'राह न रुकी' के प्रमुख पात्र इतिहास-सम्मत हैं और ऐतिहासिक वातावरण में ही सांस लेते हैं। किन्तु इस उपन्यास का प्रमुख पात्र धनकुमार कल्पित नायक है, जो सम्पूर्ण उपन्यास में जीवन की शाश्वत समस्याओं का दार्शनिक विवेचन करता है ये समस्याएँ मानव की युग-युग की समस्याएँ है, जैसी तब थीं वैसी आज भी हैं और कल भी वैसी ही रहेंगी। लेखक ने वर्द्धमान महावीर, शास्ता, बिंबसार, शतानीक, चण्ड प्रसेनजित, उदयन, वासवदत्ता आदि ऐतिहासिक पात्रों की उपन्यास में गणना की है। उनसे कथावस्तु से विशेष संबंध नहीं है। केवल इन ऐतिहासिक पात्रों के समावेश के कारण ही इस उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

उपन्यास की कथावस्तु नायक की स्मृतियों पर आधारित है। इस उपन्यास मे एक ओर व्यक्ति से सम्बन्धित होते हुए भी उसके युग-जीवन की अभिव्यंजना है तथा दूसरी ओर ऐतिहासिक होते हुए भी युग-युग की समस्याओं का आलोचनात्मक सर्वेक्षण है। जंगल से मुक्त होकर मानव परिवार, समाज, राज्य, देश और विश्व की सीमा में आबद्ध होता गया। किन्तु समवेत भौतिक उपलब्धियों ने मानव के आत्मतोष का गला घोंट दिया। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ पारिवारिक शांति जगमगा उठी। पिता-पुत्र, पति-पत्नी एवं भाई-भाई एक-दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखने लगे। परिवार में भीड़ बढ़ती गयी, किन्तु व्यक्ति अकेला होता गया। उसकी संकुचित एव स्वार्थमयी विचारधारा ने परिवार के सुख को लूट लिया। अतीत काल से लेकर अब तक यह समस्या निरन्तर गतिमान है। गरीब, धनी, निर्बल, बली तथा मूर्ख एवं विद्वान सभी वैमनस्य के चंगुल में जकड़ते जा रहे है। इसी समस्या ने दशरथ-सुत राम को बनवास दिलाया था। उपन्यास का नायक धनकुमार अपने तीनों भाइयों की ईर्ष्या का लक्ष्य बनता है। सत्पथ पर निरन्तर चलता हुआ भी वह अपने भाइयों के हृदय से द्वेष को दूर न कर सका और माता के यह कहने पर कि- 'वे तेरे रक्त के प्यासे हैं। किसी भी दिन छल से तेरी हत्या कर सकते है।'[2] वह घर के वैभव को छोड़कर चला जाता है। भाइयों के विरोध के कारण पड़ोसी आनंदित होते हैं। पुरपइठान

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता-अध्याय ४. श्लोक ८।

२ पक्षी और पृ० ५६।

के निवासियों की मुस्कान को देखकर धनकुमार कहता है-'भाइयों की लड़ाई सदा ही ऐसी आग रही है, जिस पर पड़ोसी हाथ सेंकते रहे है।'[१]

द्वेष का अवसान विनाश में होता है। इस तथ्य से परिचित होने पर भी मानव उससे अलग नहीं हो पाता। यही सबसे बड़ी विडंबना है। धनकुमार का परिवार इसी अग्नि में झुलसता हुआ अनेक यातनाओं को सहता हुआ सदा ले लिए नष्ट हो जाता है। लेखक ने सभ्यता को कष्ट का मूल माना है। उसके अनुसार मनुष्य का जगली जीवन अधिक सुखद था क्योंकि 'तब न द्वेष था, न तब घृणा थी, न तब धन था, नही था कहीं अहंकार। वह युगलिया संस्कृति थी।...... वे भाई-बहिन होते थे। वे ही परस्पर विवाह करते थे। उस समय संसार में शांति थी।..... कृषि आरम्भ हुई ...... यह पृथ्वी पाप का वास बन गयी।... तब लोभ, ईर्ष्या, अत्याचार, अहंकार, झूठ, हत्या और अन्य पापों ने सिर उठाया।'[२] प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने भी जीवन का सबसे बड़ा सुख प्रकृति के साहचर्य में ही माना है। लेखक का आग्रह है कि संसार में स्थायी शांति, तभी स्थापित हो सकती है, जब व्यक्ति भौतिक प्रलोभनों के प्रति उदासीन हो जाय। धनकुमार जैन धर्म को स्वीकारा करता हुआ कहता है-'उतार दो यह वस्त्र। ये लज्जा का कारण भीतर के पापों को छिपाता है। नग्न हो जाओ, तब देखो कि तुम अपने को विकारों की कुरूपता से छिपा सकते हो या नहीं...... नोच दो यह केश, ये तुम्हें सुन्दरता का भ्रम देते है, इन्हें चिकना मत करो, क्योंकि इस देह की आत्मा को इस देह ने पाप में डाला है...... यह आत्मा पहले निर्मल थी, उस सबमें मुक्ति नहीं है, जिसे तुम्हारी वासनाओं ने बनाया है।'[३]

संसार का सबसे बड़ा पाप धन है। धन-वैषम्य ने ही समाज को कई श्रेणियों में विभक्त कर उन्हें युग-युग तक लड़ने का मैदान दे दिया है। धन के समक्ष मनुष्य अपने समस्त सम्बन्ध एवं कर्तव्य को भुला देता है। इसलिए व्यक्ति की आत्मा चीत्कार करती है 'माता बड़ी न भैया, सबसे बड़ी रुपैया।' धन का अस्तित्व इस पृथ्वी पर उसी प्रकार बना रहता है, किन्तु मनुष्य उसकी ज्वाला में 'पांखी' बनकर अपने अस्तित्व को मिटा देता है। 'अमीर और गरीब में एक ही आत्मा है। जब यह आत्मा गरीबी मे, लोभ में पड़ती है तो और भी अधिक कष्ट भोगती है और जब अमीरी में धन का मद इस पर छा जाता है, यह बेईमानी और घमण्ड में डूब जाती है, तब, कर्मफल से यही आगे बढ़कर दासत्व, रोग और दारिद्र्य भोगती है।[४] इसी भौतिक वैभव के कारण ही परिवार, राज्य और देश की शांति खतरे में रहती है। कभी-कभी तो धनलोलुप मनुष्य और देश की शांति खतरे में रहती है। कभी-कभी तो धनलोलुप मनुष्य अपने प्राण की बाजी लगाकर धन को प्राप्त करना चाहता है। निर्जन वन में शव की जांघ में रत्न देखकर धनकुमार कहता है-'शव में से रत्न। ... .. शायद कोई यात्री है, जिसने दूसरों से बचाने के लिए रत्न अपनी जांघ मे सी लिए थे, तभी जब प्राण भय से पानी में कूदा, पीड़ा से तैर नहीं पाया और मर गया और तब रत्नवाला घाव भी मेरी टकराहट से फट गया और निकल आया मेरे सामने उसके जीवन का चिरसंचित कोष।[५]

धन पद का निर्माता है। वही राजा-रंग में भेद रखता है। पद-रक्षा के लिए मनुष्य अपने समस्त सम्बन्धों का बलिदान भी कर देता है। बिंबसार अपने जामाता धनकुमार को ही गुप्तचर बनाकर बलि का बकरा बनाना चाहता था। धनकुमार सोचता है 'पत्नियां क्या करेंगी, जब सुनेंगी कि मैं सब छोड़कर चला गया। सम्राट अपनी पुत्री तक को भी नहीं बताएंगे। ऐसी है बिडंबना राजनीति की......... राजा वही होता है जो अन्यों से अधिक छल जानता है।[६] इस उपन्यास में लेखक की समाजवादी भावना अधिक मुखर है। उसे धन से घृणा नहीं अपितु धन-प्राप्ति के अनैतिक साधनों से घृणा है। परिश्रम के प्रतिफल में मिले धन का वह स्वागत करता है। 'दीन और धनी सुवर्ण को महत्व न दें, मनुष्य को दें तो यह पाप कहां रहे? और धन से भी बड़ा पाप है... ...अधिकार का लोभ... ... ...इस लोभ के कारण मनुष्य अपने आपको खो देता है।[७]

इस उपन्यास में लेखक की नारी के प्रति गहरी सहानुभूति है। नारी की विवशता, उत्पीड़न और उसके

---

१. वही, पृ० ४५।
२. वही, पृ० १०८।
३. वही, पृ० २४०।
४. वही, पृ० १२।
५. पक्षी और आकाश, पृ० ८२।
६. वही, पृ० १५६।
७. वही पृ० २४१।

प्रति हुए अत्याचारों का बड़ा मर्मभेदी चित्र प्रस्तुत किया गया है नारियों में समर्पण की भावना अधिक है, तर्क की भावना कम। सौत की संख्या में वृद्धि के समय उन्हें हर्ष होता है। विषाद की एक भी हल्की रेखा किसी भी नारी-पात्र के चेहरे पर दिखायी नहीं पड़ती है। कभी-कभी तो अस्वाभाविकता-सी आ गयी है और उपन्यास में चर्चित सम्पूर्ण नारी-पात्र एक ही ढांचे में ढले हुए प्रतीत होते हैं। बहु-विवाह के दुष्परिणाम कहीं भी दृष्टिगत नहीं है। धनकुमार आठ नारियों का पति है, तो शालिभद्र बत्तीस, किंतु दोनों के जीवन में नारी सम्बन्धी अशांति नहीं है। इसी प्रकार नारी-प्रेम के विषय में भी लेखक का बड़ा ही स्वस्थ दृष्टिकोण है। उन्हें प्रेम के संयम की दिशा प्रिय है। प्रेम में वासना की लहरें इतनी समाहित हैं कि पाठक झकझोर से अछूता रह जाता है। अनिंद्य सुन्दरियां कुसुमश्री, सोमश्री एवं मंजरी आदि के वैवाहिक वर्णन के समय लेखक इतना सतर्क है कि कहीं भी अश्लीलता नहीं आ पायी है और न पाठक के मन में श्रृंगार रस का उद्दीपन ही हो पाता है। हिन्दी उपन्यास में 'वाणभट्ट की आत्मकथा' को छोड़कर अन्यत्र इतनी सतर्कता दृष्टिगत नहीं होती। हिन्दी उपन्यास में 'वाणभट्ट की आत्मकथा' को छोड़कर अन्यत्र इतनी सतर्कता दृष्टिगत नहीं होती। तत्कालीन समाज में व्याप्त विवाह-प्रथा पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है। अधिकांश कन्याएं पिता के प्रण अथवा उनकी रुचियों की आहुति पर भुन दी जाती थीं, जिसके कारण बहु-विवाह प्रथा को अधिक बल मिला था। किन्तु कहीं-कहीं नारियों की वैवाहिक स्वतंत्रता का भी आभास मिलता है। महाराज शतानीक ने धनकुमार को अपना जामाता तब तक नहीं घोषित किया जब तक कि उसकी पुत्री सौभाग्यमंजरी ने धनकुमार को देखकर स्वीकार नहीं कर लिया। विवाह के पश्चात् नारी का अपना अलग व्यक्तित्व नहीं रह पाता था। धनकुमार के इस कथन पर कि उसकी तीनों पत्नियाँ पिता को अधिक महत्व देती थीं, सौभाग्यमंजरी विह्वल होकर कहती है- 'मगध भूमि प्रारम्भ से ही अनार्य नहीं है। तभी ऐसा हुआ। विवाह के बाद स्त्री का तो सब कुछ पति ही होता है।...... तुम्हारा सुख ही मेरा सुख होगा स्वामी।'[1] लेखक ने वेश्याओं की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। समाज में व्याप्त व्यभिचार को रोकने के लिए उस समय भी वेश्याएं थीं। वेश्या-संबंधी चर्चा के समय धनकुमार भगवान बुद्ध से कहता है-'भन्ते! वेश्याएं परम्परा और जन्म, कर्मफल और वासना के प्राधान्य से वेश्या बनती हैं। ये यदि मुक्त हों, तो अवश्य व्यभिचार बढेगा। शायद ऐसा न भी हो, फिर भी यह श्रेष्ठ ही होगा कि वे मुक्त हों।'[2] इस प्रकार उस समय वेश्याओं की जो समस्याएं थीं, वे आज भी बनी हैं।

इस उपन्यास की अद्‌भुत विशेषता यह है कि सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्ध एक नये परिप्रेक्ष्य में दिखाई पडते हैं, टूटते, बनते, बिगड़ते और फिर बनते। लेखक ने विक्षुब्ध समाज के अनेक स्तर, अनेक मान्यताएं और बहुत से पहलू इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। ढाई हजार वर्ष पूर्व की सामाजिक गतिविधियों को लेखक ने अपनी गहन अनुभूति से इस प्रकार व्यक्त किया है कि उन्हें हम चलचित्र की भाँति देखते हैं और उनमें अपने वर्तमान समाज का भी अपनी भूख को कम महत्व देकर दूसरे की भूख को अधिक महत्व देता रहा। इस महत्व में उसकी सहृदयता के अतिरिक्त सामाजिक मान्यताएं एवं धार्मिक विश्वासों का अधिक योग रहा। पचास वर्षीय कृषक भद्रक पथिक धनकुमार के भोजन की अस्वीकृति पर चीख उठता है- 'मैं जब खाता हूँ, तब साथ कोई हो तो उसे भी खिला लेता हूँ। वह नहीं खाता तो मैं भी नहीं खाता। जानते हो, उससे क्या होता है?.... ग्राम देवता प्रसन्न होता है और खेत में अधिक अन्न उगने लगता है, पहले से बढ़कर।...... खिलाते रहने से धरती अन्न देती है। संचय और संग्रह से धरती अन्न कम उगलती है।'[3] किन्तु ये कृषक जातीय बन्धनों से जकड़ चुके थे। क्षत्रिय और ब्राह्मण अपनी जातीय प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि के लिए 'गण' का ढाल लेकर परस्पर विरोधी बनते जा रहे थे। 'महाराज शतानीक नेइस वर्ण-वैषम्य से क्षुब्ध होकर धनकुमार से कहा- क्षत्रियों ने गण बनाने, ब्राह्मणों का विरोध करने को।......जाति। जाति वर्णानुसार है......जो जहाँ जन्मा है, वह अपने कुल-कर्म को जितना जान सकता है उतना दूसरा जान लेगा।'[4] दासों की स्थिति अति दयनीय थी। वे धनी-प्रभु की सेवा के लिए ही इस धरा पर जी रहे थे। दासी पज्जा अशोक वाटिका में गुप्त धन को देखकर अज्ञात भय से कांप जाती है और सोचती है-पज्जा। तू तो दासी है।.....धनसार पार्श्वनाथ का अनुयायी है, तभी दासों को भरपेट खाना देता है। उसके कारखाने में काम करती श्रेणियां भी धन पाती हैं।'[5] इसी भाव से वह समग्र धन श्रेष्ठि धनसार को अर्पित

---

१ धरती और आकाश, पृ० १७१।

२ वही, पृ० २२३-२४।

३ वही पृ० ६४।

४ वही पृ० १४८। ५ धरती और आकाश पृ० १०।

कर देती है, किन्तु लोगों के अविश्वासी मन को संतुष्ट नहीं कर पाती। पारिवारिक कलह के समय धनचन्द्राधिप अपने पिता श्रेष्ठि धनसार से कहता है-" ......उन्होंने ही अशोकवाटिका में धन गड़वाकर पज्जा दासी के मुख से यह प्रवाद फैलवाया था। अन्यथा ऐसी दासी कौन है जो उस धन को लेकर भाग नहीं जाती[1]?"

'पक्षी और आकाश' में राजनीति समाहित है, जो जीवन की पृष्ठ-भूमि के रूप में व्यक्त है और उससे पात्रों के व्यक्तित्व के उभार में पर्याप्त सहायता मिलती है। लेखक ने राजनीति के उज्जवल पक्ष की अभिव्यक्ति में पर्याप्त आत्मसंयम से काम लिया है। कहीं भी राजनीति के कटघरे में पात्र घिरकर विकलांग अथवा कठपुतली नहीं बन पाये है। 'राह न रूकी' उपन्यास की भांति ही लेखक इस उपन्यास में भी देश की सीमा की सुरक्षा के प्रति अधिक सचेत है। सम्भवतः भारत की सीमा पर हो रहे भीषण उपद्रव एवं भीषण परिणामों से लेखक को प्रेरणा मिली हो। सीमा की असुरक्षा के व्यापक भीषण परिणाम को व्यक्त कर उसने सरकार से सीमा के प्रति सचेत रहने का आग्रह किया है। धनकुमार के पूछने पर सौवीर वणिक कहता है-"यज्ञ ! यज्ञ ही के कारण में बच गया युवक! इस बार जिस पथ से हम आये हैं, उधर दो साथी लुट चुके हैं।... एक राज्य से दूसरे में आते-जाते समय कर लेने को तो ये गणराज्य और एकतंत्रों के राज्य इतने तैयार रहते हैं, किन्तु सीमावर्ती वनों के डाकुओं का कोई प्रबन्ध नहीं करता।[2] सीमावर्ती क्षेत्रों में शान्ति-स्थापना के सुझाव को व्यक्त करता हुआ धनकुमार पुरपइठान के महाराज से कहता है-"महाराज श्रेष्ठि शांति चाहते हैं... ...सीमाभूमि में शांति तभी हो सकती है, जब दो महाराज-परस्पर आक्रमण की सन्धि करके अपनी-अपनी सेना वहाँ नियुक्त करें।[3]" भारत की वर्तमान सुरक्षा के संदर्भ में उपर्युक्त सुझाव भविष्यवाणी के रूप में ही घटित हुए है क्योंकि आज शांति के लिए वहाँ सेनाएं नियुक्त की गई हैं। यदि पहले नियुक्त की गयी होतीं, तो सम्भवतः बहुत बड़ी हानि से हम बच जाते।

लेखक ने प्रायः अपने अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों में गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली को सबल रेखाओं से अंकित किया है और इस प्रणाली के उभय पक्षों पर गम्भीर चिन्तन किया है। 'मुर्दों का टीला', 'अंधेरे के जुगनू' उपन्यास में गणतन्त्रात्मक प्रणाली का ऐतिहासिक विकास दृष्टव्य है, किन्तु इस उपन्यास में उसके व्यावहारिक पक्ष को अधिक बल मिला है। क्षत्रियों ने गणराज्य के माध्यम से अपनी शक्ति को बढ़ाने और ब्राह्मणों की शक्ति को घटाने का प्रयास किया, जिसके कारण जातिवाद को प्रश्रय मिला और प्रत्येक जाति अपने सीमित स्वार्थों में उलझ गयी। गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए बिम्बसार धनकुमार कहता है-'वैश्वय वज्जिय क्षत्रियों से संतुष्ट नहीं है, क्योंकि गणराज्य में वैश्यों को क्षत्रियों के बराबर अधिकार नहीं है, क्योंकि शासन में वैश्यों का कोई हाथ नहीं।'[4] धनकुमार की पत्नी होने के पश्चात् सौभाग्यमंजरी अपने पिता से प्राप्त राज्य में गणतन्त्र के वास्तविक रूप को यथार्थ करना चाहती है, और धनकुमार से कहती है-"राजा धनकुमार खो देंगे तो किसान लगेंगे अपने-आप। तब अपने-आप श्रेष्ठि धन देंगे। भोजन मात्र बदलने में मिलेगा। नहर खुद जाने पर नाम-मात्र का कर लगेगा, उतना कि नहर की व्यवस्था ठीक बनी रहे। अन्न उपजेगा तो प्रजा धन देगी।.........प्राचीन परम्परा के अनुसार सरपंच नियत हों और वे श्रेणियाँ अपना निर्णय स्वयं अपनी सभा(पंचायतों) में करें। राजा केवल सबका नियोजन करे और शत्रु से रक्षा।"[5]

इस कृति में डॉ० रांगेय राघव का भाग्यवादी दृष्टिकोण अधिक मुखर है। लेखक ने भाग्यवाद को इतना अधिक महत्व दे दिया है कि जीवन-रथ का कर्मवादी पहिया कमजोर पड़ गया है। धनकुमार की सारी सफलता प्रायः भाग्य और तीक्ष्ण बुद्धि पर आधारित हैं। उसके जन्म के दिन धन-राशि का मिलना, हल को छूते ही स्वर्ण-राशि का चमकना आदि घटनाएँ भाग्यवाद का ही पोषण करती हैं। अन्त में भाग्यवाद का वह कठपुतला संसार की घुटन से ऊबकर महावीर की शरण में जाता हुआ कहता है-"माताओं प्रणाम! नागरिकों, दासों, सेवकों, सैनिकों, दासियों, सम्राट और श्रेष्ठियों.....भाइयों बहनो......प्रणाम।.......सब एक जाल है।"[6]

आत्मकथात्मक उपन्यास होने के कारण पात्र अधिक नहीं हैं। धनकुमार के साथ लेखक की एकाकारिता

---

१. वही, पृ० १७।
२. वही, पृ० १७।
३. वही, पृ० ४८।
४. पक्षी और आकाश, पृ० १५३।
५. वही, पृ० १७३।
६ वही पृ० २११।

इतनी अधिक हो गयी है कि अन्य पात्रों का स्वाभाविक विकास रुक-सा गया है। इस कृति का मुख्य पात्र धनकुमार है। जीवन की समस्त घटनाएँ उसी के चारों ओर घूमती हैं। जन्म से लेकर जैनी होने तक का विवरण ही इस उपन्यास का विषय है। पुरपइठान के श्रेष्ठि धनसार का सबसे छोटा पुत्र धनकुमार जन्म से अत्यंत भाग्यशाली है। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत उसके जीवन के प्रारंभिक दिनों में ही चरितार्थ होने लगी धनकुमार के प्रति पिता का अतिरिक्त स्नेह ही धनदत्त, धनदेव और चन्द्राधिप के हृदय में ईर्ष्या की चिनगारी उत्पन्न करता है। माँ के स्नेह से वंचित होने पर भी धनकुमार के मस्तिष्क में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती है। दासी पज्जा उसकी माँ बन जाती है, जो उसके कोमल मस्तिष्क को स्वस्थ्य सिद्धान्तों से परिचित कराती है। व्यापार की परीक्षा में धनकुमार को अप्रत्याशित सफलता मिलती है। जबकि अन्य तीनों भाइयों को घर से भी देना पड़ता है। इस सफलता से तीनों भाई कुंठित हो जाते हैं और धनकुमार की जीवन-लीला समाप्त करने का जघन्य प्रयास करते है। किन्तु सुभामा, सुमुखी और अलका अपने पति की गुप्त मंत्रणाओं को धनकुमार से व्यक्त कर देती है। पज्जा के मानसिक दुःख को दूर करते हुए धनकुमार कहता है-"वे मेरी प्रशंसा करती थीं सो मैंने उन्हें समझाकर रोक दिया है। उनके मुख से मेरी प्रशंसा आग बुझाती नहीं, भड़काती हैं। अतः बुराई करें तो भाई उनसे अपनी गुप्त योजनाएँ छिपाएँगे नहीं। वह मेरे लिए अच्छा होगा न अम्मा। भाभियाँ मेरी बुराई करें तो बुरा न मानना तुम। वे सब मेरी ओर हैं। परन्तु कुछ भी हो, स्त्री का अन्त पति में है। अम्माँ! वे इसमें अधिक कुछ कर भी नहीं सकती।"[1] किन्तु भाइयों की ईर्ष्याग्नि की भभक इतनी तेज हो जाती है कि उसे छोड़ना पडता है। भाग्यशाली धनकुमार पथ के अवरोधों पर विजय प्राप्त करता जाता है। इसका श्रेय वह भाग्य को ही देता है।" मैं इसे भाग्य ही कहूँगा क्योंकि पुरुषार्थ तो मैं बहुतों को करते देखता हूँ, जिन्हें कुछ भी नहीं मिलता। अगर मैं यह कहूँ कि मैं ईमानदार हूँ या मेरे पुरुषार्थ में औरों के पुरुषार्थ की तुलना में अधिक विवेक है, तो इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी।"[2] किन्तु धनकुमार केवल 'दैव-दैव आलसी पुकारा' का समर्थक नहीं है, अपितु कर्तव्य में जीता है। उसके जीवन में भाग्य ने अनेक करवटें लीं और प्रत्येक करवट में जीवनका नया आकर्षक रूप सामने आया। तालाब में वृक्ष के बाँधने के बाद वह चण्डप्रद्योत का प्रधान अमात्य बन जाता है और यहीं उसका पीड़ित परिवार भी मिलता है। पुनः परिवार की ईर्ष्या के कारण वह भाग जाता है। उसके जीवन में एक नया मोड़ तब आता है, जब वह अपनी प्रतिभा के कारण सम्राट बिंबसार का जामाता बन जाता है। 'जब ईश्वर देता है, छप्पर फाड़ कर देता है' वाली कहावत उसके जीवन में पूर्ण चरितार्थ होती है। शतानीक के पास से लौटने के पश्चात् उसके प्रासाद में सुन्दरियों का एक अच्छा-सा मेला लग जाता है, किन्तु वह आकस्मिक विपत्तियों के कारण समस्त वैभव को ठुकराकर वर्द्धमान महावीर का अनुयायी बन जाता है।

उपन्यास में वर्णित धनकुमार के भाव, विचार और कर्म का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें युग-युग खिंच आये हैं। वह इस कथा में अत्यंत संयत, संतुलित, उदार, सहृदय, प्रेमी, बहादुर एवं दार्शनिक आदि एक ही साथ बना रहता है। उसके चरित्र में कहीं भी कोई धब्बा नहीं लक्षित हो पाता है और न उसके प्रेमाचार में कहीं भी दुर्गन्ध आ पाती है। किन्तु लेखक ने उसके जीवन में भाग्य को इतना प्रधान बना दिया है कि उसका पुरुषार्थ दब-सा जाता है। वास्तव में उसका चरित्र लेखक के अपने मन में चाहे जितना प्रखर और तेजोमय हो, किन्तु उपन्यास में वह भाग्य का टट्टू ही बनकर आता है, जिसे आज का व्यक्ति महत्व देने को तैयार नहीं है।

उपन्यास में धनकुमार के अतिरिक्त अन्य पात्र निरर्थक-से हैं। इस उपन्यास में लेखक की सहानुभूति शतानीक के साथ भी है। 'राह न रुकी' उपन्यास का खलनायक शतानीक इस उपन्यास में अपने समस्त अवगुणों को त्यागकर ही प्रवेश करता है। उसके जीवन-दर्शन का परिचय धनकुमार के वार्तालाप से मिलता है। वह धनकुमार से कहता है, "यह वर्ण-जाति वास्तव में कुछ नहीं, लोक-धर्म के नियम हैं। अन्यथा सब उलट जाएगा। तो वही करना है, जो महापुरुषों ने किया है।"[3] बिंबसार के साथ लेखक की वही धारणा है जो 'राह न रुकी' में थी। वह राज्य-विस्तार के लिए नैतिक-अनैतिक बन्धन स्वीकार नहीं करता। अन्य पुरुष-पात्र श्रेष्ठि धनसार, धनदत्त, धनदेव, चन्द्राधिप, उदयन, चण्ड प्रद्योत, प्रसेनजित्, माणवक, ईश्वरदत्त, श्रेष्ठि कुसुमपाल, शालिभद्र आदि गणना के पात्र हैं। नारी-पात्रों में लेखक की सहानुभूति दासी पज्जा और सुभद्रा के साथ अधिक है। धनकुमार पज्जा का बहुत ऋणी है क्योंकि माँ का स्नेह उसी से मिला है। सुभद्रा नायक की तीसरी पत्नी है, जो अपने

---

१ [illegible] पृ० ४१।

२ वही पृ० ७।

३ वही पृ० १६१।

रूप और गुण में सबसे बढ़कर है। धनकुमार के गृह-त्याग के समय भी वह उसी-के साथ जैन धर्म स्वीकार कर लेती है। अन्य नारी पात्र सुभामा, सुमुखी, अलका, कुसुमश्री, सोमश्री, सौभाग्यमंजरी, गीतकला, सरस्वती, गुणवंती, लक्ष्मी आदि भर्ती के पात्र हैं। उनका व्यक्तित्व उपन्यास में उभर नहीं पाया है।

'आत्मकथा' में कथोपकथनों की मात्रा कम है। इनका उपयोग कथानक को गति देने, देश-काल और परिस्थिति का चित्रण करने, प्रासंगिक वृत्तों की जानकारी कराने, चरित्रोद्‌घाटन आदि में हुआ है। लेखक ने तत्कालीन वातावरण के उपयुक्त संस्कृत-बहुल भाषा का अवलंबन लिया है। इसके अतिरिक्त प्राचीनता का सहज आभास देनेवाली अप्रचलित शब्दावली का भी प्रचुर प्रयोग किया है, यथा-आराम(बाग), जरठ(वृद्ध), ग्रामणी(सरपच), आदि। 'प्रकृति-चित्रण' के समय लेखक संस्कृत के कवियों की परिपाटी अपनाता है। इसमें काव्यात्मकता अधिक उभर आयी है। भाषा का प्रवाह, शब्दों का चयन, अलंकारों का प्रयोग, व्यंग्यों की छटा, हास्य का पुट-सभी में राजधानी का शैलीकार बोल रहा है।

निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि 'पक्षी और आकाश' आत्मकथात्मक उपन्यासों में एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह शुद्ध ऐतिहासिक रचना नहीं हो पायी है, क्योंकि उपन्यास का कथानक लेखक के दार्शनिक विचारों से बोझिल हो उठा है। आत्मकथात्मक होने के कारण वणर्न-कोश-सा हो गया है, जिसमें धर्म, संस्कृति, नीति और भाग्यवादी विचाधाराओं को बृहद स्थान मिला है। यह अपने आप में एक महान् कृति है, जो युग की निधि नहीं, युग-युगान्तरों की निधि है। इन्हीं विशेषताओं के कारण उत्तर प्रदेश सरकार ने इस रचना को पुरस्कृत किया है।

जब आवेगी काल घटा

'जब आवेगी काल घटा' (१९५८) डॉ० रांगेय राघव का एक सामान्य ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमे लेखक ने आधुनिक स्थितियों की चेतना के साथ तेरहवीं-चौदहवीं शती के आन्तरिक कलह से जर्जर और तान्त्रिक साधना के मोह में पथभ्रष्ट भारतीय जीवन में व्याप्त उस युग की अराजकता, विशृंखलता, नैतिक हीनता और मूढ़ता के सूत्र और उनकी परिणति को खोजने का प्रयास किया है। लेखक ने इस उपन्यास-संबंधी अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोणों को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "प्रस्तुत उपन्यास लिखते समय मेरे सामने तीन दृष्टिकोण थे। एक-मुझे नाथसंप्रदाय का वह रूप दिखाना जो गोरखनाथ और कबीर के बीच में था। इसमें गोरखनाथी संप्रदाय का विस्तृत रूप और साधनाएँ आयीं। दो-तत्कालीन युग का चित्रण करके योगियों की परिस्थिति दिखानी थी। इसमें विदेशियों की वास्तविकता और इस्लाम को प्रगट करना पड़ा। तीनसिद्धियों योगियों का जनता में प्रभाव, उससे सम्बन्ध, जीवित रहने का कारण, रूप बदलने का कारण तथा सांस्कृतिक परंपरा के निर्वाह करने का कारण दिखाना था। इसमें हिन्दी साहित्य को नाथसंप्रदाय की देन दिखानी पड़ी।"[1] इस उपन्यास का कथानक पाँच भागों में विभाजित है, जिनमें प्रामाणिक साक्ष्यों का सहारा लेकर लेखक ने नाथपंथियों एवं खिलजी वंश के शासकों की गतिविधियों का सम्यक् विवेचन किया है। उपन्यास के प्रथम भाग में 'चर्पटनाथ की खोज': विद्रोह का प्रारम्भ' द्वितीय भाग में चर्पटनाथ के सिद्धि-काल की प्रारंभिक परिस्थियाँ, तृतीय भाग में चर्पटनाथ के क्रोध एवं उनके स्वभाव में परिवर्तन, चतुर्थ भाग में चर्पटनाथ की सिद्धि का दूसरा चरण और तत्कालीन परिस्थितियाँ तथा पंचम भाग में चर्पटनाथ की सिद्धि एव उनके द्वारा प्रचारित नये पथ का वर्णन किया गया है। भाग दो और चार में खिलजी वश के शासकों की गतिविधियों का बृहद् वर्णन किया गया है। जिन भागों में लेखक ने योगियों के कार्यों का वर्णन किया है, वे भाग अधिक सशक्त एवं आकर्षक बन पाये हैं, किन्तु जिन भागों में खिलजी वंश के शासकों का वर्णन है, उसमें लेखक ने यथार्थ के वर्णन को इतना अधिक महत्व दे दिया है कि उनमें नीरसता आने लगी है। 'इसमें ऐतिहासिक तथ्यों को समाविष्ट करने का अधिक प्रयत्न किया गया है जिससे उपन्यास-कला क्षीण पड़ गयी है।'[2] इस उपन्यास के कथा-सूत्र में इतना बिखराव आ गया है कि मुख्य कथा गौण हो गयी है और प्रासंगिक कथाएँ उपन्यास पर छा गयी हैं। कतिपय विद्वानों ने इस उपन्यास को जीवनचरितात्मक उपन्यासों की पंक्ति में रखने का प्रयास किया है। 'देवकी का बेटा' से लेकर 'भारती का सपूत' तक नौ उपन्यास विभिन्न युगों के युग-प्रवर्तक साधकों को लेकर उपस्थित होते हैं। कृष्ण, यशोधरा, गोरखनाथ, चर्पटनाथ, विद्यापति, कबीर, तुलसी, बिहारी और भारतेन्दु अपने तेजस्वी व्यक्तित्व से हमें चमत्कृत कर देते हैं।[3] किन्तु इस उपन्यास में

---

१. जब आवेगी काल घटा, भूमिका।

२. डॉ० सुरेश सिनहा: हिन्दी उपन्यास, उद्‌भव और विकास, पृ० ४९३।

३ साहित्य-संदेश जनवरी फरवरी १९६३ रांगेय राघव स्मृति अंक पृ० २८८।

...... उपन्यासों के सभी तत्व नहीं पाये जाते। उपन्यास में नायक की अपेक्षा खिलजी-वंश के शासकों की गतिविधियों का अधिक वर्णन किया गया है। चर्पटनाथ का परिचय भूमिका और परिशिष्ट में ही अधिक हो पाया है। उपन्यास में लेखक ने अधिक स्थान नहीं दिया है। 'हमने उन्हीं को कथानायक बनाया है।'[१] इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि लेखक ने अपने अन्य जीवनचरितात्मक उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास को भी चर्पटनाथ के जीवन पर आधारित करने का प्रयास किया है, किन्तु इसमें उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल पायी है। इसलिए यह जीवनचरितात्मक उपन्यास न होकर ऐतिहासिक उपन्यास है।

उपन्यास में वर्णित युग भारतीय इतिहास का अत्यन्त विचित्रताओं, परस्पर-विरोधी मान्यताओं से भरा युग था। मध्यकालीन भारतीय समाज का प्रामाणिक आलेख इस उपन्यास में किया गया है, क्योंकि यहाँ कि इतिहास में खिलजी-वंश के शासकों की गतिविधियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। राजनीतिक विश्रृंखलताओं के कारण समाज का ढाँचा जर्जर हो रहा था, उसे अधिक कमजोर बना देने में वर्ण-व्यवस्था का विशेष योग था चर्पटनाथ ने भी प्रकारांतर से वर्ण-व्यवस्था की स्वीकृति दी, यद्यपि वे जाति-प्रथा को नहीं मानते थे। योगियों ने वर्ण-व्यवस्था में व्याप्त कटुता को दूर करने के लिए प्रशंसनीय प्रयास किया और समाज के मनोबल को ऊँचा रखा। 'चर्पट ने··· ··शासकवर्ग से टक्कर लेकर जनबल की हिम्मत बढ़ायी। गैनीनाथ ने निम्न जातियों को इकट्ठा किया, नामदेव ने प्रजा की निराशा से टक्कर ली।'[२] 'समाज की भीतरी बुराइयों के प्रश्न पर वे वर्णधर्म के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने जातियों के अलग धर्म कर्मानुसार माने थे, जन्मानुसार नहीं।'[३] मुसलमानों की बर्बरता के कारण समाज की आर्थिक स्थिति भी अत्यन्त दयनीय थी। अलाउद्दीन ने अलप खाँ से कहा-'सुन तो यह भी चुका हूँ कि बहुत-से हिंदू शिवालिक से दिल्ली आकर जमुना में डूब कर मर गये क्योंकि वे भूखों मर रहे थे।'[४]

इस युग में नारियों की सामाजिक स्थिति अपेक्षाकृत अधिक संतोषप्रद थी।' 'जिस मातृत्व को गोरख ने सम्मान दिया था, वह अब समाज में काफी मान्य था। अर्थात् स्त्री विषयभोग मात्र की वस्तु न समझी जाये। संतान के लिए संभोग हो, इसलिए नहीं कि नारी भोग की वस्तु है। परन्तु योगी के लिए स्त्री का स्थान अब भी वर्णित था।'[५] नारियों में पातिव्रत की भावना कूट-कूटकर भरी थी। नारी-जीवन में पति के आगमन के साथ ही उसके सामाजिक बन्धन ढीले पड़ जाते थे। इसलिए राणा हम्मीर की पत्नी ने कहा-'मेरे पिता तो वहीं तक थे जब तक तुम न थे। पति ही स्त्री का सर्वस्व होता है। फिर मेरा पति भगवान् है। वह दीनों-दरिद्रों का नारायण है।'[६] पति-मर्यादा की रक्षा के लिए ही अनेक राजपूत-नारियों ने जौहर व्रत लिया था। तुर्कों की संस्कृति में पर्याप्त अन्तर था। अलाउद्दीन की पत्नी सदैव अपने पति के रहस्यों का उद्घाटन अपनी माता से करती रही, जिसके कारण अलाउद्दीन को पारिवारिक सुख न मिल सका। समाज में वेश्या-प्रथा प्रचलित थी। बहु-विवाह का भी प्रचलन था।

राजनीतिक अशांति एवं सामाजिक विघटन के कारण भारतीय संस्कृति खतरे में थी। तुर्कों की नृशंसता के कारण हिन्दू एवं हिन्दूधर्म की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लग रहा था। 'काजी ने सुल्तान अलाउद्दीन से कहा 'अगर कर इकट्ठा करनेवाला मुहस्सिल हिन्दू के मुँह में थूकना चाहे तो उसे बिना किसी हिचकिचाहट के अपना मुँह खोल देना चाहिए।······अल्लाह ने स्वयं हिन्दुओं के पूर्ण पतन की आज्ञा दी है, क्योंकि यह हिन्दू ही पैगम्बर के सबसे बड़े दुश्मन हैं। पैगम्बर ने कहा है कि या तो वे इस्लाम को स्वीकार कर लें या वे फिर मारे जायें या गुलाम बनाकर रखे जायें और उनकी जायदाद को राज छीन ले।'[७] भारतीय संस्कृति को आमूल नष्ट करने के उद्देश्य से ही तुर्क धार्मिक स्थानों को नष्ट कर धार्मिक पुस्तकों को जला रहे थे। गाँव के एक पण्डित ने चर्पटनाथ से कहा- 'हनुमान का मंदिर था, उसे नष्ट कर गये। पन्द्रह स्त्रियाँ छीन ले गये। बलपूर्वक आठ आदमियों को मांस खिलाया और जैन मंदिर की सब पुस्तकें जला डालीं।'[८] तुर्क अनेक प्रलोभन देकर निम्न जातियों को

---

१ जब आवेगी काल घटा, भूमिका।

२ जब आवेगी काल-घटा, पृ० २१७।

३ वही, पृ० २१८।

४ वही, पृ० ३७।

५ वही, पृ० २१८।

६ वही, पृ० ११८।

७ वही पृ० ११

८ जब आवेगी काल-घटा पृ० ११२।

मुसलमान बना रहे थे। इसलिए वृद्ध राजपूत ने भारतीयों की धार्मिक कायरता से क्षुब्ध होकर कहा-'यदि यह नीच जातियों और शक्ति तथा बौद्ध मुसलमान न होते तो इस देश में यह विदेशी थे ही कितने?'[१] ऐसी विकट परिस्थिति में भी नागपंथी योगियों ने भारतीय संस्कृति की प्रशंसनीय रक्षा की। योगी गैगीनाथ ने भारतवर्ष में प्रचलित धर्मों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने के उद्देश्य से कहा-'गोरखनाथ के योग-मार्ग में शिव और कृष्ण एक ही हैं। उनके सामने सब बराबर हैं। कोई जाति नहीं, सब कुछ वही है, एकमात्र। हिन्दू हो या मुसलमान ।'[२] नाथ-पंथी की दार्शनिकता सैद्धान्तिक रूप से शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता की दृष्टि से हठयोग से सम्बन्ध रखती है। नाथपंथ के विशिष्ट योगी चर्पटनाथ योगियों के वाह्याडम्बर का विरोध कर गोरखनाथ के पवित्र सिद्धांतों का प्रचार कर रहे थे। इस अभियान में उन्हें गुरू का भी विरोध करना पड़ा और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए अनेक व्यवधानों का सामना करना पड़ा। उनकी वीरता से प्रभावित होकर ही एक वृद्ध चिल्ला उठा-'योगी! योगिराज कृष्ण ने असुरों को मारा था। गुरु गोरखनाथ की सेना भी विधर्मियों का विध्वंस करेगी।'[३]

योगियों के साहसिक कार्यों को व्यक्त करने के लिए लेखक ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को अधिक सबल रेखाओं में अंकित किया है। इस अंकन में 'मैने समन्वय के नाम पर विदेशी साम्राज्यवादी शोषक को किसी प्रकार भी बदल कर नहीं रखा। इस्लाम के क्रोड़ में जो तीन वर्ग थे उन्हें मैने उपन्यास में स्पष्ट कर दिया है, १. शासक वर्ग, २. मुल्लावर्ग-पुरोहित वर्ग तथा ३. जनता'[४] प्राय. हिन्दू-मुस्लिम एकता को ध्यान में रखकर ही अधिकांश विद्वानों ने साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिससे यथार्थ का दम टूटने लगता है। डॉ० रांगेय राघव ने अपने अधिकांश ऐतिहासिक एवं जीवनचरितात्मक उपन्यासों में विदेशियों के भीषण एव बर्बर आक्रमण का यथावत् वर्णन करने का प्रयास किया है। नाथपंथीय इतिहास का चर्पटनाथकालीन युग राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विश्रृंखलता, गृह-कलह और पराजय का युग था। एक ओर तो इस युग का क्षितिज विदेशी आक्रमणों के भयावह मेघों से आच्छादित रहा, दूसरी ओर भारतीय शासकों की पारस्परिक भीतरी कलह घुन के समान इसे खोखला करती रही। तुर्कों के बर्बर कार्यों का वर्णन करते हुए झंगरनाथ ने कहा-'वे योगियों को भी काटते हैं, हिन्दुओं को भी ... वे हमारे मंदिरों और ग्रंथो को भी नष्ट करते हैं।'[५] अलाउद्दीन की भेलसा-विजय के पश्चात् वहाँ की अनिंद्य सुन्दरी कन्याएं पकड़ लायी गयीं थीं। बाहर सैनिक अनेक स्त्रियों के साथ नगर में बलात्कार करते घूमते थे। आग लगायी जा रही थी। अलाउद्दीन उन सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों को बलपूर्वक अपने आनद का साधन बना रहा था।'[६] अलाउद्दीन की दक्षिण विजय को भी मूलभूत कारण वहाँ के शासकों का पारस्परिक विरोध ही था।' रणथंभौर के शासक हम्मीर ने सुल्तान के सेनापतियों को बुरी तरह परास्त कर दिया था, किन्तु रतिपाल के विश्वासघात ने रणथंभौर की स्वतन्त्रता का गला घोंट दिया। प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने मलिक काफूर से कहा-'तुमने इन काफिरों की रामायण नहीं सुनी। उसमें भी एक घर का भेदी विभीषण है।... इन विश्वासघातियों से मन में नफरत करो क्योंकि यह काफिरों से भी गये बीते हैं।'[७] योगी चर्पटनाथ के नेतृत्व में योगीदल साम्राज्यवाद की नृशंसता का सामना कर रहा था किन्तु अल्पशक्ति होने के कारण पूर्ण सफलता न मिल पायी।

चरित्र

'जब आवेगी काल-घटा' चरित्र-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है। पुरुष-पात्रों में चर्पटनाथ, नामदेव, ज्ञानेश्वर, गैगीनाथ, झंगरनाथ, हम्मीर, अलाउद्दीन, अलप खाँ, काजी आदि प्रमुख हैं और नागनाथ, सोपानदेव, गोरा कुम्हार, त्रोटकनाथ, गोरा, बादल, राणा रतनसी भोजदेव, रतिपाल, रामचन्द्र, रामकरन, शंकर देव, उलूगू खाँ, जफर

---

१ वही, पृ० १०१।

२. वही, पृ० १३।

और भी देखिये, '...गोरखनाथ की हठयोग-साधना ईश्वरवाद की लेकरच ली थी, अत: उसमें मुसलमानो के लिए भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में आगे रखा जा सकता है...। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० १५।

३. जब आवेगी काल-घटा, पृ० १०१।

४ वही, भूमिका।

५ जब आवेगी काल घटा, पृ० १४।

६ वही पृ० ११।

७ वही पृ० १०१

खाँ, मीर मुहम्मद शाह, जलालुद्दीन, खिज्र खाँ, काफूर आदि भर्ती के पात्र हैं। इस उपन्यास में नारी-पात्रों को कम स्थान मिला है। मुक्ताबाई मलिक जहान, चम्पा, हीरा दे, पद्मिनी, राधा, देवल देवी आदि निरर्थक पात्र के रूप में चित्रित हैं। लेखक की थोड़ी सहानुभूति मलिक जहाज के साथ हो पायी है।

इस उपन्यास की सबसे महत्वपूर्ण सृष्टि चर्पटनाथ का अद्भुत व्यक्तित्व है। 'चर्पटनाथ को रज्जबदास ने चारिणी के गर्भ से उत्पन्न माना है। डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि चर्पटनाथ का नाम चंबा रियासत की राज-वंशावली में आता है। वोगेल और ओमेन के अनुसार चंबा के राजप्रासाद के सामने जो मंदिर है उनमें चर्पटनाथ का भी मंदिर है। डॉ० बड़थ्वाल मानते है कि राजा साहिल्लदेव सचमुच चर्पट का शिष्य था। उधर तिब्बती परंपरा में वे मनिपा के गुरु थे।'[१] उपन्यास में चर्पटनाथ का आगमन एक अधेड़ व्यक्ति के रूप में हुआ है। 'सिर के बाल लम्बे हैं, परन्तु जटा नहीं है। रंग है गेहुँआ, कंधे हैं मजबूत और चौड़े। मुख पर न दाढ़ी है, न मूँछें, फिर भी लम्बी नाक के कारण वह पुरुष ही लगता है और लम्बी मगर पतली आँखें चौड़े माथे के नीचे चमकती हुई लगती हैं।'[२] गोरखनाथ की परंपरा में पलनेवाले और उसी पंथ के पथिक चर्पटनाथ अपने पथ के आडम्बर तथा अनाचार को देख क्षुब्ध हो उठे। पंथ की पवित्रता के लिए उन्होंने अनेक बाममार्गी साधुओं एवं मंदिर के महंतों का विरोध किया। अपने प्रिय शिष्य झगरनाथ की विह्वलता देखकर चर्पटनाथ ने कहा- 'तुम चिंता न करो। चर्पट किसी से नहीं डरता। गुरु गोरक्ष का शिष्य है वह! और किसी का उसे भय नहीं।' चर्पटनाथ के साहसिक कार्य को देखकर झंगरनाथ कह उठा- 'चर्पटनाथ! तुम सचमुच गुरु होने के योग्य हो। तुम्हें पथ से कौन निकाल सकता है। चलो। आदिनाथ के मार्ग को फिर से शुद्धि की आवश्यकता है। उसके लिए जीवन की बलि देनी होगी।[३] अपने यहाँ से बहिष्कृत और विदेशी शासक से प्रताड़ित चर्पट ने अपने ओजस्वी व्यक्तित्व से नाथपंथ को शुद्ध सात्विक बनाने का प्रयत्न किया और योगी दल के साथ तुर्कों का सामना किया। त्रिवेणी के संगम पर चर्पटनाथ ने तुर्कों को पराजित कर दिया किन्तु अनेक योगी मारे गये।' त्रिवेणी में तीसरी अदृश्य सरस्वती की धार बहकर मिलती है ·····गंगा के श्वेत और यमुना के नीले जल में जाकर मिलता है लाल-लाल रंग-लोहू का रंग······।'[४] इसी प्रकार गोरखनाथ के मंदिर की रक्षा करते समय भी चर्पटनाथ ने भीषण आघात सहन किया, किन्तु उनका व्यक्तित्व टूटा नहीं। वे आजीवन योगियों के बाह्याडम्बरों का विरोध करते रहे[५] और इसी विरोध में अपने जीवन का बलिदान भी कर दिया।

उपन्यास का दूसरा प्रमुख पात्र अलाउद्दीन साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का प्रतीक है। अपने चाचा एवं श्वसुर जलालुद्दीन की छल से हत्या कर वह दिल्ली का सुल्तान बन गया। कतिपय राज्यों की विजय के पश्चात् ही उसका अहम् बोल उठा- 'अगर मैं चाहूँ तो क्या मै एक नया मजहब नहीं चला सकता, मेरी और मेरे दोस्तों की तलवारें सारे इन्सानों को उसी मजहब को मानने पर मजबूर कर देंगी। उस मजहब की वजह से मेरा और मेरे दोस्तों का नाम भी पैगम्बर मुहम्मद की ही तरह ताकयामत याद किया जायगा।·· ··मेरी इच्छा यह है कि दिल्ली में अपना एक प्रतिनिधि छोड़कर मैं सिकंदर ही तरह निकल जाऊँ और सारी दुनिया को जीत लूँ।'[६] किन्तु काजी की मन्त्रणा से अपने विचारों को बदलकर वह साम्राज्यवाद के विस्तार में लग गया। अलाउद्दीन के अन्तिम दिन अत्यन्त दुःखद थे और वह विद्रोह के बीच ही अधिक साँस ले सका।

शिल्प की दृष्टि से इस उपन्यास में नवीनता भी है और प्रौढ़ता भी। योगियों और तुर्कों की शब्दावली के भिन्न प्रयोग से लेखक ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। चतुर्थ भाग की कथा को चारणमुख से कहलाकर लेखक ने उपन्यास को आकर्षक बनाने का सफल प्रयोग किया है। योगियों के अनेक पदों का भाव लिखकर उसने पाठकों के कार्य को सरल कर दिया है।

इस उपन्यास में लेखक ने ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की है। अधिकांश पात्र इतिहाससम्मत है और वे इतिहास की यथार्थ-घटनाओं की सीमा में ही साँस लेते हैं।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि 'जब आवेगी काल घटा' लेखक का एक सामान्य शुद्ध ऐतिहासिक

---

१ वही, पृ ७ भूमिका।
२ वही, पृ० १।
३ जब आवेगी काल घटा पृ० १६।
४. वही, पृ० २६।
५ वही पृ० १२१।
६ वही पृ० १०।

उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के दायित्व का उन्होंने निर्वाह किया है और इतिहास के शुष्क ढाँचे पर साकार सौन्दर्य निर्मित किया है।

महायात्रा : अँधेरा रास्ता

सन् १९४२ में राहुल सांकृत्यायन ने 'वोल्गा से गंगा' नामक ग्रंथ मानव के विकास को चित्रित करने के उद्देश्य से लिखा। इसमें राहुल ने ६००० ई० पू० से १९४२ ई० तक मानव-समाज की सर्वांगीण प्रगति का इतिहास अनेक गाथाओं में आबद्ध किया है। 'वोल्गा से गंगा' की प्रेरणा के फलस्वरूप डॉ० रांगेय राघव ने भी मानव की विकास-यात्रा को 'महायात्रा:अँधेरा रास्ता' और 'महायात्रा : रैन और चंदा' में अंकित किया है। किन्तु इन्होंने मानवीय विकास-यात्रा को भारतीय परिवेश में अंकित किया है। लेखक ने दोनों 'महायात्राओं' में प्रागैतिहासिक काल से लेकर १२०० ई० तक की मनुष्य की विकास-गाथा को आकलित किया है।

'महायात्रा : अँधेरा रास्ता' में लेखक ने प्रागैतिहासिक काल से लेकर १५०० ई० पू० तक की गाथा अंकित की है। लेखक ने इस महायात्रा को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग आदि से इन्द्र तक अर्थात् ५००० ई० पू० तक, दूसरा भाग इन्द्र से मान्धाता तक अर्थात् ५००० ई० पू० से ३५०० ई० पू० तक और तीसरा भाग मान्धाता से जनमेजय तक अर्थात् ३५०० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक की प्रगति का परिचय देता है। प्रथम भाग में तीन गाथाएँ, द्वितीय तथा तृतीय भाग में क्रमशः चार और तीन गाथाएँ हैं। इतिहास को आकर्षक बनाने के लिए सम्पूर्ण विकास-क्रम को गाथाओं का रूप दिया गया है, इसलिए यह ग्रन्थ इतिहास न रहकर कथा-साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। लेखक ने गाथाओं से पूर्व बृहद् भूमिका और अन्त में परिशिष्ट दिया है, जिससे कथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। इस महायात्रा का प्रमुख उद्देश्य इतिहास को भ्रमों और त्रुटिपूर्ण मान्यताओं तथा निर्णयों से मुक्त करना है। इसलिए लेखक ने ठोस प्रामाणिक आधारों पर अन्य विद्वानों के द्वारा स्थापित धारणाओं का साहसपूर्ण खण्डन किया है अथवा असहमति व्यक्त की है। 'इड़ा' के संदर्भ में लेखक कहता है-'इड़ा के विषय में प्रसाद ने केवल यह दिखाया है कि मनु ने इड़ा पर अधिकार करने की चेष्टा की, जिससे देवता क्रुद्ध हुए। वह पुत्री थी, अतः प्रसाद ने उसे बचाया है। ऐतिहासिक रूप से अधूरी बात है।……शतपथ ब्राह्मण में जहाँ मनु मत्स्य प्रलय कथा है, वहाँ यह भी है कि यज्ञ करने से मनु को एक स्त्री यज्ञ से प्राप्त हुई, यह मनु की पुत्री इड़ा थी। मनु ने इसी पुत्री के गर्भ से प्रजा की सृष्टि की।'[1]

आदिकाल में समाज का कोई रूप न था। मनुष्य पशुओं की भाँति रहता था। खेती का ज्ञान न होने के कारण शिकार से पेट भरता था। वह नंगा ही भ्रमण किया करता था, किन्तु कुछ समय के पश्चात् पत्तों से शरीर ढँकने लगा। उनका समूह गुफाओं में रहता था। एक समूह दूसरे से अपरिचित और उनके शत्रु हुआ करते थे। एक दिन तार और हुचका अनजान में किसी दूसरे समूह के पास पहुँच गये। 'इसी समय कोई चिल्लाया और कई आदमी इनकी ओर दौड़े। यह भागे, पर पकड़े गये। इनको पकड़ कर वे एक गुफा के पास ले गये जहाँ एक स्त्री बैठी थी और कई आदमी तथा औरतें, बच्चे, बच्चियाँ बैठकर शिकार खा रहे थे।………दल बाँधकर आने पर तो युद्ध होना अवश्यम्भावी था। वह स्त्री प्रसन्न थी। उसने तार को पास बुलाया और उसको स्नेह से पानी पिलाने लगी।'[2] धीरे-धीरे तार और हुचका की सहायता से समूह भी एक-दूसरे के निकट आने लगे।

यौन-सम्बन्ध निर्बाध रूप में था। माँ-बेटे, भाई-बहन का कोई भेद-भाव न था। तार, हुचका की बड़ी बहन का लड़का है। किन्तु हुचका कहती है, 'तेरे लिए मैंने घमरा को मारा।' क्यों? 'तू मुझे अच्छा लगता है।' सब नहीं लगते हैं।' सब अच्छे लगते हैं। '…… तार चुप रहा। फिर वे वासनाविभूत हो गये और अपने को भूल गये।'[3] उनका ज्ञान अत्यन्त सीमित था। सूर्य और बादल को भी पक्षी रूप मानते थे। उन्हें मृत्यु तक का भी ज्ञान नहीं था। उनके अनुसार आत्मा पहाड़ के दूसरी ओर चली जाती है। पशुओं का नामकरण ध्वनि पर आधारित था। 'हाहे' साँप का नाम था, क्योंकि उसे देखकर भय से यही शब्द मुँह से निकल जाता था और डँकार सिंह के लिए था क्योंकि वह डँकारता था।'[4] प्रारम्भिक अवस्था में भी अंधविश्वास का प्रचलन हो गया था। उन्हें यह विश्वास था कि यदि किसी वस्तु का चित्र अंकित कर लिया जाय तो उसे सरलता से मारा जा सकता था। सिंहिनी के मारे जाने पर सभी चिल्लाये मद्ग ……जिनका अर्थ था कि मद्ग के चित्र बनाते ही वह मारी गयी।

---

१. महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० ४६९।

२. महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० ४७।

३ वही पृ० ९७।

४ वही पृ० ४

मद्ग के चित्र ने सिंहनी को मार दिया। मद्ग जब चित्र बना लेता है, तक शत्रु अवश्य मर जाता है।'[१]

समय की गति के साथ ही सामूहिक परिवार का विकास हुआ और इस विकास में टाटेम का प्रारम्भ हुआ। 'पशु-पक्षी तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की उपासना के आधार पर जातियाँ बनने लगीं। यदि एक टाटेम प्राकृतिक रूप से दूसरे टाटेम का शत्रु है तो उस पर आधारित जातियाँ भी परस्पर शत्रुता का भाव रखती थीं।' जैसे मूषक-बिडाल', 'नाग-गरूड़' वानर-हाथी इत्यादि और यह पुराण भी प्रमाणित करते हैं। विष्णु के नाग-गरूड सम्मिलन में जातियों की अन्तर्मुक्ति ही इसका मूल कारण है।[२]' आदिम जाति के पश्चात् सबसे पहले आग्नेय परिवार पैदा हुआ जो अग्नि की उपासना करता था। इसके पश्चात् नाग, गरुण, निषादादि जातियाँ बन गयीं। प्राकृतिक वैमनस्य के आधार पर ये जातियाँ एक-दूसरे की घोर शत्रु थीं। नाग-दलपति भ्राट ने एक गरुड़-स्त्री के साथ संभोग किया। इस तथ्य से परिचित होने पर भ्राट-पत्नी क्रोध से विह्वल होकर कहती है-'पशु भी अपनी जाति में ही संभोग करके आनन्द लेते हैं। भ्राट ने दूसरी जाति की स्त्री से संभोग किया है। यह मनुष्य नहीं है। यह नाग नहीं है। यह नागदेवता का शत्रु है। यह पापी है।·· मैं नागदेवता के नाम पर आज्ञा देती हूँ कि भ्राट और इस गरुड़ स्त्री को पकड़ लो![३]' ताना ने नारी-सुलभ ईर्ष्या के कारण नहीं अपितु देवता के अपमान के कारण दोनों को अग्नि में डलवा दिया। इस समय भी यौन-सम्बन्ध प्रायः शिथिल था, किन्तु यह अपनी जाति में ही सम्भव था। धीरे-धीरे विवाह की भी प्रथा प्रचलित होने लगी और विवाह को सामाजिक मर्यादा भी मिलने लगी। कम्बु, गुरु-पुत्री कौड़ी से पूछता है-'कौड़ी!' 'हाँ!' देख, तूने मुझसे ब्याह नहीं किया। आज कर ले। अब कौन नाचेगा, कौन गायेगा? कौन हँसेगा? कौन मंगल मनायेगा?'[४] जातियाँ भी उपजातियों में विभाजित होने लगीं। जैसे नागों में क्राथ, तक्ष और आखोम आदि उपजातियाँ हो गयीं, किन्तु ये सभी एक ही देवता नाग की पूजा करती थीं। अतः इनमें द्वेष नहीं था।

आग्नेय युग में युद्ध के समय शत्रु की स्त्रियों का वध नहीं किया जाता था। मौत के घाट केवल पुरुष ही उतारे जाते थे। 'उसकी अगली मंजिल में स्त्री और पुरुष दोनों को दास बनाया जाने लगा और बध करना बन्द हो गया। वह निश्चय ही एक प्रगति थी। मनुष्यता का इसमें तो विकास ही हुआ कि छूटते ही मार डालना बन्द हो गया।'[५] कालांतर में टाटेम जातियों में शत्रुता कम होने लगी और वे अपने छोटे-छोटे भेदों को भूलते गये। कर्कोटक नेता ने नाग दम्पति की रक्षा की। इस युग में मांस के अतिरिक्त दूध, रोटी आदि का भी भोजन के रूप में प्रचलन हो गया। 'रोटियाँ, फल, गोश्त, मछलियाँ, दूध और बड़ों को शराब। सब कच्चे या सिके हुए। वे मसाले नहीं जानते थे। ····जहाँ कहीं अनाज या दाल अपने-आप उगे नजर आते, उन्हें वे एकत्र कर लेते और सिल-लोढ़ी पर पीसकर पानी में गूँधते, उसे आग पर सेंक लेते।'[६]

नाग, गरुड़, निषाद आदि जातियों के साथ ही द्रविड़, किरात और असुर परिवारों का भी विकास होने लगा। इस विकास-युग में समाज का पूर्णतः नया रूप परिलक्षित होता है। लोगों में समुद्री यात्रा का महत्त्व अधिक बढ़ गया, जिसके कारण इनका सम्बन्ध विदेशों से भी होने लगा। इस वैदेशिक सम्बन्ध के कारण जातियों में भी निकटता अधिक आ गयी। एक देशवासी दूसरे देश की कलाओं का भी सम्मान करते थे।' ····· ये जातियाँ इतनी यात्रा करती थीं कि जहाँ एक-से गुफा चित्र भारत से स्पेन तक मिलते है वहाँ दूसरी ओर एक-सी सभ्यता के चिन्ह अमेरिका और चीन तथा भारत में प्राप्त होते है। अमेरिका में अलास्का मार्ग से एशियावासी पहुँचे थे, यह पुरातत्व के द्वारा प्राप्त वस्तुएँ बताती हैं।[७]' 'लोगों में एक-दूसरे के देवताओं के प्रति श्रद्धा-भाव जागृत हो गया। पिशाचों के द्वारा पकड़े जाने पर मन्दिर-नर्तकी दिवरा उन्हें 'महामाई' के महात्म्य का उपदेश देती है, किन्तु उनकी सहानुभूति न पाकर सोचती है-' ···· ··सारी पृथ्वी पर एक नियन था, परिणय, मिस्री, एलामवासी, सुमेरु के रहने वाले, नाग, गरुड़, असुर, दैत्य, दानव, द्राविड़, सिनाई के कनआनी, हब्शी, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, कि-पुरुष, वानर, ऋक्ष, जिनका भी नाम सुना था, वे सभी महामाई को सम्मान देते थे। मानते न थे तो अपमान

---

१ वही, पृ० ४३।

२ वही, पृ० ६३।

३ महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० १०८-१०९।

४ वही, पृ० १३६।

५ वही पृ० १४६।

६ वही पृ० १००।

७ वही पृ० १०५।

भी नहीं करते थे। किन्तु ये पिशाच! इनका तो कोई हृदय ही नहीं।[१]'

इस समय भी यौन-सम्बन्ध प्रायः मुक्त था। असुर, देव, गंधर्व, राक्षस, पिशाच इत्यादि जातियों में विभिन्न प्रकार की वैवाहिक रीतियां प्रचलित थीं। राक्षसों में स्त्री को 'माल' या सामग्री समझते थे, जिसका विवाहित, कौमार्य या किसी भी अवस्था में हरण हो सकता था। पिशाचों में भी लगभग यही परम्परा थी। अपनी जाति में स्त्री-सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए पिशाचों ने नर्तकी दिवरा से कहा-'.... एक बार पुरुष ने ताँबे का हल बनाकर धरती में गडाया। कुटुम्बों की माता सो रही थी। उस वर्ष अन्न उगा। आनन्द से पुरुषों ने स्त्रियों को छल से पकड़ा और आनन्द लिया। तब से हमारी प्राचीन परम्परा यही है कि हमारे परिवारों में स्त्री का महत्व बड़ा होते हुए भी हम छल से ही स्त्री को पकड़ते हैं और बलात्कार कर के उसे अपना लेते हैं। यदि तू न चलेगी तो हम बलात्कार करेंगे।[२]' सुमेरुवासियों के यहाँ नितान्त भिन्न प्रथा थी। उनके यहाँ लड़कियों का विवाह तभी सम्भव था 'जब कोई विदेशी उन्हें चुनकर उनके कौमार्य को खण्डित करे। तभी वे विवाह के योग्य हो सकती थीं।
...उनके माँ बाप और भाइयों ने रात को देवी से यही प्रार्थना की थी उन्हें आज प्रातः कोई चुन ले।'[३] असुरों में कन्या-विक्रय की प्रथा प्रचलित थी।

आग्नेय काल में दासों की स्थिति दयनीय हो गयी और उनके साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था। अपने दास गैंडा के विषय में दिवरा अर्क से कहती है-'इस दास में बड़ी शक्ति है।.........जब कभी मुख्य पुजारिन का समय नहीं बदलता वे मुझसे इसे माँग लेती हैं और इसे जंगली पशुओं से लड़ाकर आनन्द से देखती हैं।
....अन्य दासों से इसे मैं अच्छा खाना भी देती हूँ, क्योंकि कभी-कभी मैं नींद न आने पर इसका आनन्द लेती हूँ।'[४] दासों का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं था और न उनकी कोई विचार-धारा थी। स्वामियों के क्रोध के समय वे पशुओं की तरह मारे जाते थे।

समाज के विकास के साथ ही अन्ध-विश्वास में भी वृद्धि होती गयी। लोगों का विश्वास भूत-प्रेत, जादू, टोना आदि में बढ़ता गया। नरम के मारने पर नर्तकी कहती है, तू मुझे मारता है न? मार। .... तू मुझे मार, मै भूतनी बनकर तेरे सिर आऊँगी विकराल आत्मा बनकर तेरा रोम-रोम चबाऊँगी, तेरा लहू पीयूँगी, तू समझता है तू मुझे डरा देगा।'[५] निःसन्तान रानी पुत्र-प्राप्ति के लिए तांत्रिक थांक में पूर्ण विश्वास कर उसकी समस्त शर्तों को स्वीकार कर लेती है। मुख्य पुजारिनी रानी से कहती है-'यदि तू काले मुर्गे के सीने की हड्डी को पीली बिल्ली की पूँछ के बालों के साथ जलाकर बैल के मूत्र के नीचे सात दिन तक उसे गाड़कर फिर लोमड़ी की खाल में सींकर धूनी देकर उसे अपनी बाई भुजा में बाँधे तो तुझ पर से उस बाधा का प्रभाव सदा के लिए जाता रहेगा जो तैमात का पति अप्सु तेरे गर्भ में भेज रहा है।'[६]

५५०० ई० पू० दक्षिण भारत में किरात और द्रविड़ का समाज पर्याप्त विकसित हो गया था। अनेक जातियाँ उत्तर से आकर इनमें मिलती रहीं। 'दस्तुतः द्रविड़ कोई जाति नहीं थी। कई जातियों का समूह था, जो एक भाषा-भाषिणी थीं। इनमें विभिन्न समयों पर विभिन्न जातियां घुलती-मिलती गयीं। वह आदिम जाति जिसकी भाषा ने प्रभाव डाला, सशक्त थी और कालान्तर में हारती-जीतती बची रही।'[७] इस युग की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है 'मास्क'[८] का प्रचलन। पहले जातियों का विभाजन टोटेम पर आधारित था। अधिक प्रचलन होने पर लोग अपने आराध्य देव का कृत्रिम रूप अपने मुख पर चढ़ाने लगे। किन्तु दक्षिण की इन जातियों में जाति-भेद प्रारम्भ हो गया, जिसके कारण आपस में कटुता अधिक बढ़ गयी। इसी समय आर्यों का उत्तर-पश्चिम से आगमन हुआ और अनेक विरोधों के पश्चात् भी यहाँ के सामान्य लोगों ने आर्यों का स्वागत किया, क्योंकि उनमें सामाजिक

---

१ महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० २१४।

२ वही, पृ० २१४।

३ वही, पृ० २८०।

४. वही, पृ० २०७।

५ वही, पृ० २२३।

६ महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० २२५।

७. वही, पृ० ३१०।

८ 'मास्क का अर्थ है मुख पर एक नकली चेहरा चढ़ा लेना। इसका रूप अब दक्षिण के कथकलि नृत्य की वेशभूषा में मिलता है। एक समय था तिब्बत से लेकर स्पेन तथा दक्षिण भारत तक मुख पर चेहरा चढ़ाने की प्रथा थी।'
अँधेरा रास्ता पृ० १६८

विषमता थी आर्य यहा आने के पश्चात् देव कहलाने लगे और गन्धर्व किन्नर असुर आदि जातियों मे उनकी मित्रता हो गयी. बाद मे देवो का महत्व बढ़ने लगा और उनका शासक इन्द्र कहलाने लगा। इन्द्र के बाद कई और इन्द्र हुए। प्रारम्भ का इन्द्र खानाबदोशों का नेता था।[१]

इन्द्र मान्धाता काल में भी यौन-सम्बन्ध प्राय: मुक्त ही रहा। किन्तु धीरे-धीरे नैतिक बन्धन प्रारम्भ होने लगे। विवाह-प्रथा प्रचलित हो गयी और उसे सामाजिक मर्यादा मिलने लगी। इस काल में असुरों में कन्या-विक्रय की प्रथा प्रचलित थी। वृत्रासुर के दरबार में एक चर असुर-पुरोहित से कहता है- देव। मेरी पुत्री के लिए एक नाग आया है। कहें तो दे दूँ।

"दे दो। वृद्ध ने कहा।

'फिर कन्या का क्या शुल्क लेकर उसे दान दे दूँ?'

'आठ गायें और दो सुवर्ण मुद्रा ले लो।'[२]

पिशाचों के वैवाहिक सम्बन्ध में कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता। 'वक पिशाच अपनी जाति की परम्परा ही जानता था। उसने स्थूणाकर्णी को विवश कर दिया। वह सशक्त था। पिशाचों में स्त्री को छीन ले जाते थे छल से ले जाते थे और बलात्कार कर देते थे, बस, यही पिशाचों का विवाह था।'[३] 'देवों में गन्धर्व विवाह प्रचलित था।' गृहपतियों की कई स्त्रियाँ होती थीं। बहु-विवाह का उन्हें अधिकार था। साधारण कार्य भी एक से अधिक स्त्री रख सकता था। दासियों को तो भोगा ही जा सकता था।'[४] आर्यो में विलासिता अधिक थी।

सर्वप्रथम देवों में आदिम साम्यवाद था। किन्तु धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति होने लगी और जनसमुदाय विश कहलाया। वैराज्य से गृहपति, गृहपति से सभा, सभा से समिति और समिति से आमंत्रण (मंत्री समूह) चुने जाते थे और बाद में शासक होने लगे। इन्द्र के समय तक पूर्ण शासन-व्यवस्था हो गयी थी। गण सेना के रूप में लडते थे और यज्ञाग्नि के चारों ओर बैठकर निर्णय करते थे। मनु के समय तक सेना का रूप बदलकर रक्षक के रूप में हो गया। वर्ण-व्यवस्था का प्रचलन प्रारम्भ होने लगा। ब्राह्मण सर्वोपरि थे। 'किन्तु अभी भी गणों में ब्राह्मण और क्षत्रियों में बिल्कुल ही भेद नहीं हो गया। ब्राह्मण क्षत्रिय की कन्याएँ ब्याह लेते थे। उस समय ऋषि ही सबसे सशक्त नेता थे और वे ही अग्नि के पास खड़े होकर दान देते थे।'[५] आर्यों में यज्ञ-प्रथा अत्यन्त प्रचलित थी। इस समय असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, वानर, ऋक्ष, नाग, किन्नर, गरुड़, निषाद आदि जातियाँ भी अस्तित्व में थीं। सभी जातियाँ राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील थीं। आर्य शासक मान्धाता की हत्या लवणासुर ने की थी। किन्तु पारस्परिक सम्पर्क के कारण इनकी सामाजिक स्थिति में पर्याप्त साम्य हो गया। दास-प्रथा प्राय: सभी जातियों में थी और अन्धविश्वास भी उस समय प्रचलित था। कृषि, व्यापार आदि की प्रगति शुरू हो गयी थी और लोग सोना, हीरा, लोहा, ताँबा आदि धातुओं से भी परिचित थे।

देवशासक मान्धाता की मृत्यु के पश्चात् आर्यों में वर्ण-व्यवस्था अधिक जटिल हो गयी। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने-अपने प्रभुत्व की स्थापना में एक-दूसरे के शत्रु हो गये। क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के आधिपत्य को अस्वीकार कर दिया। ब्राह्मणों का विरोध करते हुए कार्तवीर्यार्जुन पवनदेव से कहता है-'ब्राह्मण अध्ययन और अध्यापन करने तथा यज्ञ कराने के बहाने क्षत्रियों का आश्रय लेकर निर्वाह करते है, किन्तु क्षत्रिय कभी ब्राह्मण का आश्रय नहीं लेता। जब ब्राह्मण क्षत्रिय पर आश्रित हैं, तो वह उससे श्रेष्ठ कैसे हो सकता है! अब मैं भीख माँगकर खानेवाले मृग-कर्मचारी आत्माभिमानी ब्राह्मणों को अवश्य पराजित और वशीभूत करूँगा। मैं इस ब्राह्मण प्रधान जगत को क्षत्रिय प्रधान बनाऊँगा।'[६] 'ब्राह्मण और क्षत्रियों में घोर संघर्ष छिड़ गया और क्षत्रियों की विजय भी हुई। क्योंकि उस समय 'क्षत्रिय सेना बनाकर नगरों में रहते थे और ब्राह्मण आश्रम-वनों अर्थात् अपनी खेतिहर व्यवस्था को पकड़े हुए थे। नगर समाज के उद्योग-धंधों के केन्द्र थे, जिन पर क्षत्रियों का कब्जा था। इस प्रकार ब्राह्मण उत्पादन के नये साधनों पर कब्जा न कर सकने के कारण कमजोर पड़ गया-सिर्फ इतना कि नगर पर उसका अधिकार ढीला हो गया।'[७] इसके पश्चात् ब्राह्मणों का नेतृत्व भृगुवंशीय परशुराम ने किया और उन्होंने वैश्यों और शूद्रों

---

१ महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० ३८४।

२ वही, पृ० ३६६।

३ महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० ४०७।

४ वही, पृ० ४४१।

५ वही, पृ० ४४८।

६ वही पृ० ५१६। ७ वही पृ० ५१५।

की सहायता से हैहय क्षत्रियों का संहार कराना प्रारम्भ किया। क्षत्रियों के पतन के कारण शूद्र और वैश्य अधिक शक्तिशाली हो गये तथा ब्राह्मणों के साथ भी अन्याय करने लगे। पहले ब्राह्मण क्षत्रियों की सहायता से वैश्यों और शूद्रों का दमन कर दिया करते थे, किन्तु अब वे दमन करने में असफल हो गये। तितीर्षु परशुराम से कहता है-'घर शूद्रों ने जला दिया है। वैश्यों ने सारी गायें हांक ली हैं। दासों ने पत्नी से बलात्कार करके उसे जान से मार डाला है। सन्तान की रक्षा में हमारे कुल के समस्त पुरुषों ने युद्ध किया और काफी घायल होकर इधर-उधर भाग सके। आश्रम को शबरों ने अपने कब्जे में कर लिया है......क्षत्रिय तो मारे गये, परन्तु अब शूद्रों और वैश्यों को कैसे कुचला जाये?' इसके पश्चात् ब्राह्मणों ने परशुराम का विरोध कर क्षत्रियों के साथ संधि कर ली और वैश्य तथा शूद्र पुनः दब गये।

त्रेता-युग में सामाजिक स्थिति अत्यन्त सुन्दर थी। शूद्र ब्राह्मण और क्षत्रियों की सेवा करते थे। वैश्य खेती एवं व्यापार करते थे। ब्राह्मण और क्षत्रियों का आपसी वैमनस्य प्रायः समाप्त हो गया था क्योंकि ब्राह्मण पूज्य थे और क्षत्रिय शासन-कार्य में लगे थे। दक्षिण में रहनेवाले अनार्यों का सम्बन्ध आर्यों से हो गया। त्रेता-युग के पश्चात् द्वापर में पुनः क्षत्रियों में आपसी द्वेष बढ़ने लगा और उसी का परिणाम महाभारत का युद्ध था। वर्ण-प्रथा अधिक जटिल हो गयी, किन्तु विद्वता का आदर किया जाता था। इसी कारण भीष्मपितामह ने यज्ञ में कृष्ण को सर्वोच्च स्थान दिलाया।

मान्धाता-जनमेजय युग के प्रथम चरण में दास-प्रथा अत्यन्त क्षीण थी। ब्राह्मण-क्षत्रियों के आपसी संघर्ष के कारण दासों की स्थिति सुधरा गयी। किन्तु त्रेतायुग में दासों की संख्या फिर बढ़ने लगी। वे शूद्र से भी अलग माने जाने लगे। परन्तु इनके साथ अमानवीय व्यवहार नहीं होता था। द्वापर-युग में आकर दासों की स्थिति सुधरने लगी।

मान्धाता-जनमेजय काल में यौन-सम्बन्ध सामाजिक बन्धनों में जकड़ता गया। पहले की भाँति संभोग की पूर्ण स्वतन्त्रता न थी। गन्धर्वों का नग्ननृत्य देखने के कारण रेणुका को जमदग्नि ने मृत्यु की सजा दी। पितृसत्तात्मक व्यवस्था होने के कारण नारियों की सामाजिक प्रतिष्ठा भी घटने लगी। बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। वानरों में अपहरण प्रथा थी। आर्यों में कभी-कभी प्रण के आधार पर भी शादियाँ हुआ करती थीं। सीता और द्रौपदी का विवाह ऐसे ही हुआ था। 'महाभारत में सती प्रथा माद्री के साथ मिलती है, वह पाण्डु के साथ जल मरती है। परन्तु यह उस समय स्त्री पर निर्भर था। माद्री ने पाण्डु को कामुक बनाने की ग्लानि में प्राण त्याग लिये।

.....राम कथा में सुलोचना मेघनाद के साथ सती होती है, तारा बालि के साथ जलने की बात कहती है, पर जलती नहीं।'[२] 'महायात्रा : अँधेरा रास्ता' प्रागैतिहासिक काल से लेकर जनमेजय तक मानव-विकास की एक गाथा है। इसलिए लेखक ने ऐतिहासिक संदर्भ में नारी-पुरुष के सहज विकास को अंकित किया है। गाथाओं में वर्णित नारी-पात्र केवल ऐतिहासिक विकास के ही संकेत हैं। आदिकाल में मातृसत्तात्मक व्यवस्था होने के कारण नारियों को परिवार में महत्वपूर्ण स्थान मिला था। परिवार में 'माँ' का स्थान सर्वोपरि था। किन्तु 'माँ' पद का निर्णय अवस्था, सन्तान अथवा बुद्धि से न होकर शारीरिक बल से होता था। जो भी स्त्री परिवार में बलवती होती थी, वही 'माँ' बनती थी। एक परिवार में धमरा माँ थी। एक दिन हुचका ने उसको चट्टान पर पटक दिया। 'शव नीचे पत्थर पर गिर कर वहीं लुप्त हो गया। भीतर से सब लोग गुफा के द्वार पर आ गये थे। हुचका ने कुत्तों के गले में चमड़े की रस्सी डालकर पकड़ लिया और वह सामने खड़े लोगों की ओर अग्निमय नेत्रों से देखने लगी। सबने पृथ्वी पर लेट कर कहा : 'तू माँ है। तू माँ है। तू ही माँ है। तू ही माँ है[३]।' माँ के संकेत पर ही परिवार चलता था। उस आदि काल में भी स्त्री की सार्थकता संतानोत्पति में निहित थी। 'माँ' होने के पश्चात् भी संतानहीना हुचका कहती है.........स्तन निकल आने से स्त्री नहीं होती। वह तो स्त्री तब होती है जब उसके शरीर से कोई निकल आता है।'[४]

'आग्नेय जाति-परिवार में मातृसत्तात्मक व्यवस्था समाप्त होने लगी। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के फलस्वरूप दास-प्रथा का विकास हुआ। पर इस काल में भी माता का स्थान ही सर्वोच्च था। भ्राट पत्नी ताना की आज्ञा से नागपति भ्राट शत्रु कह कर जला दिया गया। दक्षिण में द्रविड़ों के यहाँ भी मातृपूजा होती थी। किन्तु पिशाच,

---

१ महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० ५३१।

२ वही, पृ० ३८७।

३ महायात्रा : अँधेरा रास्ता पृ० २०।

४ वही पृ० ३०।

असुर, निषादों के यहाँ स्त्रियों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला था क्योंकि उनके यहाँ स्त्रियों को आनन्द की वस्तु ही समझा जाता था।

इन्द्र-मान्धाता काल में पितृसत्तात्मक व्यवस्था शुरू हो गयी और इसके साथ ही स्त्रियों का सम्मान समाज में कम हो गया। उत्सव आदि के समय भी स्त्रियों का वरण पुरुष ही करते थे। नारी को वरण करने का कोई अधिकार नहीं था। आर्यों में बहु विवाह की प्रथा के कारण नारी-सम्मान को और अधिक धक्का लगा। मान्धाता-जनमेजय युग में पुरुषों के द्वारा निर्धारित नियमों में बँधकर नारी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो बैठी। पिता की आज्ञा पुत्री के वैवाहिक जीवन के लिए अन्तिम आज्ञा होती थी। रुक्मिणी कृष्ण से प्रेम करती थी, किन्तु उसके अग्रज रुक्मी शिशुपाल के साथ विवाह करना चाहते थे। रुक्मिणी में इतना साहस नहीं था कि वह अपने मत को व्यक्त करे। वह रोती हुई सैरन्ध्री से कहती है-'चेदिनरेश कुटिल व्यक्ति है।'

'राजकन्ये! वह चौंकी : तो फिर?

'... यादव श्रीकृष्ण.... ।' सैरन्ध्री सोचती रही। फिर कहा- 'युवराज रुक्मी जान गये तो मेरी मृत्यु निश्चित है।'[1]

इस आलोच्य कृति में लेखक का प्रमुख दृष्टिकोण मानव-विकास को ऐतिहासिक रूप में व्यक्त करना था। इस विकास-यात्रा के अन्तराल में जो-जो राजनैतिक परिस्थितियाँ आयी हैं, उनका भी संकेत लेखक ने किया है। इसमें लेखक ने राजनीतिक परिस्थितियों को अधिक महत्व नहीं दिया है। प्रायः ऐतिहासिक उपन्यासों में राजनीतिक आन्दोलन और परिस्थितियाँ व्यक्ति की नियति की नियामक शक्तियों के रूप में चित्रित हैं, जिनके थपेड़ों में पड़े पात्र असहाय होकर इधर से उधर ठोकर खाते रहते हैं। प्रागैतिहासिक काल का मनुष्य नितान्त असभ्य एवं स्वतन्त्र था। धीरे-धीरे संयुक्त परिवार का रूप प्रकट हुआ और परिवार नियंत्रित होने लगा। संयुक्त परिवार मातृसत्तात्मक व्यवस्था को स्वीकार कर आया। 'माँ' का स्थान सर्वोपरि था और अन्य सदस्य उसके संकेतों पर चलने लगे। सर्वप्रथम शासन का सूत्रपात 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त पर हुआ। संयुक्त परिवार से समूह और समूह से टॉटेम के आधार पर जातियाँ बनने लगीं। 'एक टॉटेम दूसरे का निश्चय ही तब शत्रु होगा जब दूसरा टॉटेम प्राकृतिक जीवन में उसका शत्रु होगा।'[2] इस प्रकार 'आग्नेय जाति परिवार' काल में मानव-समुदाय पाशविक प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित था। अतः जातीय संघर्ष अपनी सीमा पर था। द्रविड़-किरात काल में मातृसत्तात्मक व्यवस्था लड़खड़ाने लगी और पितृसत्तात्मक व्यवस्था शुरू हो गई पितृसत्तात्मक व्यवस्था के साथ ही राज्यों का भी सूत्रपात हुआ और शासक राज्य की व्यवस्था के लिए सेना एवं सलाहकार भी रखने लगा।

'इन्द्र-मान्धाता' काल में आर्यों का आगमन हुआ और वे देव कहलाये। "पहले देवों में आदिम साम्यवाद था। तब उनके समाज में मातृसत्ता थी, माता के नाम पर गण याद किये जाते थे। बाद में पितृ-व्यवस्था और पिता के नाम पर गण चलने लगे। इसके साथ ही व्यक्तिगत संपत्ति होने लगी और जनसमुदाय विश कहलाया इन्द्र के समय तक राजा होने लगे। परस्पर कौन किस पर कितना निहित था, निर्भर था, यह युगविशेष के शासक और शाषित वर्ग की पारस्परिक शक्ति पर निर्भर था। इन्द्र काल में 'दण्ड' (देने का अधिकार) इन्द्र को मिला, परन्तु वह बाहरी शक्तियों पर लागू होता था। भीतरी देव समाज में गृहपति और सभा प्रमुख थी। सेना अलग से तनख्वाह पर नहीं रहती थी कि राजशक्ति की ही सेवा करे। ......मनु के समय में सेना उच्च वर्णों अर्थात् शासकों की स्वार्थ रक्षक हो गयी।"[3] अन्य शासकों की अपेक्षा आर्य शासक अधिक कुशल और प्रिय थे। तत्कालीन अनार्य शासक कम्बा के शासन में "दूसरों की पकी फसल के कटने और तैयार होने पर उसके सैनिक अपने लिये उसमें से आधा छीन कर ले जाते थे और मदिरा के भरे पात्रों को अपने गले के नीचे उतार जाते थे। उसकी सेना को अधिकार था कि वे योद्धा जिस स्त्री को चाहें उसको पकड़ लें, उससे अपनी वासना की तृप्ति करें और उनका विरोध नहीं था।"[4]

मान्धाता-जनमेजय काल के प्रथम चरण में आर्यों में आपसी मतभेद बढ़ गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने-अपने स्वार्थों में लग गये। किन्तु कालान्तर में समस्त मतभेद दूर हो गया और राम के समय में आदर्श

---

१ वही, पृ० ७४५।

२ महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० ६३।

३ वही पृ० ४०१।

४ वही पृ० ३२०।

राज्य की स्थापना हुई। कृष्ण के समय में राजनीतिक वातावरण पुनः अशांत हो गया। कौरवों और पाण्डवों के आपसी वैमनस्य के कारण महाभारत का संग्राम हुआ और इसके पश्चात् आर्यों की शक्ति क्षीण होने लगी।

इस विशाल 'महायात्रा' में धार्मिक प्रवृत्ति का परिचय आग्नेय काल में हुआ। इस काल में टॉटेम का प्रचलन हुआ। आदिम जाति किसी वृक्ष, अन्य प्राकृतिक वस्तु अथवा पशु की उपासना करती थी और अपने को उसी के नाम से प्रकट करती थी। "हमारे इतिहास पुराण में जो पशु और वृक्ष अधिकांश बातें करते दिखाए गये है, जैसे गरुड़, वानर, नाग, ऋक्ष, हंस, मत्स्य, कूर्म, पक्षी इत्यादि, यह वास्तव में मनुष्य थे जो अपने टॉटेम के नाम पर ही पुकारे जाते थे।"[१] भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी उस समय वृक्ष, पशु एवं प्राकृतिक अंगों की उपासना होती थी। "बैबीलोनिया में जू गरुड़ देवता था। .... मिस्र में होरेस गरुड़ था, सेत सांप। तिब्बत में सर्प और पक्षी मिलकर एक पशु के रूप में ही चित्रित था।"[२] इन टॉटेम जातियों में प्राकृतिक शत्रुता के आधार पर ही शत्रुता होती थी। आग्नेय युग के अन्तिम समय में विशाल मन्दिर भी बनने लगे थे, जिनमें अद्विशूर देवी की आराधना होती थी। देवी की मुख्य पुजारिणी को राज्य में सर्वोपरि स्थान था और शासक उसके विरोध में कोई कार्य नहीं कर सकता था। राक्षसों को जब ज्ञात हुआ कि वीर्य के कारण संतान होती है, तब उसकी पूजा करने लगे[३]। कालान्तर में जब जातियों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ, तो लिंग की पूजा अन्य जातियाँ भी करने लगीं और आज भी लिंग की उपासना प्रचलित है। उस समय नर-बलि की प्रथा भी प्रचलित थी। यक्षों में काम देवता की पूजा होती थी, जिसे बाद में शिव से जोड़ दिया गया। बाद में जब लिंग-पूजा की महत्ता बढ़ी तो शिव का सम्बन्ध लिंग से भी जोड़ दिया गया। प्रारम्भ में शिव अनार्यों के देवता थे।

इन्द्र-मान्धाता काल में धार्मिक स्थिति समाज में अधिक सुदृढ़ हो गयी। आर्यों में महान् शासकों को देवता के रूप में स्वीकार किया गया और उनकी पूजा होने लगी। देवराज इन्द्र की पूजा का यही रहस्य था और कालान्तर में राम और कृष्ण की भी पूजा इसी रूप में प्रचलित हुई। 'कुबेर, गणेश, लक्ष्मी' जो प्रायः यज्ञ देवता है या अनार्य देवता हैं, उनकी पूजा भारतीय समाज में काफी बाद में प्रचलित हुई। ईसा के आस-पास के समय में यज्ञ संस्कृति भारतीय समाज में मुखर थी[४]। आर्यों में अग्नि की पूजा भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। इन्द्र के समय में आर्य अग्नि की पूजा करते थे। देवासुर-संग्राम के समय इन्द्र अपने मित्रों से कहते हैं 'भृगु को बुला। वह आये। ब्रह्म एकत्र है। वह अग्नि को हव्य दे, पितरों का कव्य। और जो कुछ आज हम असुरों से छीन कर लाये हैं उसे बॉटें-दान करें।"[५] आदि रूप में 'ब्रह्म' अग्नि के चारों ओर इकट्ठे गोत्र का नाम था, जो सब कह दें, वही ब्रह्म का कथन था। धीरे-धीरे ब्रह्म का रूप बढ़ने लगा और 'ब्रह्म' अनेक देवताओं का पर्याय बन गया। इस ब्रह्म को ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में समाज का रूप समझा गया। इसी 'ब्रह्म' ने दर्शन के 'ब्रह्म' के रूप में विकास किया और कालान्तर में सहिष्णुता से. ब्रह्मा, विष्णु, महेश के त्रय में समस्त भारतीय जातियों के देवता अन्तर्मुक्त हो गये और एक व्यापक परिवार बन गया। आर्यों के आगमन के समय से ही इनमें यज्ञ करने की प्रथा प्रचलित हो गयी। प्रायः शासक अपनी प्रतिष्ठा के लिए यज्ञ करते थे। राजा दशरथ ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। "यज्ञ में अठपहल २१ स्तम्भ गाड़े गये। उनमें ६ स्तम्भ खैर के और उनके सामने ६ बेल के, ६ ढांक के, १ लिसोड़े का और २ देवदारु की लकड़ी के थे। वे प्रत्येक इक्कीस अरलि ऊँचे थे और उन्हें सुवर्ण और वस्त्र से सजा दिया गया था। चतुर ब्राह्मणों ने अग्नि-स्थापन के लिए ईंट लाकर त्रिगुण गरुड़ाकार वेदियाँ बनायीं।"[६] यज्ञ का प्रचलन कृष्ण के समय में भी था। अवतारवाद की मान्यता उपनिषद् काल के बाद की ही है; क्योंकि उपनिषदों में अवतारों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है।

डॉ० रांगेय राघव के अनुसार आरम्भ में भारतवर्ष के उत्तर-पूर्व में किरात-परिवार की भाषा प्रचलित थी। किन्तु उसका क्या रूप था, इसका संकेत महायात्रा में नहीं मिलता है। उनके अनुसार उत्तर-पश्चिम में असुर भाषा और दक्षिण तथा गंगा-प्रदेश में द्रविड़ भाषाओं की मूल भाषा थी। नागों की भाषा नितान्त भिन्न थी। कालान्तर में वैदिक ऋग्वेदीय भाषा के पूर्वज आये और ऋग्वेद लिखा गया। सामवेद की रचना उसी भाषा में हुई। भाषा

---

१. महायात्रा : अँधेरा रास्ता, पृ० ६३।

२. वही, पृ० ७५।

३. वही, पृ० ११७।

४. वही, पृ० ३५३।

५ वही पृ० १६१

६ अँधेरा रास्ता पृ० ५४४।

का निबंध रूप में विकास होता रहा और इस विकसित भाषा में यजुर्वेद और अथर्ववेद की रचना हुई इसके साथ ही अन्य अनार्य भाषाएँ भी रहीं। द्रविड़ भाषा का भी विकास होता रहा और कालान्तर में ये भाषाएँ एक-दूसरे से प्रभावित हुईं। वैदिक भाषा में अनेक परिवर्तन हुए और इन परिवर्तित भाषा में आरण्यक और उपनिषद् लिखे गये इसके पश्चात् लौकिक संस्कृत भाषा का विकास हुआ। इसी समय अनेक बोलियों का भी प्रचलन हुआ और लौकिक संस्कृत को साहित्यिक महत्त्व मिला। काश्मीर से नेपाल तक, सिंधु से अवन्ती तक, गंगा और यमुना के मैदान में आर्यों-अनार्यों के मिलन से उत्पन्न बोलियाँ बोली जाती थीं। इस प्रकार लौकिक संस्कृत भाषा राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन थी।

पात्र

इस विशाल कृति में लेखक का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य की सभ्यता के विकास का ऐतिहासिक रूप अंकित करना और उसे 'काल' के निर्माण के प्रति सजग बनाना था। इसलिए लेखक के पात्रों को ऐतिहासिक विकास के सन्दर्भ में देखा है। पात्रों के नाम यथासम्भव युगानुकूल रखे गये है। जैसे, प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित पात्रों के नाम हैं-चारा, तार, काबुस, मीरत, मद्ग, कम्बु, भ्राट, हुचका, भ्रमरा, चीग, कौंडा आदि। लेखक ने संकेत किया है, "हमने अधिकतर ऐसे ही नामों को अपने पात्रों के लिए रखने का प्रयत्न किया है, जो कि तत्कालीन चित्रों को प्रस्तुत कर सकें।"[१] इन्द्र-मान्धाता काल के पूर्व के पात्र काल्पनिक पात्र हैं, किन्तु वे सभी पात्र युगानुकूल ही क्रियाकलाप करते है। उन पर लेखक के व्यक्तित्व का कोई प्रभाव नहीं है। इन्द्र-मान्धाता काल से लेकर जनमेजय काल तक के सभी प्रमुख पात्र ऐतिहासिक है और लेखक ने उनको उसी प्रकार का व्यक्तित्व दिया है। भूमिका में लेखक ने प्रमुख पात्रों का पूर्ण ऐतिहासिक परिचय दे दिया है, गाथाओं में केवल उनकी कार्य-विधियों का ही परिचय हो पाता है। लेखक ने इनके ऐतिहासिक परिचय में अनेक भ्रांतियों को तार्किक ढंग से दूर करने का प्रयास किया है। जैसे बालि, सुग्रीव, हनुमान आदि को बन्दर न मानकर मनुष्य माना है और टोटेम को स्पष्ट कर सत्य को व्यक्त कर दिया है। गाथा के अन्त में लेखक ने सनकादि, नारद, मित्र, वैनतेय, कश्यप, दक्ष ऋभु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, क्रतु, वशिष्ठ, पुलह, भरद्वाज, भृगु, च्यवन, बृहस्पति, शुक्राचार्य वैशम्पायन, दत्तात्रेय, अष्टावक्र, स्वायंभु मनु और शतरूपा, मार्कण्डेय, उपमन्यु, कपिल, मंकणक, ऋषभदेव मुद्गल, शुकदेव, उत्तंक, मैत्रेय, शौनक, अणिमाण्डव्य, सौभरि, सुदामा, भगीरथ, रन्तिदेव, अश्वपति, नल अम्बरीष, गोकर्ण का बृहद परिचय दिया है।

भाषा-शैली

डॉ० रांगेय राघव के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति इस महायात्रा में भी काव्यात्मक शैली प्रमुख हो गयी है। प्रागैतिहासिक काल की गाथा को लिखते समय लेखक ने छोटे-छोटे वाक्यों में संवाद प्रस्तुत किया है। इस गाथा में भाषा अत्यन्त ही सरल और भावानुकूल है। कहीं-कहीं 'हाहीं', 'डंकार' आदि ध्वन्यात्मक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जिन्हें आदिवासियों ने सांकेतिक शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है। किन्तु 'देवयुग' के प्रारम्भ के साथ ही शैली में परिवर्तन लक्षित है और संस्कृतनिष्ठ शैली को प्रश्रय मिला है। वातावरण की प्राचीनता को मूर्तिमान करने के लिए तत्कालीन पात्रों के अतिरिक्त नगर, नदी, पहाड़ आदि के प्राचीन नामों का खोजपूर्ण आश्रय लिया गया है।

ऐतिहासिकता

इस उपन्यास में लेखक ने प्रागैतिहासिक काल को कल्पना एवं तर्क के आधार पर प्रस्तुत किया है क्योंकि इस काल के विषय में इतिहासों एवं प्राचीन ग्रंथों में कोई चर्चा नहीं की गयी है। इस लंबी अवधि को उसने अंधकारपूर्ण माना है। इसलिए सम्भवतः इस ग्रंथ का नाम भी 'महायात्रा : अँधेरा रास्ता' रखा। लेखक ने इस अंधकारपूर्ण युग पर प्रकाश डालने के लिए अनेक देशों के इतिहासों और विद्वानों की मान्यताओं का अध्ययन किया। अनेक स्थानों पर उसने भारतीय आदिकाल की तुलना विदेशी प्रगति से की है। 'देवयुग' के पश्चात् की गाथाएँ, वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, जैनग्रंथ, बौद्धग्रंथ, उपनिषद आदि पर आधारित हैं। ठोस प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर लेखक ने अनेक इतिहासवेत्ताओं के मतों का खण्डन किया है। इस 'महायात्रा' में कहीं भी ऐतिहासिक दोष नहीं लक्षित होता है।

निष्कर्ष

निःसन्देह 'महायात्रा : अँधेरा रास्ता' डॉ० रांगेय राघव की एक अमूल्य देन है, जिसमें इतिहास और

१ वही पृ० १८६

कथा-साहित्य का सुन्दर सामंजस्य किया गया है। इस 'महायात्रा' में लेखक ने मानव-सभ्यता के क्रमिक विकास को इस क्रम में व्यक्त किया है, जो ज्ञानवर्धक भी है और आनन्ददायक भी।

महायात्रा : रैन और चंदा

डॉ० रांगेय राघव ने 'महायात्रा : गाथा' गाथा को दो भागों में विभाजित कर मानव-सभ्यता के विकास को आकलित किया है। प्रथम भाग 'अँधेरा रास्ता' में प्रागैतिहासिक काल से लेकर १५०० ई० पू० तक की मानव-विकास की गाथा अंकित है और भाग दो 'रैन और चंदा' में १५०० ई० पू० से लेकर १२०० ई० तक की गाथा वर्णित है। लेखक ने इस महायात्रा को भी तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड 'चंदा उगने लगा' १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक अर्थात् जनमेजय से अजातशत्रु से लेकर हर्षवर्द्धन तक और तीसरा खण्ड 'चाँदनी कुम्हलाने लगी' ७०० ई० से १२०० ई० तक अर्थात् हर्षवर्द्धन से लेकर पृथ्वीराज चौहान तक की विकास-यात्रा का वर्णन है। लेखक ने प्रत्येक खण्ड को गाथाओं के रूप में विभाजित कर दिया है, जिससे विकास-क्रम की विशेषताएँ सरलता से स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम खण्ड में छः गाथाएँ और द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में क्रमशः दस और छः गाथाएँ हैं। इन गाथाओं के कारण यह ग्रंथ इतिहास न होकर कथा-साहित्य का अंग बन गया है। इस महायात्रा में डॉ० रांगेय राघव ने भारतीय संस्कृति को सामने रखकर सामंतीय व्यवस्था का निरीक्षण किया है। "प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने भारतीय मध्यकाल के विषय में लिखा है। उसका क्रमशः प्रारंभ और उन्नति तथा अन्त में उसका क्रमशः पतन मैंने इसमे दिखाया है। उत्थान और पतन मैंने इस दृष्टिकोण से लिए हैं कि जनता को सामंत वर्ग से किस समय क्या लाभ और क्या हानि हुई। सामंत वर्ग और जनता के इस संबध को मैंने चन्द्रमा से तुलना करके रखा है। पहले चंद्रमा धीरे-धीरे निकलता है और फिर खूब प्रकाश फैलाता है, किन्तु फिर चाँदनी कुम्हलाने लगती है।"[1]

डॉ० रांगेय राघव ने 'रैन और चंदा' में सामाजिक विकास-क्रम को ऐतिहासिक सन्दर्भो में अंकित किया है। काल-गति के साथ ही समाज बनते और बिगड़ते गये, किन्तु इनके उत्थान और पतन के बीच से ही सभ्यता की रेखा आगे बढ़ी है। 'मांधाता-जनमेजय' युग के अन्तिम चरण में आर्यों और अनार्यों के बीच की वैमनस्य की खाई प्रायः पट चुकी थी और 'जनमेजय-अजातशत्रु' युग के प्रथम चरण में ही आर्य-अनार्य परस्पर मिलने लगे। आर्य 'ऋषि' के साथ ही अनार्यों के 'मुनि' का भी आदर करने लगे। "वास्तव में यह समय भारतीय दास-प्रथा के क्रमशः समाप्त होने का युग है। यही सामंतीय व्यवस्था के उदय होने का लंबा संघर्ष काल है। भारत में जो विचित्र वर्ण-व्यवस्था पायी जाती है, उसके विकास का यही समय है।"[2] द्वापर युग के पश्चात् वर्ण-व्यवस्था अधिक जटिल हो गयी और उनके बीच सामाजिक मर्यादा की दीवाल खड़ी कर दी गयी। "पहले जो ब्राह्मण और क्षत्रिय शूद्रों के हाथ का खाते थे अब धीरे-धीरे छोड़ते जा रहे थे।"[3] ब्राह्मण अपने पाण्डित्य के कारण अन्य वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे। किन्तु १२०० ई० पू० के पश्चात् क्षत्रियों में भी दार्शनिकता प्रकट होने लगी। प्रवाहण जैबलि क्षत्रिय राजा अपने समय का सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक था। तत्कालीन प्रसिद्ध ब्राह्मण दार्शनिक गौतम आरुणि उद्दालक भी दार्शनिक-विवेचन के हेतु क्षत्रिय दार्शनिक जैबलि के पास गया था और जैबलि की विद्वता से प्रभावित होकर उसने मन में कहा-"ब्राह्मण की मर्यादा को क्षत्रिय शिथिल कर रहे हैं। तप को वे यज्ञ से श्रेष्ठ मानने लगे हैं।"[4] क्षत्रियों का ब्राह्मण-विरोध ही कालान्तर में जैन और बौद्ध चिन्तन के रूप में प्रकट हुआ। जैन चिन्तन ने मांसाहारी ऋषि (भोगपरक चिन्तन) के स्थान पर वैराग्यपरक चिन्तन को प्राधान्य दिया। ब्राह्मण और क्षत्रियों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए वृद्ध अयास्य ने राजा अश्वपति से कहा-"राजा! पहले युग में यह एक ब्राह्मण वर्ण ही था।⋯ ⋯उसने कल्याण रूप क्षत्रिय रचा। देवों में जितने रक्षक है, वे क्षत्र हैं।⋯ यही कारण है कि क्षत्रिय के कर्म से श्रेष्ठ कुछ है ही नहीं। तभी तो राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की आराधना करता है। राजसूय में क्षत्रिय का पद ब्राह्मण से ऊँचा होता है क्योंकि वह रक्षा करता है।"[5] कालान्तर में पुनः ब्राह्मण और क्षत्रियों में सामाजिक मर्यादा की उच्चता के लिए संघर्ष छिड़ गया। लम्बी अवधि के संघर्ष के परिणामस्वरूप वैश्यों और शूद्रों की स्थिति अधिक सबल हो गयी। लगभग १००० ई० पू० वैश्य शक्ति

---

१. रैन और चंदा, भाग २, भूमिका।

२. वही, पृ० ४।

३. वही, पृ० ४७।

४. रैन और चन्दा, पृ० ५४।

५. वही, पृ० ४१।

अग्रसेन ने क्षत्रियों से सत्ता छीन ली। "आग्रयों का उत्थान वैश्यों के उत्थान का इतिहास है जिसने ब्राह्मण और क्षत्रिय उच्चता पर प्रहार किया था। आग्रेय गण का नेता, गण की व्यवस्थानुकूल, संभवतः गोत्रापत्य होता था, जो महाराज भी कहलाता था।"[१] बर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के आगमन के साथ ही समाज में महान् परिवर्तन परिलक्षित होता है। समाज में मानवतावादी दृष्टिकोणों की व्यापकता के कारण निम्न जातियों को प्रगति करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो गया और वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी करने लगे। जैन और बौद्ध दोनों धर्मों ने वैश्यों एवं दासों को स्वीकार किया। "बुद्ध का धर्म दासप्रथा का अधिक रक्षक था·····जैन धर्म वैश्यों के उत्थान का प्रतीक था।"[२] किन्तु उस समय भी समाज में आतंरिक वर्ण-संघर्ष चल रहा था।

'जनमेजय-अजातशत्रु' काल के प्रथम चरण में ही नारियों की परतंत्रता हमें परिलक्षित होने लगती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पूर्ण प्रचलन के कारण नारियों की सामाजिक मर्यादा भी प्रायः लुप्त होती जा रही थी, किन्तु ऐसी स्थिति में भी यौन सम्बन्ध पर जटिल प्रतिबन्ध नहीं लग पाया था। विवाहिता नारियाँ भी निःसन्तान होने पर पुत्र-हेतु परपुरुष से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकती थीं। विवाहिता रोहिता वेत्रक की शारीरिक शक्ति से आकर्षित हो गयी और "दूसरी ही रात वेत्रक नाव में सोया था कि मन्दक की स्त्री रोहिता चुपचाप आ गयी और बोली- मुझे गर्भ धारण करो।"[३] इसी प्रकार गौतमी का पति ब्राह्मण नमोद ने नाग से कहा- "नियोग से भी पुत्र उत्पन्न कराने की चेष्टा की, किन्तु दुर्भाग्य।........"[४] अविवाहित तरुणियाँ भी काम-तृप्ति के लिए अपने मित्रों के साथ घूमा करती थीं। जैगीषव्य से शैलूषा का प्रेम था। वह उसके साथ ही घूमती थी।[५] विधवाओं को भी काम-तृप्ति के लिए यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार था, किन्तु गर्भ धारण करने के पश्चात् उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। किन्तु 'जनमेजय-अजातशत्रु' काल के अन्तिम चरणों तक यौन-सम्बन्धों पर भी कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

विवाह के कई रूप प्रचलित थे। अपहरण की प्रथा प्रायः समाप्त-सी होती जा रही थी। क्षुद्रक आदि गणों में इस प्रवृत्ति का पूर्ण लोप नहीं हो पाया था। "कभी-कभी इनमें आपस में बजती थी और एक दूसरे के पशु और स्त्रियों को ये लोग छीन लाते थे।"[६] अन्तर्जातीय विवाह का प्रायः लोप हो चुका था, केवल सवर्ण विवाह को ही सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। बर्बरिका के विवाह-सम्बन्धी प्रस्ताव को ठुकराते हुए दुलिदूह ने कहा "तू मेरे गण की नहीं है। सब स्त्रियाँ तुझसे घृणा करेंगी।"[७] अधिकांश विवाह पिता की इच्छाओं के अनुकूल ही हुआ करते थे, किन्तु स्वयंबर की प्रथा भी प्रचलित थी। इन्द्र के निवेदन पर आग्रेय शासक अग्रसेन ने कहा-"यह तो स्वयवर है, जिसे कुमारी माधवी चाहेगी, उसी को तो वरमाला डालेगी। सनातन की परम्परा है कि कन्या को अपना पति चुनने का स्वतंत्र अधिकार है।"[८] इसी काल में ही सर्वप्रथम हमें दहेज का रूप दिखायी पड़ता है, जिसकी परंपरा आज तक अनवरत गति से चली आ रही है। कुशास्तम्बा विधवा होने के पश्चात् देवर से विवाह न कर सकी, क्योंकि देवर अपनी पत्नी से भयभीत था। "उसकी स्त्री धनी की पुत्री थी। जो जमीन उसके पास इतनी आयी थी, वह ससुर की दी हुई दहेज में आयी थी।"[९] बहु विवाह का रूप भी प्रचलित था, क्योंकि सम्राट बिंबिसार की कई रानियाँ थीं। 'जनमेजय-अजातशत्रु' युग भारतीय दासप्रथा के क्रमशः समाप्त होने का युग है। इस युग के प्रथम चरण में दासों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उनके साथ अमानवीय बर्ताव किया जाता था। ब्राह्मण नमोद ने विलंब से आये हुए दास कण्डीरक पर कुल्हाड़े से प्रहार किया और अन्य दासों से कहा "तेरे बैल पर मेरा अधिकार है। निकालो इसे, फिर कण्डीरक को उठा ले जाओ। यदि वह जीवित रह जाये तो मैं इसे क्षमा कर दूँगा अन्यथा इसे जला देना।"[१०] तत्पश्चात् भारतीय समाज में दार्शनिक चिन्तन को अधिक सम्मान

---

१ वही, पृ० ८९।
२ वही, पृ० १८०।
३ वही, पृ० ६।
४ वही, पृ० ३५।
५ रैन और चंदा, पृ० २१।
६ वही, पृ० ११।
७ वही, पृ० २५।
८ वही, पृ० १०।
९ वही पृ० ३३।
१० वही पृ० ३८।

कथा-साहित्य का सुन्दर सामंजस्य किया गया है। इस 'महायात्रा' में लेखक ने मानव-सभ्यता के क्रमिक विकास को इस क्रम में व्यक्त किया है, जो ज्ञानवर्धक भी है और आनन्ददायक भी।

महायात्रा : रैन और चंदा

डॉ० रांगेय राघव ने 'महायात्रा - गाथा' गाथा को दो भागों में विभाजित कर मानव-सभ्यता के विकास को आकलित किया है। प्रथम भाग 'अँधेरा रास्ता' में प्रागैतिहासिक काल से लेकर १५०० ई० पू० तक की मानव-विकास की गाथा अंकित है और भाग दो 'रैन और चंदा' में १५०० ई० पू० से लेकर १२०० ई० तक की गाथा वर्णित है। लेखक ने इस महायात्रा को भी तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड 'चंदा उगने लगा' १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक अर्थात् जनमेजय से अजातशत्रु से लेकर हर्षवर्द्धन तक और तीसरा खण्ड 'चाँदनी कुम्हलाने लगी' ७०० ई० से १२०० ई० तक अर्थात् हर्षवर्द्धन से लेकर पृथ्वीराज चौहान तक की विकास-यात्रा का वर्णन है। लेखक ने प्रत्येक खण्ड को गाथाओं के रूप में विभाजित कर दिया है, जिससे विकास-क्रम की विशेषताएँ सरलता से स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम खण्ड में छः गाथाएँ और द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में क्रमशः दस और छः गाथाएँ है। इन गाथाओं के कारण यह ग्रंथ इतिहास न होकर कथा-साहित्य का अंग बन गया है। इस महायात्रा में डॉ० रांगेय राघव ने भारतीय संस्कृति को सामने रखकर सामतीय व्यवस्था का निरीक्षण किया है। "प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने भारतीय मध्यकाल के विषय में लिखा है। उसका क्रमशः प्रारंभ और उन्नति तथा अन्त में उसका क्रमशः पतन मैंने इसमे दिखाया है। उत्थान और पतन मैंने इस दृष्टिकोण से लिए है कि जनता को सामंत वर्ग से किस समय क्या लाभ और क्या हानि हुई। सामंत वर्ग और जनता के इस संबध को मैंने चन्द्रमा से तुलना करके रखा है। पहले चंद्रमा धीरे-धीरे निकलता है और फिर खूब प्रकाश फैलाता है, किन्तु फिर चाँदनी कुम्हलाने लगती है।"[1]

डॉ० रांगेय राघव ने 'रैन और चंदा' में सामाजिक विकास-क्रम को ऐतिहासिक सन्दर्भो में अंकित किया है। काल-गति के साथ ही समाज बनते और बिगड़ते गये, किन्तु इनके उत्थान और पतन के बीच से ही सभ्यता की रेखा आगे बढ़ी है। 'मांधाता-जनमेजय' युग के अन्तिम चरण में आर्यो और अनार्यों के बीच की वैमनस्य की खाई प्रायः पट चुकी थी और 'जनमेजय-अजातशत्रु' युग के प्रथम चरण में ही आर्य-अनार्य परस्पर मिलने लगे। आर्य 'ऋषि' के साथ ही अनार्यों के 'मुनि' का भी आदर करने लगे। "वास्तव में यह समय भारतीय दास-प्रथा के क्रमशः समाप्त होने का युग है। यही सामंतीय व्यवस्था के उदय होने का लंबा संघर्ष काल है। भारत में जो विचित्र वर्ण-व्यवस्था पायी जाती है, उसके विकास का यही समय है।"[2] द्वापर युग के पश्चात् वर्ण-व्यवस्था अधिक जटिल हो गयी और उनके बीच सामाजिक मर्यादा की दीवाल खड़ी कर दी गयी। "पहले जो ब्राह्मण और क्षत्रिय शूद्रों के हाथ का खाते थे अब धीरे-धीरे छोड़ते जा रहे थे।"[3] ब्राह्मण अपने पाण्डित्य के कारण अन्य वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे। किन्तु १२०० ई० पू० के पश्चात् क्षत्रियों में भी दार्शनिकता प्रकट होने लगी। प्रवाहण जैबलि क्षत्रिय राजा अपने समय का सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक था। तत्कालीन प्रसिद्ध ब्राह्मण दार्शनिक गौतम आरुणि उद्दालक भी दार्शनिक-विवेचन के हेतु क्षत्रिय दार्शनिक जैबलि के पास गया था और जैबलि की विद्वता से प्रभावित होकर उसने मन में कहा-"ब्राह्मण की मर्यादा को क्षत्रिय शिथिल कर रहे हैं। तप को वे यज्ञ से श्रेष्ठ मानने लगे है।"[4] क्षत्रियों का ब्राह्मण-विरोध ही कालान्तर में जैन और बौद्ध चिन्तन के रूप में प्रकट हुआ। जैन चिन्तन ने मांसाहारी ऋषि (भोगपरक चिन्तन) के स्थान पर वैराग्यपरक चिन्तन को प्राधान्य दिया। ब्राह्मण और क्षत्रियों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए वृद्ध अयास्य ने राजा अश्वपति से कहा-"राजा! पहले युग में यह एक ब्राह्मण वर्ण ही था। ... उसने कल्याण रूप क्षत्रिय रचा। देवों में जितने रक्षक हैं, वे क्षत्र हैं।......यही कारण है कि क्षत्रिय के कर्म से श्रेष्ठ कुछ है ही नहीं। तभी तो राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की आराधना करता है। राजसूय में क्षत्रिय का पद ब्राह्मण से ऊँचा होता है क्योंकि वह रक्षा करता है।"[5] कालान्तर में पुनः ब्राह्मण और क्षत्रियों में सामाजिक मर्यादा की उच्चता के लिए संघर्ष छिड़ गया। लम्बी अवधि के संघर्ष के परिणामस्वरूप वैश्यों और शूद्रों की स्थिति अधिक सबल हो गयी। लगभग १००० ई० पू० वैश्य शासक

---

१. रैन और चंदा, भाग २, भूमिका।
२. वही, पृ० ४।
३. वही, पृ० ४७।
४. रैन और चन्दा, पृ० ५४।
५. वही, पृ० ४९।

अग्रसेन ने क्षत्रियों से सत्ता छीन ली। "आग्रयों का उत्थान वैश्यों के उत्थान का इतिहास है जिसने ब्राह्मण और क्षत्रिय उच्चता पर प्रहार किया था। आग्रेय गण का नेता, गण की व्यवस्थानुकूल, संभवतः गोत्रापत्य होता था, जो महाराज भी कहलाता था।"[१] बर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के आगमन के साथ ही समाज में महान् परिवर्तन परिलक्षित होता है। समाज में मानवतावादी दृष्टिकोणों की व्यापकता के कारण निम्न जातियों को प्रगति करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो गया और वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी करने लगे। जैन और बौद्ध दोनों धर्मों ने वैश्यों एवं दासों को स्वीकार किया। "बुद्ध का धर्म दासप्रथा का अधिक रक्षक था······जैन धर्म वैश्यों के उत्थान का प्रतीक था।"[२] किन्तु उस समय भी समाज में आंतरिक वर्ण-संघर्ष चल रहा था।

'जनमेजय-अजातशत्रु' काल के प्रथम चरण में ही नारियों की परतंत्रता हमें परिलक्षित होने लगती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पूर्ण प्रचलन के कारण नारियों की सामाजिक मर्यादा भी प्रायः लुप्त होती जा रही थी, किन्तु ऐसी स्थिति में भी यौन सम्बन्ध पर जटिल प्रतिबन्ध नहीं लग पाया था। विवाहिता नारियाँ भी निःसन्तान होने पर पुत्र-हेतु परपुरुष से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकती थीं। विवाहिता रोहिता वेत्रक की शारीरिक शक्ति से आकर्षित हो गयी और "दूसरी ही रात वेत्रक नाव में सोया था कि मन्दक की स्त्री रोहिता चुपचाप आ गयी और बोली- मुझे गर्भ धारण करो।"[३] इसी प्रकार गौतमी का पति ब्राह्मण नमोद ने नाग से कहा- "नियोग से भी पुत्र उत्पन्न कराने की चेष्टा की, किन्तु दुर्भाग्य।........"[४] अविवाहित तरुणियाँ भी काम-तृप्ति के लिए अपने मित्रों के साथ घूमा करती थीं। जैगीषव्य से शैलूषा का प्रेम था। वह उसके साथ ही घूमती थी।[५] विधवाओं को भी काम-तृप्ति के लिए यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार था, किन्तु गर्भ धारण करने के पश्चात् उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। किन्तु 'जनमेजय-अजातशत्रु' काल के अन्तिम चरणों तक यौन-सम्बन्धों पर भी कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

विवाह के कई रूप प्रचलित थे। अपहरण की प्रथा प्रायः समाप्त-सी होती जा रही थी। क्षुद्रक आदि गणों में इस प्रवृत्ति का पूर्ण लोप नहीं हो पाया था। "कभी-कभी इनमें आपस में बजती थी और एक दूसरे के पशु और स्त्रियों को ये लोग छीन लाते थे।"[६] अन्तर्जातीय विवाह का प्रायः लोप हो चुका था, केवल सवर्ण विवाह को ही सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। बर्बरिका के विवाह-सम्बन्धी प्रस्ताव को ठुकराते हुए दुलिदूह ने कहा-"तू मेरे गण की नहीं है। सब स्त्रियाँ तुझसे घृणा करेंगी।"[७] अधिकांश विवाह पिता की इच्छाओं के अनुकूल ही हुआ करते थे, किन्तु स्वयंबर की प्रथा भी प्रचलित थी। इन्द्र के निवेदन पर आग्रेय शासक अग्रसेन ने कहा-"यह तो स्वयंवर है, जिसे कुमारी माधवी चाहेगी, उसी को तो वरमाला डालेगी। सनातन की परम्परा है कि कन्या को अपना पति चुनने का स्वतंत्र अधिकार है।"[८] इसी काल में ही सर्वप्रथम हमें दहेज का रूप दिखायी पड़ता है जिसकी परंपरा आज तक अनवरत गति से चली आ रही है। कुशसम्बा विधवा होने के पश्चात् देवर से विवाह न कर सकी, क्योंकि देवर अपनी पत्नी से भयभीत था। "उसकी स्त्री धनी की पुत्री थी। जो जमीन उसके पास इतनी आयी थी, वह ससुर की दी हुई दहेज में आयी थी।"[९] बहु विवाह का रूप भी प्रचलित था, क्योंकि सम्राट बिंबिसार की कई रानियाँ थीं।'जनमेजय-अजातशत्रु' युग भारतीय दासप्रथा के क्रमशः समाप्त होने का युग है। इस युग के प्रथम चरण में दासों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उनके साथ अमानवीय बर्ताव किया जाता था। ब्राह्मण नमोद ने विलंब से आये हुए दास कण्डीरक पर कुल्हाड़े से प्रहार किया और अन्य दासों से कहा "तेरे बैल पर मेरा अधिकार है। निकालो इसे, फिर कण्डीरक को उठा ले जाओ। यदि वह जीवित रह जाये तो मैं इसे क्षमा कर दूँगा अन्यथा इसे जला देना।"[१०] तत्पश्चात् भारतीय समाज में दार्शनिक चिन्तन को अधिक सम्मान

---

१ वही, पृ० ८९।
२ वही, पृ० १८०।
३ वही, पृ० ६।
४ वही, पृ० ३५।
५ रैन और चंदा, पृ० २१।
६ वही, पृ० ११।
७ वही, पृ० २५।
८ वही, पृ० १०।
९ वही पृ० ३३।
१० वही पृ० ३८।

मिला। इस दार्शनिक चिंतन के कारण दासों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ और जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के प्रभुत्व के कारण इस प्रथा का प्रायः लोप हो गया।

इस प्रगतिशील समाज में भी अंधविश्वासों का अस्तित्व पूर्ववत् ही बना रहा। देवी-देवता, जादू-टोना एवं मंत्रों में लोगों की पूर्ण आस्था थी। पत्नी की रहस्यमयी मृत्यु के पश्चात् भोजक ने कहा-"··· एक स्त्री पर एक देवता आया करता था। वह मनचाहे परिचित का रूप धारण करके उस स्त्री के पास आता था। एक दिन उसके पति ने देवता को पकड़ना चाहा। देवता ने उसको कुचल कर मार डाला···।"[१] ब्राह्मण नमोट की बहन कुशस्तंबा विधवा होने के पश्चात् एक वैश्य से मांसल सम्बन्ध स्थापित करती हुई पकड़ी गयी, जिसके कारण ब्राह्मणों ने यह निश्चय किया कि गर्भवती होने के पश्चात् ही उसे बहिष्कृत किया जा सकेगा। कुशस्तंबा की ईर्ष्यालु देवरानी "मांत्रिकों की शरण में गयी कि किसी भी प्रकार गर्भ रह जाये। उसने लौंग के आँख-कान आटे के पुतले में गड़ाकर उस मार्ग में गाड़े जहाँ से दस बार से अधिक बार कुशस्तंबा दिन भर में निकलती थी।"[२] भारत के अधिकांश भागों में आज भी यह 'टोटका' उसी रूप में विद्यमान है।

'अजातशत्रु-हर्षवर्द्धन' काल भारतीय सामंतीय व्यवस्था का पूर्वकाल है। इस अवधि में प्रगति की चाँदनी फैल रही थी। "चंदा हिन्दू संस्कृति का धार्मिक रूप नहीं, वरन् भारतीय जनता का कल्याण है और जनता के दृष्टिकोण को सामने रख कर सामंतीय व्यवस्था का निरीक्षण है।"[३] 'जनमेजय-अजातशत्रु' काल में दार्शनिक विवेचन को इतना अधिक महत्व मिल गया कि इस युग के उत्तरकाल में वर्ण-व्यवस्था लड़खड़ाने लगी। इसके परिणामस्वरूप शूद्रों का अधिक उत्थान हुआ और मगध में शूद्र नंद शासक हो गया। नंद वंश के पतन के पश्चात् भी शूद्रों के अधिकार को कोई धक्का न लग सका। सम्राट अशोक के समय में "निम्न जातियों के लोग सेना में खूब लिये जाते थे, अब यह केवल क्षत्रियों का अधिकार नहीं रह गया था।"[४] मौर्य-काल में ब्राह्मणों सहित सभी जातियों पर कर लगता था। परन्तु अब भी ब्राह्मणों को जो भूमि ब्रह्मदेव कह कर दी जाती थी, उस पर कर नहीं लगता था। मौर्य-वंश के पश्चात् गुप्त वैश्यों का ही शासन अधिक स्थायी रहा। इस काल के समाज में अन्तर्मुक्त का विशेष प्रचलन रहा। "ब्राह्मण ने यद्यपि अपने वेद की मर्यादा के रक्षित करने का घोर यत्न किया किन्तु उसने कई अनार्य जातियों के पुरोहित वर्गों को अपने में अन्तर्मुक्त कर लिया ··· आंध्र भृत्य, शातवाहन ब्राह्मण कहलाये, भारशिवनाग होकर भी ब्राह्मण कहलाये।"[५] इस अन्तर्मुक्ति की भीषण प्रक्रिया में अनेक विदेशी भी समाहित कर लिए गये, इनमें यवन, शक, कुषाण और पह्लव प्रमुख थे। इस अन्तर्मुक्ति में विभिन्न धर्मों का विशेष योग है। "··· कनिष्क जैसे बौद्ध शिव की पूजा करते थे और हेलियोदोरस जैसे यवन वैष्णव थे। ······ ब्राह्मण एक ओर स्मृतियाँ बनाने में वर्ण धर्म को जकड़ते थे, दूसरी ओर भागवत धर्म ब्राह्मणों को लचकीला बनाता चला जा रहा था।"[६] उत्तर भारत में चार प्रकार का वर्ण प्रचलित हो गया था, किन्तु चातुर्वर्ण्य दक्षिण भारत में पूर्णतया विकसित नहीं हुआ था। वहाँ आर्य-अनार्य-राक्षस-नाग का भेद पूर्णतया लुप्त हो चुका था।

इस काल में दास-प्रथा का एक परिवर्तित रूप मिलता है। दास-प्रथा उत्पादन के साधन के रूप में नहीं थी, अपितु घरेलू दास-प्रथा थी। "ऋण न चुकाने पर भी न धन चुका देने तक दास बनना पड़ता था।"[७] नीच कर्म करनेवाले दासों को भी अछूत माना गया और इस प्रकार जो अस्पृश्यता का रूप अब तक विद्यमान है, उसके बीज का वपन 'अजातशत्रु-हर्षवर्द्धन' काल में ही हुआ था। भारत के अतिरिक्त अन्य विदेशी जातियों में दास-प्रथा का जघन्य रूप प्रचलित था, जहाँ उन्हें पशुवत् माना जाता था। दार्शनिक दण्डमिस की बात चन्द्रगुप्त अलक्षेन्द्र से कहने लगा- "··· याद रखें कि यवन बर्बर हैं, उनके यहाँ मनुष्यों को दासों के रूप में पशुओं की भाँति खरीदा और बेचा जाता है। आर्यावर्त में ऐसा जघन्य अपराध नहीं होता।"[८] भारतवर्ष में केवल शूद्रनंद के राज्य में दासों के साथ अमानवीय व्यवहार होता था। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा-"दासियाँ नंगी करके पीटी जाती हैं।"[९]

---

१. रैन और चंदा, पृ० १७।

२. वही, पृ० ३३।

३. वही, भूमिका।

४. वही, पृ० २५५।

५. वही, पृ० ८५।

६. वही, पृ० ८६।

७. रैन और चंदा पृ० ४१५।

८. वही पृ० २२१।   ९. वही पृ० २३०।

इस काल में सामाजिक बन्धन अधिक सुदृढ़ हो गये थे। नारियों का यौन संबंध स्वतन्त्रता का युग समाप्त हो चुका था। नारियों की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। वसुमती अपनी सहेली की बात मालूचेट से कहने लगी- "न पूछ कि जीवन में मैंने कितने उतार-चढ़ाव देखे। परंतु स्त्री वास्तव में पुरुष का खिलौना है।" इस काल में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गयी थी। अधिकांश विवाह पिता की इच्छाओं के अनुकूल ही हुआ करते थे। कुछ जातियों में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। कठों के विषय में केशिनी ने चाणक्य से कहा- "जानती हूँ। मैंने सुना है कि वे जन्म के दो महीने बाद कुरूप और रोगी बच्चों को मार डालते है ताकि जाति में सुंदरता कम न हो। वहाँ अभी स्वयंवर प्रथा है, इच्छानुकूल स्त्री-पुरुष विवाह करते है और सबसे सुन्दर पुरुष और स्त्री को वे राजा-रानी बनाते है।"[1] बहुविवाह का प्रचलन था। राजाओं की अनेक रानियाँ हुआ करती थीं[2] अन्तर्जातीय[3] विवाह भी होते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य की पत्नी, सिल्यूकस की पुत्री हेलेना थी और सम्राट अशोक की माँ ब्राह्मणी थी। पर्दा नहीं होता था, परन्तु उच्च कुल की स्त्रियाँ मुख पर अवगुण्ठन-सा डाल लेती थीं। विधवा विवाह भी बहुत कम होता था। सती-प्रथा प्रचलित हो गयी थी। विधवा का देवर के साथ विवाह प्रायः मान्य था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी भाभी ध्रुवस्वामिनी के साथ विवाह किया था। लेखक ने नारियों की शिक्षादि के विषय में प्रकाश नहीं डाला है।

इस युग के विकसित समाज में भी लोगों का अंधविश्वास, जादू-टोना आदि में विश्वास था। कुछ तांत्रिकों के विषय में दक्षमित्रा ने अपने पति उषवदात से कहा: "वे जादू जानते थे। धरती में गड़ा धन बताने का करते थे। योगाभ्यास भी करते थे। उन्होंने कुछ प्रेतों को भी वश में कर लिया था।[4] पुनर्जन्म में लोगों का विश्वास था।

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् भारतीय सामाजिक स्थिति को एक नया मोड़ मिला, जो उसके विघटन की ओर उन्मुख था। गुप्तकाल में पुष्यभूति वंश तक के वैश्यों के उत्थान के कारण क्षत्रिय एवं ब्राह्मणों की सामाजिक मर्यादा को गहरा धक्का लगा था। इसलिए हर्ष के पश्चात् राजपूतों की शक्ति के साथ ही वर्ण-व्यवस्था अधिक जटिल हो गयी। उच्च वर्ण और निम्न वर्ण का भेद पुनः स्पष्ट होने लगा, किन्तु उत्तर और दक्षिण भारतकी जातियों की परिस्थितियों में महान् अन्तर था। उत्तर में ब्राह्मण और क्षत्रियों का एक ही स्रोत माना जाता था। अतः उनको समान रूप से उच्च वर्ण समझा जाता था। बाद में जब उत्तर भारत के क्षत्रिय वर्णों में नयी-नयी जातियाँ आकर अंतर्भुक्त हो गयीं तब भी उनको ऊँचा ही स्थान दिया गया। दक्षिण में ऐसा नहीं था। वहाँ आर्य ब्राह्मण और अनार्य ब्राह्मण तो परस्पर मिल गये, किन्तु बाकी जातियों को ऊँचा स्थान नहीं मिल सका।[5] दक्षिण में वर्ण-व्यवस्था उत्तर की अपेक्षा अधिक जटिल थी। कावेरी नदी के तट पर बैठा हुआ भक्त तिरुप्पान चमार कहता है-"नीच कर्म किये थे, इसलिए विधाता ने दण्ड देकर मुझे चमार बनाया है। मैं अस्पृश्य हूँ। पुरातन धर्म यही कहता है कि मैं नीच और जघन्य हूँ। ... और तो मुझे कोई दुःख नहीं, किन्तु इस चोले के कारण, इस जाति के कारण मुझे एक ही दुःख है कि मैं तुम्हारे दर्शन करने भीतर तक नहीं आ सकता।"[6] "इस युग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अतिरिक्त कुछ नयी जातियाँ भी समाज में प्रकट हुईं। मुहम्मद बिन कासिम को जाटों और व्यापारियों ने बताया कि "हिन्द में सात जातें है। शाकाशरी(क्षत्रिय) ही बादशाह होते है। ये लोग ऊँचे समझे जाते है, जो किसी को सिर नहीं झुकाते। दूसरे ब्राह्मण या बिरहमन, जिनकी बड़ी इज्जत है। ये शराब और नशे की चीजों का प्रयोग नहीं करते। तीसरे कस्तरी (खत्री) है जो तीन प्यालों तक पी लेते है, बिरहमन इनकी लड़की ले लेते है पर इन्हें देते नहीं। शूदर (शूद्र) खेती करते है। वैश (वैश्य) पेशे करते हैं। शन्दाल (चाण्डाल) ये खिलाडी और कलावंत हैं। इनकी औरतें खूबसूरत होती हैं। और डम्ब (डोम) गाते-बजाते हैं।"[7] अन्य वर्णों की अपेक्षा क्षत्रियों में अन्तर्भुक्ति अधिक हुई और आज भी अनेक क्षत्रियेतर सिंह लिखकर क्षत्रिय बनते जा रहे है। तत्कालीन

---

१ वही, पृ० ४३७।

२ वही, पृ० २३३।

३ रांगेय राघव ने गुप्तकाल के परिशिष्ट में अंतर्जातीय विवाह का वर्णन किया है, किन्तु कुछ इतिहासकारों ने इसका विरोध किया है।

४ रैन और चंदा, पृ० ४०५।

५ वही, पृ० ५११।

६ वही पृ० ५६३।

७ वही पृ० ५८८।

परिस्थितियों में गृह-कलह के कारण समाज का आर्थिक पक्ष टूटने लगा। भारतीय सामंत जनता के शोषक बन गये, क्योंकि उनका रक्षाकार्य शिथिल हो गया। विदेशी आक्रमणों से भी आर्थिक स्थिति को गहरा आघात पहुँचा, जिसके कारण समाज का विकास प्रायः कम हो गया।

'हर्षवर्द्धन-पृथ्वीराज' काल में नारियों की स्थिति अपने पूर्व काल की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद थी। उन्हें अधिक सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए। विवाह के क्षेत्र में स्वयंवर-प्रथा प्रचलित थी। दीन पुजारी की पुत्री के विवाह के सम्बन्ध में गोपाल ने पुजारी से एक धनी व्यक्ति की चर्चा करते हुए कहा-"आज मेरे पास नीलन आये थे।"

"नीलन !" वह आश्चर्य में पड़ गया।

"हाँ, वे ही! वे कन्या से पाणिग्रहण करना चाहते हैं।

तुम तत्पर हो?

"मै तैयार हूँ। परन्तु बेटी से भी पूछ लूँ?"[1]

संयोगिता का स्वयम्बर भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। 'सती' और 'जौहर' की भी प्रथा प्रचलित थी। जौहर की प्रथा प्रायः क्षत्रिय रानियों में प्रचलित थी। विधवा-विवाह लुप्त हो गया था। बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। राजा भोज और पृथ्वीराज की कई पत्नियाँ थीं। पर्दा-प्रथा के विषय में लेखक ने कोई संकेत नहीं किया है। शिक्षा की पूर्ण स्वतंत्रता नारियों को भी प्राप्त थी। मण्डन मिश्र की स्त्री उम्बा परम विदुषी थी और उसका नाम भारती के रूप में विख्यात था।"......उम्बा को लोग उभय भारती और शारदा भी कहते थे।"[2] उम्बा का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध विद्वान शंकराचार्य से हुआ था। इसके अतिरिक्त लड़कियाँ नृत्य-संगीत, वाद्य आदि कलाओं में निपुण हुआ करती थीं।

"हर्षवर्द्धन-पृथ्वीराज" युग में दास-प्रथा पूर्णतया लुप्त हो गयी थी। प्राचीन काल के दास खेतों पर काम करनेवाली नीच जातियों में बदल गये थे। समाज मे उनका स्तर शूद्रों का-सा हो गया था। इस जाति में भी निम्न कार्य करनेवाले चाण्डाल कहलाते थे। अलबेरूनी ने उनकी स्थिति व्यक्त की है।"..... गाँव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहते थे। गाँव के बाहर अंत्यज और चाण्डाल रहते थे।"[3] गुप्तकाल में प्रचलित अस्पृश्यता को इस युग में अधिक बल मिला।

डॉ० रांगेय राघव ने धर्म की व्याख्या तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में की है। युग-विशेष में प्रचलित विभिन्न धर्मो एवं संस्कृतियों को लेखक ने मानवीय हित के धरातल पर देखा है। "मैंने तो भारतीय जनता को सामने रखा है। जिस संस्कृति ने जहाँ जनता का लाभ किया है, मैंने उसे वहीं स्वीकार किया हे। संस्कृतियों से भी बड़ा सत्य मानव का कल्याण है। मानव से ऊपर कोई सत्य नहीं। यह सदियों पहले ही भारत में तय किया जा चुका है।"[4] लेखक ने अपने इस दृष्टिकोण का पालन 'महायात्रा' में आदि से अन्त तक बड़ी सतर्कता से किया है।

'जनमेजय-अजातशत्रु' काल के प्रथम चरण में विभिन्न जातियों में देवताओं की अंतर्भुक्ति स्पष्ट द्रष्टव्य है। अंतर्भुक्ति में देवता और उनकी आराधना एक समाज से दूसरे समाज में चली जाती है। झिल्लिका की हत्या के रहस्य के खुल जाने पर जारूथ ने कहा-"विदेशी! तेरा देवता कौन है?" 'नारायण!'

मैं निषाद हूँ। आर्य नहीं हूँ। क्या नारायण मेरा देवता है?

वृद्ध ने कहा : "नारायण सबका देवता है पुत्र। वह जाति नहीं देखता। वह तो सब मनुष्यों को समान दृष्टि मे देखता है। वह उनका है जो हिंसा नहीं करते।"

जारूथ ने उसके चरणों पर झुक कर कहा- "मैं उसकी पूजा कैसे करूँगा देव।"

वृद्ध ने कहा: "वत्स! नारायण की पूजा उनके स्मरण में ही है।" जारूथ ने धीरे से कहा : 'नारायण।'[5]

देवताओं का विकास समाज के विकास के साथ होता रहा और जातियों की अंतर्भुक्ति ने नये-नये देवताओं का सृजन किया। प्रारम्भ में देवताओं के आधार पर भीषण-रक्तपात हुआ, किन्तु कालान्तर में संधि होती रही। आज के इस वैज्ञानिक युग में भी यह परंपरा जीवित है। कठोपनिषद् काल के पश्चात् धार्मिक क्षेत्र में दर्शन

---

१. रैन और चंदा, पृ० ५५३।
२. वही, पृ० ६०८।
३. वही, पृ० ६३१।
४. महायात्रा (रैन और चंदा), भूमिका।
५. महायात्रा (रैन और चंदा)- पृ० ११।

का विशेष योग होने लगा जिसके कारण विभिन्न जातियों के देवता एक-दूसरे के निकट आने लगे। इस काल में ही 'उत्तर-पश्चिम भारत से लेकर पूर्व तक नाग और गरुड़ जातियाँ वैष्णव होती जा रही थीं। परस्पर सब जातियाँ एक-दूसरे के देवताओं की उपासना करती थीं। अनार्य्य ब्राह्मणों में शिव और विष्णु का प्रभाव बढ़ रहा था। धीरे-धीरे यह विश्वास समाज मे बढ़ता जा रहा था कि मूलतः मनुष्य समान था, क्योंकि सबके भीतर एक ही भी आत्मा थी।'[१] गौतम बुद्ध के समय तक "गण के क्षत्रिय भी अनार्य देवता गंधर्व, यक्ष, नाग इत्यादि की उपासना करते थे। इन्द्र की पूजा भी इन क्षत्रियों में प्रचलित थी। किंतु यह क्षत्रिय अभी तक शिव और विष्णु से दूर थे जिनको कि ब्राह्मणों ने एकतंत्रों में स्वीकार कर लिया था। बल्कि एक प्रकार से इनकी उपासना ही ब्राह्मण धर्म का नया रूप थी।'[२] ब्राह्मणधर्म की प्रतिक्रिया-स्वरूप बौद्धधर्म का अभ्युदय हुआ और इसे राजाश्रय भी प्राप्त हो गया। जैन धर्म का इतिहास बौद्धधर्म से नितांत भिन्न है क्योंकि जैनधर्म वैदिककाल और कृष्णयुग से अबाध गति से चला आ रहा था। यद्यपि जैनधर्म से भी ब्राह्मणधर्म को धक्का लगा। "ब्राह्मण धर्म को सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के जैन धर्म को स्वीकार कर लेने से अवश्य धक्का लगा था। किन्तु उस समय तक कट्टर ब्राह्मण धर्मी लोग विष्णु की उपासना को महत्व नहीं देते थे, वे वैदिक कर्मकाण्ड को ही प्रधानता देते थे।'[३] धीरे धीरे बौद्ध धर्म अत्यन्त व्यापक हो गया और भारत के बाहर फैलने लगा एवं उसका दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय हो गया। उसकी दृष्टि में भारतीय संस्कृति और देश का मूल्य नहीं रहा, मुख्य उद्देश्य सद्धर्म की रक्षा हो गया। सम्राट पुष्यमित्र से एक बौद्ध भिक्षु ने कहा- "स्वदेश और विदेश केवल ब्राह्मण और जैन करते है। क्योंकि ब्राह्मण और जैनदर्शन एक कूपमण्डूकता के दर्शन हैं। वे सत्य का प्रकाश नहीं झेल सकते। ···राष्ट्र की सीमाएँ युद्ध का कारण बनती हैं और हिंसा को आश्रय मिलता है। ·· ब्राह्मण और जैन केवल भरतखण्ड के अंधविश्वासों के दर्शन हैं, तभी जैन कहते है कि देशाटन भी व्यर्थ है। पाटलिपुत्र और शुंग साम्राज्य में ही मनुष्य का अन्त नहीं हो जाता। महाचीन, बाख्त्री, मिस्र, यूनान और पश्चिम में भी मनुष्य हैं।"[४] किन्तु कालान्तर में बौद्धधर्म विलासिता का केन्द्र बन गया। बौद्ध भिक्षु वज्रभद्र, बौद्ध भिक्षुणी कुसुमा के साथ काम सम्बन्धी बातें करता है, तो वह क्रोधित होकर कहती है : "किन्तु अब मै भिक्षुणी हूँ।"

"मैं भी तो भिक्षु हूँ········।"

"उस सब को छोड़ दो। अब वह सब दूर हुआ।"

"छोड़ दूँ? मै तुम्हें प्यार करता हूँ सुन्दरी? कह कर उसने अन्धकार में भिक्षुणी को बाहुओं में कस लिया।"[५] इससे भी बढ़कर बौद्धधर्म में व्याप्त विलासिता का परिचय तब मिलता है, जब वज्रभद्र कहता है-"मैंने तो देखा है कि कुछ यवन और गांधार के भिक्षु पुरुष और पुरुष ही परस्पर काम-पिपासा को तृप्त कर लेते हैं, किसी को पता भी नहीं चलता।"[६] हर्ष के समय में भी बौद्ध धर्म में विलासिता अपनी चरम सीमा पर थी। धीरे धीरे बौद्ध धर्म राजनीति का अखाड़ा बन गया। संघस्थविर का प्रधान सम्राटों से सहायता लेता था और अन्य अधीन संघस्थविरों के माध्यम से वह विदेशी सम्राटों से भी सम्बन्ध रखता था। "वह प्रायः ही उन विदेशियों का भारत पर राज्य पसंद करता था, जो उसके संघ के स्वार्थ का पोषण कर सकें। इसलिए वह उन्हें सहायता भी देता था। उनसे सहायता भी लेता था।"[७]

गुप्त-काल में आकर विभिन्न धर्मों में समन्वय स्थापित हुआ। इतिहास में प्रथम बार ब्राह्मण और बौद्ध कुछ दिन के लिए मिले थे। सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय से मंत्री मृद्गल ने कहा, 'विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त का साम्राज्य तो और भी बड़ा है।·····चन्द्रगुप्त ने ही भारत में अखण्ड ऐक्य स्थापित किया है। वह स्वयं वैष्णव है। उसका मंत्री शैव है, उसका सेनापति बौद्ध है।'[८]

गुप्त-साम्राज्य के पश्चात् विभिन्न धर्मों में पुनः विखराव शुरू हो गया और हर्ष के बाद यह विखराव

---

१ वही, पृ० ७३।
२ वही, पृ० १२१।
३ वही, पृ० २५३।
४ महायात्रा (रैन और चंदा), पृ० ३६७।
५ वही, पृ० ३७०।
६ वही, पृ० ३७०।
७ वही पृ० ७८१।
८ वही पृ० ४५१।

वैमनस्य के रूप में परिणत हो गया। जिस समय सिंध ब्राह्मणों और बौद्धों के संघर्ष से पीड़ित था। उसी समय मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण हुआ और बौद्धों ने उसका स्वागत किया, जिसके कारण सिंध विदेशियों के हाथ में चला गया। इसके पश्चात् इस्लाम का प्रचार करने वाले अनेक फकीर भारतवर्ष में घुस आये और विदेशियों के आक्रमण के समय उन्होंने उनकी सहायता की।"इसी प्रकार ईसाई भी पहले पादरी भेजते थे, पीछे राज्य स्थापित करते थे। जिस प्रकार ईसाइयों को मुसलमान शासकों ने दया करके पनपने दिया और आस्तीन में साँपों को पाला, इसी प्रकार एक समय मुसलमानों को हिंदू राजाओं ने पाला था।[१]" इस्लाम के अनुयायी विजेताओं ने बौद्ध के विहारों को लूटना शुरू कर दिया, जिसके कारण बौद्ध संघों का विनाश शुरू हो गया और इस्लाम धर्म द्रुत गति से बढ़ने लगा। ऐसी विकट परिस्थिति में शंकराचार्यजी ने ब्राह्मण-धर्म को अधिक लचीला बना दिया, जिसके कारण इस धर्म में अन्य धर्मों को आत्मसात कर लेने की क्षमता आ गयी और उन्होंने व्यापक अन्तर्मुक्ति का मार्ग खोल दिया। "अन्तर्मुक्ति करने वाले इस समाज के दार्शनिक नेता ने भारतीय संस्कृति को एक पुनरूत्थानवादी दृष्टिकोण दिया और उस पुनरूत्थान में अनेक नये परिवर्तन भी किये। भारत की सांस्कृतिक एकता को नया रूप दिया।"[२] इनके प्रयास के पश्चात् देश के अधिकांश भाग में वैष्णव-धर्म फैल गया। अलबरूनी ने लिखा है-"बातों-बातों में ब्राह्मणों से मुझे पता चला कि भारतीय सबसे अधिक पूजा विष्णु की करते थे। शिव, शक्ति, सूर्य, ब्रह्म, इन्द्र, अग्नि, स्कंद, गणेश, यम, कुबेर आदि की भी पूजा करते थे। बंगाल में शक्ति बहुत थे, गुजरात में जैन, राजस्थान में वैष्णव और शैव थे"[३] इसके पश्चात् अनेक आचार्यों के प्रयासों के कारण पुनः धार्मिक परिस्थितियों को स्थिरता प्राप्त हुई।

अश्वमेध यज्ञ की परम्परा अति प्राचीनकाल से प्रचलित थी। सर्वप्रथम यज्ञों का आधार आर्थिक और राजनीतिक पक्ष था, किन्तु कालान्तर में वह मान्यता धार्मिक रीति-रिवाज बन कर रह गयी। आज भी धर्म के सदर्भ में ही यज्ञ होते है।

'महायात्रा : रैन और चंदा' मनुष्य की सभ्यता के विकास की एक ऐतिहासिक गाथा है, इसमें राजनीतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति पर्याप्त तीव्रता से अंकित है। 'अँधेरा रास्ता' की अपेक्षा इस महायात्रा में राजनीतिक परिस्थितियाँ अधिक सशक्त एवं उभरी हुई है क्योंकि इसमें ऐतिहासिकता को अधिक प्रधानता मिली है। किन्तु किसी भी स्थल पर इन परिस्थितियों के प्रति लेखक का अतिरिक्त आग्रह नहीं है, अपितु ये परिस्थितियाँ ऐतिहासिक विकास-क्रम को सर्वांगीण बनाने में सहायक सिद्ध हुई है। लेखक ने राजनीतिक परिस्थितियों के विषय में लिखा है "मैंने धर्म के रूपों को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना राजनीतिक जीवन को। क्योंकि धर्म की व्याख्या मूलतः तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में है।"[४] 'जनमेजय-अजातशत्रु' काल के प्रथम चरण में ग्राम-शासन का रूप मिलता है। ग्राम का प्रबन्ध प्रायः वृद्धों के हाथ में था और वे अपराधी को घोर दण्ड भी दे सकते थे। रोहिता के सम्बन्धों को गुप्त रखने के लिए वेत्रक ने जारुथ की पत्नी झिल्लिका का विरोध किया क्योंकि "वह ईर्ष्यालु स्त्री ठहरी। यदि वह चुप न होगी तो वह शीघ्र ही सारे पड़ोस में सूचना दे देगी और वेत्रक का पथ बंद हो जायेगा। हो सकता है वृद्ध क्रोधित न हो जायें और उसके हाथ-पाँव काट कर उसे पथ पर पटक दिया जाये।"[५] सामंतीय व्यवस्था के उदयकाल होने के कारण शासन में अनेक त्रुटियाँ व्याप्त थीं। कई ग्रामों का शासक ग्राम-प्रबन्धक कहलाता था। ग्राम-प्रबन्धक भोजक के विषय में बल्लव ने सुना कि "वह किसी की शीघ्र नहीं सुनता था और बेगार भी लेता था। विरोध करने पर कोड़े लगवाता था। सिवाय ब्राह्मण, क्षत्रिय और उच्चकुलीन धनी लोगों के चाहे जिसकी स्त्री को पकड़वा मँगाता था और उसे भोग लेता था। उसके सामने बोलने का साहस नहीं होता था।"[६] इसके पश्चात् सामंतीय व्यवस्था के विकास के साथ ही राजनीतिक परिस्थितियों में स्थिरता आने लगी और अजातशत्रु के समय तक पूर्ण स्थिरता आ गयी। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन के साथ राजनीतिक गतिविधियों को एक नया मोड़ मिला। "साम्राज्य का विधान आर्य चाणक्य द्वारा निर्मित हुआ था। शासन का प्रधान सम्राट् था। किंतु वह देवता नहीं, मनुष्य माना जाता था। उसे लोग देवताओं का प्रिय मानते

---

१ महायात्रा : रैन और चंदा, ५२४।

२ वही, पृ० ६२०।

३ वही, पृ० ६३१।

४ वही. भूमिका।

५ वही पृ० ७

६ महायात्रा (रैन और चंदा) पृ० १३

थे। प्रजा राजा को अपना पिता मानती थी। राजा प्रजा को अपनी संतान। पहले राजा प्रजा से केवल बल से कर लेता था और मनमानी करता था, किन्तु अब लोग कहते थे कि प्राचीन काल में प्रजा ने राजा को कर देकर अपनी रक्षा के लिए बलवान बनाया था। तब समितियाँ राजा का नियंत्रण करती थीं। अब भी राजा को वही होना चाहिए और राजा सचमुच वैसा ही था।"[1] चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् अशोक का समय विशेष महत्वपूर्ण है। इनके समय में राजनीति और धर्म का संयोजन किया गया। मौर्य-साम्राज्य के बाद गुप्तकाल तक का युग कुछ अंधकारमय है। इस युग के अन्तराल में सातवाहन शासक शातकर्णि ने शकों को पराजित कर विक्रम संवत चलाया।" विक्रम संवत् के प्रारम्भ को लेकर भीषण जयजयकार प्रारम्भ हो गया था। शकारि विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि की जयजयकार से धरती फट रही थी।"[2] सातवाहन के पश्चात् कनिष्क का शासन अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रहा, किन्तु कनिष्क ने बौद्धधर्म की आड़ में निरन्तर राज्यविस्तार की चेष्टा की, जिससे राज्य में अशांति छा गयी। अन्त में मागध कनिष्क को कैद कर चिल्लाये "हम युद्ध नहीं चाहते, हमें शांति चाहिए। हमारा सारा जीवन रणभूमि में बीत गया पर ओ रक्त के प्यासे भेड़िये, तेरी प्यास नहीं बुझी। तू बौद्ध नहीं है बर्बर। तू बधिक है। तू ने हमारे हाथ से निरपराधों की हत्या करायी है।"[3] कनिष्क के उत्तराधिकारी हुविष्क के समय में ही साम्राज्य बिखरने लगा। पुनः राजनैतिक स्थिरता गुप्तकाल में आ गयी। गुप्त-साम्राज्य का समय भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण युग' माना जाता है। गुप्त-साम्राज्य के प्रसिद्ध सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त हुए हैं। "गुप्तकाल में १८ प्रकार के कर लगते थे। भूमिकर प्रधान था। किन्तु कर नाज के रूप में लिया जाता था। इस प्रकार कम पैदावार के समय में कृषकों पर अत्याचार नहीं होता था। सामंतीय जीवन का चरमोत्कर्ष गुप्तकाल में हुआ।"[4] हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के पश्चात् सामंतों का अत्याचार प्रजा पर अत्यधिक बढ़ने लगा। राजनैतिक अखण्डता लड़खड़ाने लगी और अनेक राजवंश उठ खड़े हुए, जिनमें ये प्रमुख हैं-"कन्नौज के प्रतिहार तथा गहड़वाल वंश, चंदेल तथा कल्चुरी राजवंश, हैहय वंश, पाल तथा सेन वंश, काश्मीर के करकोट और उत्पल, परमार, चालुक्य और चौहान वंश। इन राज्यों के आपसी वैमनस्य के कारण राजनैतिक जीवन अशान्त हो उठा और विदेशी आक्रमणों से छिन्न भिन्न हो गया। महमूद के आक्रमण ने राजनैतिक क्षेत्र में हलचल मचा दी। राजपूतों की विलासिता अपनी पराकाष्ठा पर थी। दिल्ली का सम्राट पृथ्वीराज चौहान संयोगिता से विवाह करने के पश्चात् गोरी के आक्रमण को भूलकर विलासिता में डूब गया। गीतों और नृत्यों में रातें दीपकों की शिखाओं पर झूल जातीं, दिन फूलों की गंध में गमकते बह जाते। रंगीदार मोतियों की लड़ियाँ चाँदनी में पिघल-सी जातीं और धूप की झलक फव्वारों में निहार लेने लगती। ऐसा था उन्मत्त उन्माद, मदिरा के झनकते प्याले, झीने-घूंघट वाली कामिनियों की पतली कलाइयों पर झूलती-सी लटें ... भरी हो गईं पर आँखें न थकीं, उँगलियाँ सकुच गयीं पर स्पर्श न बुझा, राजा रानी हो गया, रानी राजा हो गयी।" "इसके परिणामस्वरूप चौहान शासन का पतन हो गया और देश विदेशियों के हाथ में चला गया।" इस युग में भारतीय सामंतीय व्यवस्था धीरे-धीरे बिल्कुल ही जर्जर होती जाती है और किसान तथा कमकर वर्ग बहुत अधिक पिसता है। शासक वर्ग-सामंतीय वर्ग-अत्यन्त शोषण करता है और अपने शोषण की वास्तविकता को छिपाये रखने के लिए उसे इस्लाम की रक्षा का नाम देता है।[6]

पात्र

'महायात्रा : रैन और चन्दा' में लेखक ने मानवीय सभ्यता के विकास को ऐतिहासिक संदर्भों में आकलित किया है। इसलिए लेखक ने व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व दिया है। समाज मूलतः व्यक्ति की अधिकतम आत्मोपलब्धि और आत्माभिव्यक्ति का ही साधन है, मनुष्य की समस्याएँ इसके साथ जुड़ी हैं। लेखक ने युगानुकूल ही पात्रों का परिचय दिया है और कार्यों का मूल्यांकन आधुनिक संदर्भ में किया है।

विशालकाय महायात्रा के पात्रों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-प्रथम श्रेणी में प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र आते हैं और दूसरी श्रेणी के पात्र इतिहास-सम्मत न होकर लेखक की कल्पना-शक्ति तथा

---

१ वही, पृ० २५४।

२ वही, पृ० ४११।

३ वही, पृ० ४४१।

४ वही, पृ० ४९५।

५ ... रैन और चंदा) पृ ७१८

६ वही पृ० १३३

औपन्यासिक प्रतिभा के परिणाम है। प्रथम कथा के काल्पनिक पात्र जारुथ, वेत्रक, भोजक आदि का व्यक्तित्व अधिक निखरा हुआ है, क्योंकि इस कथा में कोई भी ऐतिहासिक पात्र नहीं आ पाया है। इसके अतिरिक्त अन्य कथाओं के काल्पनिक पात्र केवल गणना के लिए आये हैं। उनका व्यक्तित्व प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों के समक्ष हतप्रभ-सा हो जाता है। ऐतिहासिक पात्रों को लेखक ने उसी रूप में अंकित किया है, कहीं भी उन पर लेखक का व्यक्तित्व नहीं छा पाया है और न वे संदेशवाहक के रूप में ही दिखायी पड़ते है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों में प्रवाहण जैबलि, उद्दालक, राजा अग्रसेन, सिद्धार्थ, वर्द्धमान महावीर, बिंबिसार, प्रसेनजित, अजातशत्रु, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, अलक्षेन्द्र, सिल्यूकस, बिंदुसार, अशोक, कुणाल, पुष्यमित्र, अग्निमित्र, मिलिन्द, शातकर्णि, कनिष्क, भवनाग, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कंदगुप्त, कालिदास, प्रभाकरवर्द्धन, हर्षवर्द्धन, मुहम्मदबिन कासिम, शंकराचार्य, भोज, पृथ्वीराज चौहान, जयचंद, चंदबरदाई एवं मुहम्मद गोरी, प्रभावती, यशोदा, बाजिरा, हेलेना, संघमित्रा, तिष्यरक्षिता, मालविका, ध्रुवस्वामिनी एवं संयोगिता आदि प्रमुख है।

भाषाओं का विकास

वैदिक संस्कृत के पश्चात् लौकिक संस्कृत का युग फैला और इस लौकिक संस्कृत के साथ ही अनेक बोलियाँ भी उत्पन्न हुईं। काश्मीर से नेपाल तक, सिंधु से अवन्ती तक, गंगा-यमुना के मैदान में आर्यो अनार्यो के मिलन से उत्पन्न बोलियाँ बोली जाती थीं। बुद्धकाल में ब्राह्मणों की उच्च पारस्परिक प्रयोग की भाषा लौकिक संस्कृत थी और पालिअब्राह्मण क्षत्रिय गणों की। इसके अतिरिक्त पालि जनभाषा के रूप में प्रचलित थी। कुछ क्षेत्रों में अर्द्धमागधी भी प्रचलित थी। ईसा की पाँचवी शती बाद भारत में अपभ्रंश चल पड़ी। गोरखानाथ के बाद इस अपभ्रंश के स्थानीय भेद बढ़ते गये और विभिन्न भाषाओं (प्रान्तीय) का विकास हुआ। "हिन्दी का विकास संस्कृत के विरूद्ध प्रारम्भ हुआ था। अर्थात् जब वह साहित्य की भाषा बनी तब उसे उन लोगों ने अपनाया जो संस्कृत के विरूद्ध थे। वे बौद्ध सहजयानी सिद्ध और योगी लोग थे। यह परम्परा सन्तों की भाषा में भी चलती रही।"[1] दक्षिणभारत में भी एक मूल भाषा से अनेक भाषाएँ निकलीं जो तमिल, तेलगु, मलयालम् और कन्नड थीं। इनके अतिरिक्त भी अनेक भाषाएँ बोली जाती थीं, जो कालान्तर में आपस में घुल-मिल गयीं।

भाषा-शैली

डॉ० रांगेय राघव हिन्दी के बड़े कुशल शिल्पी हैं। ऐतिहासिकता के शुष्क धरातल पर आधारित इस विशालकाय 'महायात्रा' को लेखक ने अपनी रोचक शैली से अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। 'अँधेरा रास्ता' की भाँति इस 'महायात्रा' में काव्यात्मक शैली स्पष्ट हो गयी है। इसकी भाषा-शैली में निश्चित विकास परिलक्षित होता है। भाषा में पहले से अधिक प्रवाह मानता तथा शक्ति आ गयी है। विषयानुकूल परिवर्तन की क्षमता भी बढ़ गयी है। उनकी कवित्व-प्रधान संस्कृत-गर्भित शैली यहाँ समाज की बहुविध विकृतियों के चित्रण में अधिक यथार्थ हो गयी है। इसके अतिरिक्त लेखक ने प्रसंगानुसार संस्कृत के श्लोकों को उद्धृत किया है और उन श्लोकों के भाव भी लिख दिये हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं और विचारों को प्रखरता के साथ अभिव्यक्त करने की दृष्टि से 'रैन और चंदा' बहुत की महत्वपूर्ण कृति है।

ऐतिहासिकता

डॉ० रांगेय राघव ने "महायात्रा : रैन और चंदा" के वर्णन में ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा बड़ी सतर्कता से की है। उन्होंने ऐतिहासिक तिथि-ज्ञान ३२७ ई० पू० (सिकंदर के आगमन) से माना है। इसके पूर्व की गाथाओं को छांदोग्योपनिषद, बृहदारण्यकोपनिषद्, महाभारत एवं कठोपनिषद् के आधार पर आकलित किया है। ऐतिहासिक तथ्यों के आकलन के समय लेखक ने तिथियों के प्रति विशेष सावधानी दिखायी है। इसलिए उसने गाथाओं की लंबी अवधि दे दी है। जैसे महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के वर्णन के समय लेखक ने केवल ६०० ई० पू० कहकर चुप्पी साध ली है। इसके पश्चात् दूसरी गाथा ३०० ई० पू० से शुरू होती है। अधिकाश तिथियाँ इतिहास-सम्मत हैं और यदि कहीं अन्तर भी है तो इतना कम है कि उसे ऐतिहासिक दोष नहीं माना जा सकता। पात्रों की गतिविधियों के विषय में भी लेखक ने इतिहास को आधार बनाया है। किन्तु कहीं-कहीं मतभेद हो गये हैं, जैसे-लेखक के अनुसार बिना रक्तपात के ही मंत्रिमण्डल के आग्रह पर अशोक ने शासन का भार सँभाल लिया। लेकिन अनेक विद्वानों ने अशोक के शासन के समय भीषण रक्तपात का वर्णन किया है। इसी प्रकार 'कुणाल की आँख' से सम्बन्धित मतों में भी बड़ा मतभेद है। लेखक के अनुसार "देवी की वासना ने कुमार के रूप को अपनी पापवृत्ति का साधन बनाना चाहा था, क्योंकि वे सम्राट होते हुए भी एक वृद्ध की

१ महायात्रा (रैन और चंदा) पृ० ७८१।

...त्नी थीं।"[1] कुणाल के दूर हो जाने के कारण रानी तिष्यरक्षिता ने छल से उसकी आँखें निकलवा लीं। किन्तु कतिपय विद्वानों ने तिष्यरक्षिता के द्वारा आँख निकलवा लेने के कार्य अमनोवैज्ञानिक और अतार्किक माना है[2]। इस प्रकार महायात्रा के कुछ अन्य स्थलों पर भी ऐतिहासिक तथ्यों में मतभेद दिखायी पड़ते है। लेखक के अनुसार शंकराचार्यजी ने मण्डन मिश्र की पत्नी उम्बा को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। किन्तु कुछ इतिहासकारों ने लेखक के विपरीत अपना मत व्यक्त किया है। प्रसिद्ध कवि कालिदास के विषय में भी अनेक मत-मतान्तर हैं। अधिकांश विद्वानों ने उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के समय में माना है किन्तु लेखक ने कालिदास का सम्बन्ध स्कन्दगुप्त से स्थापित किया है।[3]

निःसन्देह 'महायात्रा : रैन और चंदा' लेखक की एक अनुपम देन है। ऐतिहासिक धरातल पर आधारित इस विशालकाय महायात्रा को लेखक ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा से अत्यन्त आकर्षक बना दिया है।

•••

---

१. रैन और चंदा, पृ० ३००।
२ [illegible] कुणाल की आँखें पृ० १२।
३ महायात्रा (रैन और चंदा) पृ० ४८१।

अध्याय छह

□

जीवनचरित्तात्मक उपन्यास

□ □

जीवन चरितात्मक उपन्यास हिन्दी-उपन्यास की नव्यतर सिद्धि है। इस उपन्यास की विशेषताओं के लक्षण सर्वप्रथम डॉ० वृंदावनलाल वर्मा के 'झासी की रानी' उपन्यास में दिखलायी पड़ते हैं। अनेक समीक्षकों ने एक स्वर से इस उपन्यास को 'जीवनचरितात्मक उपन्यास' माना है[१]। निस्संदेह लेखक को रानी का जीवन-चरित्र प्रस्तुत करना है, किन्तु विशेष दृष्टिकोण तथा उद्देश्य से उसे सन् १८५७ की इतिहास-प्रसिद्ध क्रांति तथा उससे संबद्ध पात्रों को भी प्रस्तुत करना है। उसे अंग्रेजो की जीत तथा भारतीयों की हार के ऐतिहासिक कारणों का विवेचन करना है तथा ऐतिहासिक उपन्यासकार के समान तत्कालीन युग-जीवन को साकार करना है। अतः लेखक की दृष्टि लक्ष्मीबाई की अपेक्षा तत्कालीन परिस्थितियों पर अधिक है। इसलिए हम इसे जीवनचरितात्मक उपन्यास न कह कर ऐतिहासिक उपन्यास कहते हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम डॉ० रांगेय राघव ने जीवनचरितात्मक उपन्यासों की रचना की है। 'देवकी का बेटा' से लेकर 'आंधी की नींवें' तक इनके नौ जीवनचरितात्मक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इन उपन्यासों में लेखक ने युगनिर्माताओं को युग की सीमाओं के बीच देखते हुए मानवता के विकास में उनके साहित्यिक-सांस्कृतिक अवदान का मौलिक मूल्यांकन किया है इन उपन्यासों में तद्युगीन परिस्थितियॉं वर्णित महापुरुषों के व्यक्तित्त्व को उद्घाटित करने में सहायक सिद्ध हुई हैं। लेखक की दृष्टि परिस्थितियों की अपेक्ष चरित्र पर अधिक है। जीवनचरितात्मक उपन्यास की मूलभूत विशेषता यही है।

जीवनचरितात्मक उपन्यास, उपन्यास की एक विधा है, क्योंकि इसका उद्देश्य भिन्न है। इस विधा में इतिहास-समर्थित साहित्यकारों या समाज-सेवियों के व्यक्तित्व के समग्र पहलुओं को प्रकाशित करने का आग्रह होता है, जिनके जीवन को इतिहासकारों ने विस्तृत कर दिया है। यह डॉ० रांगेय राघव की प्रगतिशील दृष्टि थी, जिसने साधकों के जीवन को देखा और उनके सम्पूर्ण परिवेश को परखा तथा उन पर आधारित अनेक जीवन चरितात्मक उपन्यास भारती के मन्दिर में नवीन नैवेद्य के रूप में समर्पित किया। ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने प्रायः इतिहास-प्रसिद्ध राजनीतिक पुरुषों को प्रस्तुत किया है और उन्हें माध्यम बनाकर तद्युगीन परिस्थितियों के घटाटोप में अपने सिद्धान्तों को व्यक्त किया है। प्रागैतिहासिक कथा-वस्तु के उपन्यास प्रायः काल्पनिक पात्रों पर आधारित होते है, जो जीवनचरितात्मक उपन्यास के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए जीवनचरितात्मक उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यासों से नितान्त भिन्न हैं।[२] एक आलोचक ने इन दोनों प्रकार के उपन्यासों के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है "ऐतिहासिक उपन्यासों का ही एक किंचित् भिन्न रूप रांगेय राघव के जीवनचरितात्मक उपन्यासों में मिलता है। अन्तर इतना है कि जहॉं ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिकांश पात्र महत्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति और युगनिर्माता है, इन उपन्यासों में युग का कोई विशिष्ट पुरुष, लोकानायक या साहित्यकार ले लिया गया है।[३] अनेक समीक्षकों ने इन जीवनचरितात्मक उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न माना है,[४] स्वयं लेखक ने भी इन्हें उपन्यास की एक विधा के रूप में स्वीकार किया है।"[५]

हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी और मराठी उपन्यास-साहित्य में भी जीवनचरितात्मक उपन्यास पाये जाते है। अंग्रेजी में बिक्फर रावर्ट्स (Bechhafor roberts) का 'दिससाइड आइडोलेट्री (This side Idoletry), 'ऐन्द्र मौरिस' (Andre maurois) का 'ऐरियल' (Ariel), फिलिप गौडेला (Phillip Guedlla) का 'पामर्स्टन (Palmerston) प्रसिद्ध जीवनचरितात्मक उपन्यास माने जाते है। 'दिस साइड आइडोलेट्री' में प्रसिद्ध उपन्यासकार 'डीकेन्स' के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। 'ऐरियल' में प्रसिद्ध कवि शैली के व्यक्तित्व

---

१ अ. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी उपन्यास, पृ० १५०।

ब. डॉ० रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, पृ० १५८।

स. डॉ० सत्यपाल चुघ, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासो की शिल्पविधि, पृ० ६४३।

CASSELL"S Encyloeaedia of Literature-Edited by S.H.Steinberg Volume I.P. 60

२ श्री मधुरेश, आलोचना, ३१ जुलाई, १९६४, पृ० ४१।

४ अ श्री मधुरेश, आलोचना, ३१ जुलाई, १९६४, पृ० ३६। "रांगेय राघव के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य का विभाजन इस प्रकार कर सकते हैं, १. सामाजिक २. ऐतिहासिक, ३. जीवनचरितात्मक एवं ४. आंचलिक।'

ब. साहित्य-संदेश : जनवरी-फरवरी, १९६३, रांगेय राघव के जीवनचरितात्मक उपन्यास, पृ० २८७।

स श्री [illegible] त्रिवेदी हिन्दुस्तान २१ जनवरी १९६८ पृ० ११।

५ अ साहित्य-संदेश आधुनिक अंक १९५६ पृ० ८७।

ब लोई का ताना (भूमिका) पृ० ८।

को उद्घाटित किया गया है।[१] 'स्वामी', 'झेप', 'झुंझ', 'मंत्रावेगला', 'हरिनारायण', 'मृत्युंजय', 'यज्ञ' 'आनन्दीगोपाल', 'ओंकार' आदि मराठी के प्रमुख जीवनचरितात्मक उपन्यास है। इन उपन्यासों की रचना सन् १९६२ के पश्चात् की है। अतः मराठी साहित्य में भी यह विधा अत्यन्त नवीन है। भीवराव कुलकर्णी का उपन्यास 'हरीनारायण' मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हरीनारायण आप्टे के जीवन पर आधारित है। यह उपन्यास दो भागों में विभक्त है, जिसमें आप्टे के व्यक्तित्व को उद्घाटित किया गया है। इसी उपन्यास के समान डॉ० रांगेय राघव ने 'लखमा की आँखें', 'लोई का ताना', 'रत्ना की बात', 'मेरी भवबाधा हरो', 'भारती का सपूत', उपन्यास लिखा, जिनमें प्रसिद्ध साहित्यकार विद्यापति, कबीर दास, तुलसीदास, बिहारी एवं भारतेन्दु हरिशन्द्र के व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया गया है। इन उपन्यासों का मूल-स्वर लोक-मंगल की कामना है। व्यक्ति पर दृष्टि रखते हुए लेखक का आग्रह तत्कालीन धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर भी है। प्रायः ऐसा भी हुआ है कि अपने नायक की साहित्यिक या सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति को सही रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए उन्हें दूसरों का विरोध करना पड़ा है। जब भी ऐसा अवसर आया है, अलौकिक आत्मविश्वास के साथ उन्होंने अपना मौलिक मत रखा है।[२] इस दृष्टि से देखने पर उनके जीवनचरितात्मक उपन्यासों का महत्व सहज ही बढ़ जाता है। मानवतावादी रूप उनके समस्त युगनायकों के माध्यम से उभरता है। आशा है निकट भविष्य में आंचलिक उपन्यासों की भाँति इसकी भी एक स्वस्थ परंपरा चल पड़ेगी।

देवकी का बेटा

'देवकी का बेटा' (१९५४) डॉ० रांगेय राघव का प्रथम जीवनचरितात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने कृष्ण के विशाल चरित्र का एक अंश प्रस्तुत किया है, जिसमें कंस-वध तक की घटनाओं का आकलन है। कंस-वध के पश्चात् लेखक ने कृष्णा की गतिविधियों का वर्णन 'महायात्रा : अँधेरा रास्ता' में विस्तृत रूप में किया है। लेखक ने अपने उपन्यासों की रचना के सम्बन्ध में कहा है- 'घरौंदे' के बाद मेरे सामने दो रूप खड़े हुए। एक ओर जीवन के यथार्थ ने मुझे वर्तमान में अपनी ओर अधिक खींचा, तो दूसरी ओर भारत की आत्मा, उसकी यात्रा और संस्कृति की महान् गति ने मुझे आकर्षित किया और मैंने अतीत के विभिन्न युगों के संघर्षों में मनुष्य को पहचानने का प्रयत्न किया।... इस दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ही मेरी वह जीवनियाँ आती हैं जिन्हें मैंने उपन्यासों का रूप दिया है, जैसे देवकी का बेटा, यशोधरा जीत गयी, लोई का ताना, रत्ना की बात और भारती का सपूत'[३] इस लिए लेखक ने अपने जवनचरितात्मक उपन्यासों में कहीं भी अतिरंजना का रंग नहीं चढ़ाया है। प्रायः कथात्मक साहित्यिक विधायें चमत्कार की बाढ़ में अपना अस्तित्व खो बैठती है और पाठक भी वास्तविकता से अपरिचित रहकर चमत्कार की तेज धारा में बह जाता है। इस लिए लेखक ने इस उपन्यास की भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया-"मैंने कृष्ण-चरित्र को चमत्कारों से अलग करके देखा। धर्ममूढ़ लोग तो शायद इसे नहीं सह सकेंगे, उनसे मै क्षमा माँगता हूँ, परन्तु वैसे तो महानता कृष्ण के मनुष्य रूप में प्रकट होती है यह वैसे नहीं मिलती, चमत्कारों में सत्य डूब जाता है।"[४] इस उपन्यास में लेखक ने अतीत का मूल्याकन नये दृष्टिकोण से किया है इसलिए प्रगतिवादी मान्यताएँ अधिक उभर आयी है और उपन्यास की सरसता को गहरा आघात लगा है।

लेखक ने इस उपन्यास में उस युग की सम्पूर्ण सजीवता के मध्य ही कृष्ण के व्यक्तित्व को अंकित किया है। इसलिए इसमें सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ उभर आयी हैं। रामयुग के पश्चात् समाज अपने आन्तरिक विरोधों के कारण जर्जर होने लगा और व्यक्तिगत स्वार्थों ने उसे ढहा देने में अधिक योग दिया। वर्णगत खाई इतनी गहरी होने लगी कि समाज के उच्च वर्ण और निम्न वर्ण दो छोरों पर चले गये और उनके सम्बन्धों की रेखा धूमिल होने लगी। जिस समय कृष्ण से कंस के मल्ल-युद्ध की चर्चा चल रही थी, महारानी अस्ति ने कहा-"आप तो कृष्ण से युद्ध नहीं कर सकते? युद्ध तो दो समान व्यक्तियों में होता है।.........आप महाराजाधिराज हैं। दोनों में घोर अन्तर है। आज आप उससे युद्ध करेंगे तो वाल्हीक से लेकर प्राग्जोतिष तक दासों से महाराज लड़ने लगेंगे और यह अनर्थकारी हो जायेगा।"[५] कृष्ण-युग में उच्च वर्ण

---

१. *Dr. B.R.Malik : Critical Essays. P. 259.*

२. *लोई का ताना, (भूमिका), पृ० ५।*

३. *आधुनिक उपन्यास-अंक, साहित्य-संदेश, १९५६, पृ० ८७।*

४ *देवकी का बेटा (भूमिका) पृ० ६*

५ *वही पृ० १४६*

की निरंकुशता का विरोध धीरे-धीरे शुरू होने लगा था। जयाश्व ने आर्य देवक से कहा-"आर्य! अब तो शूद्र अपने को समाज का अंग मानते हैं। परन्तु वे कुछ असंतुष्ट हैं और दासों के पीछे, भूमि के पीछे, सभी के पीछे सारी शक्तियाँ उन्मत्त होती जाती हैं।[१]" कृष्ण ने जातिगत भेदों को दूर करने के लिए प्रयास किया। उनकी नीतियों को स्पष्ट करते हुए बलाहक ने जयाश्व से कहा-"यह सारा वैमनस्य इस निरकुशता और अलगाव के कारण है। वह तो मानता है कि चार वर्ण हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। बाकी जातियाँ भी ऐसी ही हैं। फिर मनुष्य-मनुष्य समान है। अपने-अपने वर्ण का काम करो, परन्तु निरंकुश कोई न बनो।"[२] इस युग तक जातियों में अन्तर्भुक्ति की परम्परा प्रचलित थी।

समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रबल हो जाने के कारण नारियों की सामाजिक मर्यादा घटने लगी और बहु-विवाह के प्रचलन ने उसकी स्थिति को गहरा आघात लगाया। आर्य वसुदेव ने देवकी के पहले तेरह स्त्रियों से विवाह किया था, उसने कुछ आर्य स्त्रियाँ थीं और कुछ गोप कन्याएँ थीं। विवाह-प्रथा में वर्ण-व्यवस्था की मान्यता को स्वीकार कर लिया गया था, किन्तु ये बंधन अधिक जटिल नहीं थे। यौन संबंधी स्वतन्त्रता भी सामाजिक बन्धनों में बँधती जा रही थी, किन्तु कहीं-कहीं उसका प्रचलन पूर्ववत् ही था। यौन सम्बन्धी चर्चा के समय यादव अंशुमान ने कृष्ण से कहा-" ......मद्र में स्त्रियाँ चाहे जिस पुरुष से स्वतन्त्रता से संभोग करती है गोपों में भी उसी प्रकार यद्यपि उतनी स्वतन्त्रता नहीं है, फिर भी इसे बुरा नहीं समझते। परन्तु मथुरा में कहते है संभोग ही स्त्री की पवित्रता का प्रमाण है। ऐसा क्यों? कुरुक्षेत्र में तो स्त्रियाँ स्तन खोलकर भी बाहर निकल पाती है।"[३] कृष्ण ने भी एकान्त में भाभी राधा से कहा-"..... पहले गोपियाँ चाहे जिस गोप से रमण करती थीं।"

"मैंने भी सुना है।"

"फिर यह परंपरा कैसे छूट गयी।"

"पता नहीं। पर सुना है कि जब हम यादवों के संपर्क में आये, तब से यह प्रथा छूटती गयी।"

"कहते हैं सौवीर और सिंधु में यह परंपरा अब तक चल रही है।" कृष्ण की सहानुभूति पाकर कुब्जा कहती है-"मैं कुब्जा हूँ, परन्तु युवती हूँ। मुझे यौवन का फल दो। मेरे घर चलो।"[५] विधवाओं के पुनर्विवाह का वर्णन उपन्यास में अंकित नहीं है, किन्तु मगध आदि क्षेत्रों में उन्हें पुनः गर्भ धारण करने की स्वतन्त्रता थी। इसीलिए कंस की मृत्यु के पश्चात् बड़ी रानी अस्ति ने पाणिवान से पुत्र-शोकाकुल प्राप्ति के विषय में कहा-"मूर्ख है। एक बालक मर गया है तो रो रही है। विधवा होने उसे कोई शोक ही नहीं। ऐसी रोती है जैसे वह मगध चलकर फिर से गर्भ धारण नहीं कर सकती। मगध में क्या कुलीनों से नियोग नहीं हो सकता?'[६] दास-प्रथा कृष्ण-युग में प्रचलित थी और उनके साथ अमानवीय व्यवहार किये जाते थे। लेखक ने दासियों के जीवन को अत्यन्त दर्दनाक रूप में उपस्थित किया है और बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से उनके चरित्र को गति दी है। कंस के दरबार में दासियाँ 'व्यूढोरा और लपेटिका के सारे कोने घिस चुके थे। उन्हें लज्जा ही नहीं रही थी। वे कंस के प्रासाद में वहाँ के दासों तक के पौरुष का परिचय प्राप्त कर चुकी थीं क्योंकि वे इसके अतिरिक्त जैसे सब कुछ भूल चुकी थीं। उनकी सन्तान प्रायः प्रति तीसरे वर्ष बेच दी जाती थी और उनकी ऐसी आदत पड़ गयी थी वे उस शोक को भी मनाना भूल गयी थीं। ...... स्त्री की पवित्रता का खण्डन करते हुए उनकी हृदय स्थित प्रतिहिंसा को जो सन्तोष होता, वह अत्यन्त भयानक था।'[७] डॉ० रांगेय राघव ने इस उपन्यास में नारी-स्थिति को एक अनोखे ढंग से चित्रित किया है। जैनेंद्र की 'सुनीता' की भाँति राधा विवाहिता होकर भी अपने जीवन की सार्थकता कृष्ण के प्रेम में मानती है, जो आगे चलकर संभोग के रूप में परिणत होता दिखायी देता है। वह पति के लिए केवल तन, किन्तु प्रेमी के लिए तन, मन दोनों न्यौछावर कर देती है। तत्कालीन यौन-संबंधी शिथिलता राधा के चरित्र के साथ नहीं है क्योंकि वह कृष्ण से प्रेम करती है, उसका सम्बन्ध केवल यौन तक सीमित नहीं है।

लेखक ने देवकी का बेटा जीवनचरितात्मक उपन्यास में उस युग की सीमाओं के बीच मानवता के विकास

---

१ *देवकी का बेटा, पृ० ११।*

२ *वही, पृ० ७२।*

३ *वही, पृ० ९१।*

४ *वही, पृ० ९३।*

५ *वही पृ० १५४*

६ *वही पृ० १७०*

७ *वही पृ० ४३*

में धार्मिक-सांस्कृतिक अवदानों का मौलिक मूल्यांकन किया है। समाज और धर्म का अटूट सम्बन्ध है, इसलिए समाज के लड़खड़ाते समय धर्म की स्थिरता की कल्पना नहीं की जा सकती। कृष्ण-युग में धर्म अनेक घातों-प्रतिघातों के अन्तराल से गुजर रहा था। "टॉटम"[१] रूप के प्रचलन के कारण देवताओं के परस्पर सम्बन्ध का प्रभाव उनके आराधकों के व्यावहारिक जीवन पर भी पड़ रहा था। नाग और गरुड़ जातियां के परस्पर वैमनस्य का कारण उनके आराध्य देव नाग और गरुड़ की शत्रुता थी। टॉटम देवताओं के अतिरिक्त मणिभद्र यक्ष, यक्षी चुलकोका, इन्द्र, शिवलिंग, अग्नि, सूर्य, अश्विनीकुमार, ऋषभ आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। मातृसत्तात्मक व्यवस्था से प्रभावित कुछ क्षेत्रों में स्त्रियों की विचित्र स्थिति में पूजा की जाती थी। कामरूप और प्राग्ज्योतिषपुर में 'स्त्री' की मग्न देह की उपासना की जाती थी।......स्त्री स्वतन्त्र थीं[२]।' 'उत्तर में मातृकाओं की पूजा होती थी। उनमें कुछ बालघतनी पूतना कहलाती थीं।'[३] देवी-देवताओं की पूजा के अतिरिक्त यज्ञ का कार्य भी प्रचलित था, किन्तु यज्ञ की राजनीति के भीषण कीचड़ में फँसा दिया गया था, जिससे उसका रूप गंदगियों से छिप गया था। इसलिए कृष्ण ने यज्ञों का घोर विरोध किया।

राम-युग के पश्चात् परस्पर-वैमनस्य के कारण गणतंत्रात्मक प्रणाली को गहरा आघात लगा और जरासध के निरंकुश शासन का प्रभाव अन्य छोटे-छोटे राज्यों पर पड़ने लगा। जरासंध के जामाता कंस ने एकतंत्र शासन की स्थापना के लिए ही अपने पिता उग्रसेन को कैद कर लिया था। इसलिए जननायक कृष्ण ने पहले छोटे-छोटे नागादि शत्रुओं को पराजित कर स्वतन्त्र के प्रबल स्तम्भ कंस का विरोध करना शुरू किया। वृद्ध जयाश्व ने आर्य देवक से युद्ध का कारण स्पष्ट करते हुए कहा, 'देव मैं सोचता था कि वह संघर्ष मूलतः वृष्णि और अन्धक का नहीं है। क्योंकि स्वयं आप अंधक हैं वसुदेव वृष्णि हैं। ठीक कहते हो जयाश्व! हम यादव हैं, मूलत. यादव है। हम आज तक निरंकुश सत्ता के नीचे नहीं रहे है, कंस जरासंध की नकल पर निरंकुश साम्राज्य बनाना चाहता है। उसी ने वृष्णि और अधक का संघर्ष पैदा किया है।'[४] कंस की बड़ी रानी अस्ति ने भी कहा- 'यह युद्ध मूलत एकतत्र और गणतंत्र का युद्ध है। इसलिए मैं प्रार्थना करती हूँ कि आप युद्ध न करके छल का अवलम्बन लें[५]।' एकतंत्र के अवगुणों को व्यक्त करने में लेखक की प्रगतिशील विचारधारा पूर्ण सफल हुई है। कृष्ण और कंस के संघर्ष का परिणाम गणतंत्र और एकतंत्र के संघर्ष का परिणाम है। कंस के दरबार में उसके अमात्य अक्रूर ने महारानी प्राप्ति के मतों का विरोध करते हुए कहा, 'समृद्धि और शान्ति राजा का कर्तव्य है, उसी लिये प्रजा उसे सम्मान और कर देती है, वह ऐसा करके कोई उपकार नहीं करता। राजा प्रजा का प्रहरी है, भोक्ता नहीं[६]।' यद्यपि इस कथन के कारण उसे कारागार में बन्द कर दिया गया। गणतंत्र के प्रबल समर्थक नन्द गोप ने कंस की हत्या के बाद मथुरावासियों के आग्रह पर कृष्ण और बलराम को वहीं पर दान स्वरूप देते हुए कहा-"

"...नागरिकों! यशोदा और गोप-गोपी जन जब सुनेंगे कि कृष्ण-बलराम लौटकर नहीं आये तब वे व्याकुल होकर रो उठेंगे। परन्तु कुल और ग्राम के ऊपर राज्य है। यदि राज्य से सुव्यवस्था नहीं है तो कुल ग्राम में कभी भी शान्ति नहीं है।......मथुरा के नागरिकों और नागरिकाओं! मेरे यह पुत्र तुम्हारे ही हैं.....तुम्हारे ही हैं'।[७] ऐसा लगता है जैसे कोई आधुनिक नेता बोल रहा है। लेखक ने अपने अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों में गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की समस्याओं को उठाया है, और इस उपन्यास में भी इसी समस्या की झलक मिलती है।

चरित्र

कथाएँ गढ़ना और उन्हें अत्यन्त मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत कर देना जहाँ राघवजी की प्रमुख कला है, वहीं उनका दूसरा गुण है चरित्र-सृष्टि। 'देवकी का बेटा' के पात्रों की संख्या देखकर आश्चर्य होता है। एक विशाल जुलूस ही निकला है। इतने छोट उपन्यास में इतने अधिक पात्रों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

---

१ *पुराने जमाने में कुछ जातियाँ टॉटम मानती थीं टॉटम का अर्थ है किसी वृक्ष, पशु, पक्षी, प्राकृतिक स्थान आदि को देवता मानना और जो पूज्य देवता माना जाता है, उसी के नाम पर जाति का भी नाम पड़ता है। भूमिका, पृ० ६, देवकी का बेटा।*

२ *देवकी का बेटा, पृ० ५७।*

३ *वही, भूमिका, पृ० ६।*

४ *देवकी का बेटा, पृ० २१।*

५ *वही. पृ० १४७।*

६ *वही पृ० ८०*

७ *वही पृ० १७७*

पुरुष पात्रों में नन्दगोप, उग्रसेन, देवक, वसुदेव, कृष्ण, कंस, जरासंध, जयाश्व, अक्रूर, जाणुक, यमल, अर्जुन, ऋज, संमर्दन, शमठ, सुहोत्र, कुन्त, वृहत्सेन, वत्सासुर, वकासुर, धेनुकासुर, भूत सुभद्र, भद्रवाह, दुर्मद, भद्र, न्यग्रोध, कंक, शंकु, सुहु, राष्ट्रपाल, मृष्टि, तुष्टिमान और नारी पात्रों में यशोदा, वर्तुला, देवकी, राधा, सुभद्रा, रोहिणी, अस्ति, प्राप्ति, न्यठोरा, लपेटिका, पच्चरा, कुब्जा, धूमिनी, ईषामुखी, रोचना, पूतना, मंदाकिनी बल्लरी, महदेवा, देवरक्षिता, आनम्लिाता, आदि प्रमुख हैं। इतने अधिक पात्रों के एकीकरण से कृष्ण के अतिरिक्त अन्य प्रमुख पात्र अत्यन्त कमजोर हो गये है। अधिकांश पात्रों से पाठक का परिचय मात्र ही होता है और वे बिना प्रभाव डाले ही चले जाते हैं।

इस उपन्यास की महत्वपूर्ण सृष्टि कृष्ण का अद्भुत व्यक्तित्व है। 'कृष्ण कोई साधारण व्यक्ति नहीं था। वह गोपों में पला था। वैसे वृष्णि यादव क्षत्रिय था। कृष्ण का जीवन प्रारम्भ से ही संकटों में कटा था। बाद में कृष्ण का चरित्र विकास ही करता गया था।'[1] कृष्ण के जीवन की विडम्बना उसी क्षण से प्रारम्भ हो जाती है, जब वे जन्म के समय ही अपने माता-पिता की गोद से अलग कर दिये गये। जीवन के प्रथम चरण में ही उन्होंने अद्भुत कार्य करना शुरू कर दिया था। आर्य देवक ने बाल कृष्ण के सम्बन्ध में उग्रसेन से कहा, 'देवकी का पुत्र अभी जीवित है। नंद गोप के यहाँ पल रहा है। बड़ा मेधावी और जनप्रिय है। उसको तो कंस ने बाल्यावस्था में ही मार डालने की चेष्टा की थी। पूतना राक्षसी, शकटासुर, तृणावर्त आदि को उसने वहाँ भेजा था। परन्तु गोपों ने उन्हें मार डाला। ...... स्वयं गर्गाचार्य्य ने उसे दीक्षा दी है। अभी गत वर्ष उसने अपने गोपों की सहायता से बकासुर वत्सासुर और अघासुर को मारा था। कंस तक संवाद ले जाने वाला कोई नहीं बचता। अंतिम संवाद मुझे मिला है कि धेनुकासुर भी मार डाला गया है।'[2] उसके अद्भुत व्यक्तित्व से आकर्षित होकर व्रज की अनेक गोपियाँ प्रेम करने लगीं। विवाहिता नारियाँ भद्रवाह एवं राधा भी उसे अपने जीवन का सर्वस्व समझती थीं। एक दिन राधा ने एकान्त में कहा- 'यह तो मन की बात है देवर ..... मै तेरे बिना कैसे जी सकूँगी, यही सोचती हूँ।'[3] कृष्ण ने उसे कभी विलासिता के रूप में नहीं स्वीकार किया। इसलिए ही नागादि शत्रुओं को सहज भाव से पराजित करते हुए उसने लोकप्रिय यज्ञों का विरोध किया। कृष्ण को हम सुन्दर, बलिष्ठ, निर्भीक, प्रसन्न मुख एवं एक असाधारण व्यक्ति के रूप में देखते हैं। इनके असाधारण व्यक्तित्व से ही खिचकर शत्रु पक्ष के लोगों ने भी इन्हें जननायक के रूप में स्वीकार किया। कृष्ण की शारीरिक सबलता का परिचय उस समय मिलता है, जब वे अनेक मल्लों की हत्या कर कंस की भी हत्या कर देते हैं और सभी लोग विभोर होकर चिल्ला उठे 'जनार्दन कृष्ण की जय! उस समय दिगन्तों में एक ही जयनिनाद कोलाहल कर रहा था ...।'[4]

बलराम कृष्ण के अग्रज थे, किन्तु कृष्ण की प्रेरणा से आगे बढ़ते थे। 'वह गोरा तरुण था। शुभ्र गौर। कृष्ण उसके सामने सांवला लगता था। बलराम का शरीर जैसे साँचे में ढला हुआ था। आँखें कानों से टकराती थीं, लम्बी झुकी हुई नाक थी और गोरे गालों पर यौवन का ताप लालिमा बनकर ठहर गया था। फिर भी उसमें कृष्ण जैसी आँखों को पकड़ लेने वाली बात न थी। कृष्ण सांवला तो था मगर उसमें आकर्षण था।'[5]

उग्रसेन के पुत्र कंस का चरित्र खलनायक के रूप में चित्रित किया गया है। चरजाणुक की रहस्यमय आकाशवाणी ने उसे दिक्भ्रमित कर दिया और जरासंघ के सम्बन्धों ने उसके मानवीय पक्ष की हत्या कर दी। देवकी के नवजात शिशुओं की हत्या करने से उसके हृदय से करुणा भी दूर हो गयी, इसलिए वह वर्तुला के अपशब्दों को सुनकर कह उठा- 'कंस स्त्रियों के यह शब्द इतनी बर सुन चुका है कि अब उस पर इनका प्रभाव नहीं पड़ता। मुझे लगता है कि सारी स्त्रियों को तोते की तरह कुछ अर्थहीन शब्द रटा दिये जाते हैं।'[6] अपने जीवन के हर मोड़ पर वह जरासंघ से ही अपनी तुलना करता था। जरासंघ की पुत्रियों के संकेत पर चलने वाले कंस ने समस्त मथुरावासियों को अपना शत्रु बना लिया, जिसके परिणामस्वरूप कृष्ण ने सरलता से कंस की हत्या कर गणतंत्र की स्थापना की।

नारी पात्रों में राधा और कंस की पत्नी अस्ति को ही लेखक की सहानुभूति मिल पायी है. लेखक ने

---

१ देवकी का बेटा, पृ० ५, भूमिका।
२ वही, पृ० ५०।
३ वही, पृ० ९३।
४ वही पृ० १८१।
५ देवकी का बेटा पृ० १६
६ वही पृ० ४४।

राधा के नाम के सम्बन्ध में लिखा है-'भागवत् में कृष्ण गोपियों का वर्णन तो है परन्तु राधा तो क्या, किसी का भी नाम नहीं दिया गया है। ये गोपियों के नाम अन्यत्र मिलते हैं।...... राधा का नाम 'अराधन' से निकला है। ......मैंने राधा का नाम इसलिए स्वीकार कर लिया है कि किसी गोपी का नाम संभवतः परम्परा में रहा हो जो कालान्तर में प्रकट हो सका है।'[१] वृषभानु की पुत्री राधा ने विवाहिता होने पर भी कृष्ण के रूप को देखकर उन पर अपने को न्योछावर कर दिया। एक दिन एकान्त में राधा ने कृष्ण से कहा-'तू' बाँसुरी बजाता है? हाँ। तब जानता है मुझे कैसा लगता है?'

'कैसा लगता है?'

'ऐसा?'

कहकर राधा ने उसे अंक में भरकर उसका मुँह चूम लिया।.......जोर का पानी बरसने लगा। राधा और कृष्ण नीचे नहीं भागे। आज वे भींगते रहे, भींगते रहे।[२] 'राधा को कृष्ण की भ्रातृजाया के रूप में चित्रित करने की लेखक की अनूठी और मौलिक सूझ है, क्योंकि प्राय साहित्यकारों ने राधा को केवल कृष्ण की प्रेयसी के रूप में ही चित्रित किया है। जरासंघ की बड़ी पुत्री कंस के जीवन-रथ की प्रेरणा थी। उसकी बुद्धि से प्रभावित होकर कंस ने कहा-'तुम बहुत चतुर हो देवी! जब मेरा साम्राज्य बन जायगा तब मैं सारा प्रबन्ध तुम्हें ही समर्पित कर दूँगा।[३]'

इस उपन्यास का कथानक महाभारत, श्रीमद्भागवत एवं उपनिषदों पर आधारित है। इसलिए उपन्यास के प्रमुख पात्र पुराण-सम्मत है, केवल भर्ती के पात्र ही लेखक की कल्पना से अस्तित्व पाये हैं। लेखक ने अनेक स्थलों पर धार्मिक रूढ़ियों का तर्क से खण्डन किया है, जैसे कालियानाग को सर्प मानकर एक जाति विशेष के रूप में चित्रित किया गया है। यज्ञ की कथा श्रीमद्भागवत के तेईसवें अध्याय पर आधारित है। कपिशा[४] की कन्या शुकदेवजी के तत्रेका विधृता भर्ता भागवान्त यथा श्रुतम, हरोयगुह्मा विजहौ दहं कर्मानु बन्धनम।' श्लोक पर आधारित है।

लेखक ने तत्कालीन समाज में प्रचलित भाषा पर भी प्रकाश डाला है। 'उस समय लोग वैदिक संस्कृत बोलते थे। परिष्कृत भाषा में ऋग्वेद था। अथर्ववेद तक बना रहा था। उसकी भाषा लोगों के अधिक समझ में आती थी। जनता में वैदिक संस्कृत का कोई अपभ्रंश रूप प्रचलित था, जो लौकिक संस्कृत का बहुत पुराना रूप था। इसके अतिरिक्त नाग, असुर, राक्षस, वानर आदि जातियों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ थीं।[५]'

शिल्प की दृष्टि से भी यह अत्यन्त सशक्त उपन्यास है। लेखक ने उपन्यास में सरसता लाने के लिए अनेक मार्मिक स्थलों को पात्रों की स्मृतियों पर आधारित कर दियाहै। जैसे कंस-बध का वर्णन अस्ति मगध जाते समय रथ पर हो करती है। अन्य उपन्यासों की भांति इस उपन्यास में भी शैली में काव्यात्मकता उभर आयी है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'देवकी का बेटा' भारती के मंदिर में नवीन नैवेद्य के रूप में समर्पित किया गया है, जिसमें कृष्ण कालीन समग्र परिस्थितियों को यथावत् प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। कृष्ण जैसे बहुचर्चित पात्र पर आधारित होकर भी यह उपन्यास पाठकों को एक नया दृष्टिकोण देने में अत्यन्त सफल हुआ है।

यशोधरा जीत गयी

'यशोधरा जीत गयी', १९५४ एक लघुकाय जीवनचरितात्मक उपन्यास है। कथा-काल की दृष्टि से यह डॉ० रांगेय राघव का दूसरा जीवनचरितात्मक उपन्यास है। इसके पूर्व उन्होंने 'देवकी का बेटा' लिखा था। सन्यासी सिद्धार्थ की मानसिक हलचल के मध्यगत जीवन के स्मरण से इस उपन्यास का कथानक शुरू होता है, जो 'प्रथमा', 'मध्यमा' एव 'उत्तरा' इन तीन भागों में विभाजित कर दिया गया है। 'प्रथमा' में सिद्धार्थ के प्रारम्भिक जीवन एव तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन है। 'मध्यमा' में सिद्धार्थ की विलासिता के प्रति उदासीनता पुत्र का जन्म, गृह-त्याग एवं गौतम की साधना-संबंधी घटनाओं का आकलन है। 'उत्तरा' में यशोधरा का विद्रोह

---

१ वही, भूमिका।

२ वही, पृ० ९५।

३ वही पृ० ६५।

४ राक्षस' की कपिशा गुप्त के ग्रमर' की विकृता है।

५ देवकी का बेटा पृ० १० ११

मुख्य रूप से अंकित है, जो इस उपन्यास का प्रमुख विषय है। 'उत्तरा' में अधिक दार्शनिक विवेचन के कारण कथावस्तु की गति में शिथिलता आ गयी है। फिर भी लेखक की दृष्टि मुख्य कथा से कहीं भी हटने नहीं पायी है। कतिपय उपन्यासकार विवरण मोह में पड़कर मुख्य कथावस्तु से हट जाते हैं। इस उपन्यास की दार्शनिक नीरसता को कथावस्तु के आकर्षण ने संभाल लिया है। लेखक ने बड़ी ही कुशलता से बुद्ध और यशोधरा के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों को अंकित किया है। 'बुद्ध की निर्बलताएँ उसके युग की निर्बलताएँ थीं, उसकी विजय मानव की विजय और कल्याण देने वाली शक्तियाँ थीं। मैंने इस पुस्तक में बुद्ध के महान जीवन का सापेक्ष दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और ऐसे पात्रों का वर्णन करके निश्चय ही इतिहास और भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धावनत हुआ हूँ।[1]' गौतम बुद्ध के समय में समाज विषम था। जाति एवं वर्णगत विद्वेष अपनी चरम सीमा पर थे। संकुचित दृष्टिकोणों के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर लड़ रहे थे। महाराज शुद्धोदन ने सिद्धार्थ से ब्राह्मण और क्षत्रियों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा-'जब ब्राह्मण शासक थे, तब वे ऊँचे थे। फिर ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष हुए, फिर मित्रता हुई, तब ब्राह्मण भिखारी बना, परन्तु धर्म का स्वामी रहा और क्षत्रिय? वह राजा था।... ब्राह्मण ने अपनी रक्षा के लिए जगह-जगह अनार्य देवी देवताओं और अनार्य पुरोहित समूहों को ब्राह्मण मान लिया और रक्त शुद्धि को नष्ट करने लगा। उस समय हमने ही गणों में महासम्मत कुल के शुद्ध रक्त कीरक्षा की है। हमने ब्राह्मण के वेद को नहीं माना, हमारे क्षत्रियों का अपना दर्शन है! हम सर्वश्रेष्ठ हैं, हमसे ऊँचा कोई नहीं।[2]' इसके पश्चात् उन्होंने क्षत्रियों के कार्यों को स्पष्ट करते हुए कहा, 'पुत्र! व्यवहार में ही हम ऊँचे और नीचे कुल हैं, किन्तु यह व्यवहार संसार को अनर्गल होने से बचाने के लिए है, संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए आवश्यक है। यदि क्षत्रिय कुल इस प्रकार दासों को नहीं रखे तो क्या हो जानता है? यह अशिक्षित बर्बर लोलुप दास हमें खा जायें। यदि हम क्षत्रिय व्यापार पर अंकुश न लगायें तो यह वणिया हमें खरीद लें। यदि हमारे क्षत्रिय दार्शनिक नियम निर्धारित न करें तो कुरु पंचाल की भाँति ब्राह्मण हमारे सिर पर छा जायें।[3]' ब्राह्मण भी अपनी स्थिति की रक्षा के लिए निम्न जातियों को क्षत्रिय के विरूद्ध भड़का रहे थे। इसलिए आर्य अमृतोदन ने कहा-'यह ब्राह्मण तो बडे पतित है। तमाम अनार्यो से घुलते मिलते हैं। अपने स्वार्थ के लिए यह लोग रक्त की चिंता नहीं करते।[4]' इन विरोधों के कारण समाज अत्यन्त ही अव्यवस्थित हो गया था। वैश्य सम्पन्न हो रहे थे, किन्तु शुद्रों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी।

उपन्यासों में काल-विशेष का सजीव चित्रण करने के अतिरिक्त लेखक का अपना भी उद्देश्य होता है, जो प्रायः सामयिक युग से प्रभावित होता है। वह किसी-न-किसी प्रकार से उपन्यास में अपनी जीवन-दृष्टि का समावेश करता है। जीवनचरितात्मकक उपन्यासों मे उपन्यासकार स्वतन्त्रता से अपनी सामयिक प्रेरणा का उपयोग नहीं कर सकता,क्योंकि उसे मुख्य पात्र की रक्षा करनी होती है। डॉ० रांगेय राघव ने तत्कालीन नारियों की स्थिति का चित्रण करते समय नारी-जागरण को विशेष महत्व दिया है। नारी-स्वातंत्र्य की भावना में आधुनिक चेतना सबसे प्रबल है। यद्यपि लेखक ने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'यशोधरा आधुनिक चिंतन की बात नहीं करती, परन्तु वह कहती है जो नारी तब भी कह सकती थी।[5]' लेखक ने इस वाक्य को अपने आधुनिक चिंतन की आरोपण को छिपाने के लिए ही कहा है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर' की 'विधृता' की ही भांति यशोधरा दंभी पुरुषों का विरोध करती हुई कहती है-'......जो जन्म देती है वह नीची है, फिर पुरुष ही क्यों ऊँचा है? क्योंकि वह भोगी होने का अहंकार रखता है और अपने को ऊँचा उठाने को स्त्री को ठोकर मारकर त्याज्या कहकर चला जाता है और नारी...... वह फिर भी उन्हीं चरणों की प्रतीक्षा किया करती है

पुरुष सृजन की महानता और गरिमा का कभी अनुभव नहीं करता, उसे सृष्टि को चलाने वाली नारी एक माध्यम की तरह प्रयुक्त करती है, और वह अनबूझ कुछ भी नहीं समझ पाता और हाहाकार करते हुए तो उसका अहं कभी थकता नहीं।[6]' पुनः पुरुषों के अज्ञान पर अपना आक्रोश व्यक्त करती हुई यशोधरा कहती है, 'डाली से गिर कर फूल की तरह धूलि में मिलकर अपने को महान कहलाने के विभ्रम को धारण करनेवाला पुरुष भी

---

१ *यशोधरा जीत गयी, भूमिका।*

२ *वही, पृ० २५-२६।*

३ *वही, पृ० २४।*

४ *वही, पृ० १०८।*

५ *वही भूमिका।*

६ *यशोधरा जीत गयी पृ० १३ १४।*

कितना विचित्र और कितना निरीह प्राणी है आर्य! स्त्री नहीं भूलती उसे, इसलिए कि वह दया करना जानती है। वह जिस जीवंत स्नेह को ठुकराता है, वह उसे जीवित रखती है अपना बलिदान देकर। यदि वह भी उसके लिए अपने को मिटाने का साहस न करे, तो देवि! यह सारा धर्म, यह संसार सब ऐसा छिन्न-भिन्न हो जाये कि उसमें मनुष्य की सन्तान फिर पशुओं की तरह भटकती फिरे।[1]' इस प्रकार नारी-जागरण की धारा में पड़कर लेखक ने भी यशोधरा के माध्यम से नारियों की सामाजिक स्थिति को उठाने का प्रयास किया है। युद्धकालीन युग में नारियों की स्थिति संतोषप्रद नहीं थी। वे विलासिता की ही वस्तु समझी जाती थीं।[2] लेखक ने उस युग में प्रचलित विवाहों का भी वर्णन किया है। उच्च वर्णो में विवाह सगौत्र हुआ करते थे। समान गौत्र होने के कारण ही राजा शुद्धोदन ने कहलवाया कि 'हम भी खत्रीय हैं, आप भी खत्रीय हैं। हम सगौत्र हैं, फिर क्यों न विवाह-सूत्र में अपनी संतान को बद्ध किया जाये?[3] राक्षस[4] विवाह भी प्रचलित थे। समाज में बहुविवाह[5] का भी प्रचलन था। गणों के क्षत्रियों के परिवार में भाई-बहन विवाह करके रक्त-शुद्धि और वंश परम्परा को चलाते थे।[6]

उपन्यास का मूल संघर्ष भी नारी-पीड़ा और नारी-धर्म को लेकर हुआ है, अतएव नारी-समस्या इस उपन्यास की मुख्य समस्या है।

बुद्धयुगीन समाज में दास-प्रथा प्रचलित थी और यह प्रथा क्षत्रिय कुल गणों में ही अधिक थी। उनके साथ पशुवत व्यवहार किया जाता था। दासों को मार डालना महज बात थी। बाजारों में उनका क्रय-विक्रय होता था। रोती हुई दासी किलंजा से सिद्धार्थ ने पूछा,……क्यों रोती है किलंजा।'

'स्त्री ने आँसू पोंछ लिये थे। बोली नहीं थी। उससे पूछा गया था। तब उसने बताया था उसका सद्य जात बच्चा बेच दिया गया था और दूध ठीक से पाकर वह मर गया था।[7]' दासियाँ सेवा एवं वासना की तृप्ति के लिए ही उत्पन्न होती थीं। न उनका अपना कोई जीवन होता था और न कोई व्यक्तित्व। जब सिद्धार्थ ने किलजा से लड़के के पिता के बारे में पूछा तो वह कहने लगी-'यह तो मैं स्वयं नहीं जानती। पर था राजकुल के रक्त का बड़ा सुन्दर था। वह कहीं रहता, मुझे दुख न था, परन्तु वह मर गया।'[8] आज भी अनेक निम्न जातीय नारियाँ दासी न होकर भी अमानवीय जीवन व्यतीत कर रही हैं।

डॉ० रांगेय राघव ने यशोधरा जीत गयी उपन्यास में तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों को उभारने का अधिक प्रयास किया है। बुद्धकाल में सांस्कृतिक परिस्थिति अत्यन्त डांवाडोल थी। 'अंधविश्वासों' और अनेक देवी-देवताओं के कारण लोग सत्पथ से हटते जा रहे थे। सिद्धार्थ उन्हीं परिस्थितियों की घुटन से भागकर ज्ञान की खोज करने लगे थे। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध का विशेष सांस्कृतिक योग है। सांस्कृतिक सुधारक होने के कारण ही आज गौतम बुद्ध को अवतार रूप में माना जाने लगा है।

लेखक ने इस उपन्यास में राजनीतिक परिस्थितियों को अत्यल्प स्थान दिया है। इनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'पक्षी और आकाश' भी बुद्ध-युग पर आधारित है। उस ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक ने राजनीतिक परिस्थितियों को अधिक उभारा है। बुद्धकाल में गणव्यवस्था का ह्रास हो रहा था और एकतंत्र शासन प्रणाली उभर रही थी। गणव्यवस्था के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए शुद्धोदन ने कहा, 'विलासी राजा अग्निवर्ण के बाद उच्च कुलों ने गण बनाया और शासन संभाल लिया। शाक्य और लिच्छवि दो विशेष महाकुल थे और आज उनके अनेक उपकुल हैं। जहाँ मिथिला में विदेह नाम से राजा सिंहासन पर बैठता था, वहाँ अब गण है। यह सबगण और पश्चिम के भद्र, वाल्हीक, यौधर्य, सौवीर, यह सब गण भी आर्य क्षत्रियों के रक्त शुद्धि के अन्तिम प्रयत्न हैं।[9]'

---

१. वही, पृ० १४।
२ कुरू और पंचाल में नारियों की स्थिति विशेष संतोषप्रद थी।
३ यशोधरा जीत गयी, पृ० १५।
४ वही, पृ० १।
५ वही, पृ० ३१।
६ वही, पृ० १३।
७ यशोधरा जीत गयी, पृ० ३७।
८ वही पृ० ३८।
९ वही पृ० २५।

चरित्र

उपन्यास के पात्रों के संदर्भ में लेखक का मत है, कि 'मैंने प्रस्तुत औपन्यासिक जीवनी में पात्रों में नये पात्र नहीं लिये। ऐसे दास दासियों के नाम मिल जायें तो बात नहीं, परन्तु बड़े पात्र सब ऐतिहासिक ही है।'[१] इस उपन्यास में पात्रों की भीड़ है-अनेक पात्र कुछ स्थलों पर एक ही बार मुख दिखाकर लुप्त हो गये है। किसी-किसी स्थल पर एक साथ इतने पात्रों का परिचय करा दिया गया है कि पाठकों को उनका स्मरण रखना कठिन हो गया है। पात्रों के मेले में से केवल दो पात्र-प्रमुखतम पात्र-पाठकों का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ हुए है। ये है सिद्धार्थ और उनकी पत्नी यशोधरा। ये व्यक्तित्व सम्पन्न पात्र हैं। अन्य पुरुष पात्र शुद्धोदन, श्रेष्ठि कोठ्ठित आर्य अमृतोदन, बिम्बसार, छन्दक, उपक आजीवक, काल उदायी, राहुल आदि एवं नारी पात्रों में महादेवी मायादेवी, महाप्रजावती गौतमी, कृशा गौतमी मंजरिका, किलंजा, अनुला, मिता, सुजाता आदि प्रमुख हैं। इन पात्रों का चरित्र निश्चित है और ये स्थिर पात्र हैं। शुद्धोदन और महाप्रजावती गौतम को लेखक ने अपेक्षाकृत अधिक सबल रेखाएँ दी है और ये दोनों पात्र जुगनू की भाँति कभी-कभी उपन्यास में चमका करते है। किन्तु ये बहिर्मुखी है। इनके कथन और व्यवहार में अन्तर नहीं, इनका चरित्र क्रिया-प्रक्रिया में व्यक्त है।

सिद्धार्थ इस उपन्यास का प्रमुख पुरुष पात्र है। लेखक ने सिद्धार्थ का परिचय एक असाधारण मनुष्य के रूप में ही दिया है। "बुद्ध को मैंने चमत्कारों से अलग करके देखा है। चमत्कार व्यक्ति की महानता को गिराते है।"[२] राजपुत्र प्रारम्भ मे ही अत्यन्त उदार थे। प्रजा का कष्ट उन्हें असह्य था। इसलिए उन्होंने माँ गौतमी से कहा-"अम्ब, प्रजा के पास वस्त्र नहीं। दास दलित है। ऐसा क्यों है अम्ब? हमारे पास वैभव है, विलास है, सब कुछ सुन्दर है। परन्तु उसके पास कुछ नहीं है।"[३] सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। संन्यासी पुण्डरीक भी महाश्वेता के सौन्दर्य से आकृष्ट हो गया था। मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी वाटिका में सीता के सौन्दर्य को देखकर विचलित होते हुए देखे गये थे। सिद्धार्थ में भी ये स्वाभिकतायें थीं। भद्रा को देखते ही इनके भी संयम की चादर खिसक गयी और ये उसके साहचर्य के लिए तड़पने लगे। "दासो, सेविकाओं की भीड़ नीचे के खण्डों में रह जातीं और गणराजा शुद्धोदन के महासम्मत क्षत्रिय कुल में उत्पन्न सिद्धार्थ कुमार जगमगाती सीपियों में काँपती मोती के समान उस विभोर आनन्द में तृष्णा बनकर डूबता हुआ उच्छ्वास भर उठा था-भद्राकापिलायिनी।"[४] इच्छित वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् एक बार उसमें रम जाना अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। सिद्धार्थ भी विलासिता में डूबने लगे। भद्रा के अतिरिक्त शुद्धोदन ने सिद्धार्थ के लिए विलासिता के इतने प्रचुर उपकरण प्रस्तुत कर दिये थे कि उससे ऊब जाना राजपुत्र के लिए स्वाभाविक था।" 'अति सर्वत्र वर्जयेत।' विलासिता की छाया में पले हुए सुकोमल सिद्धार्थ विपत्तियों की कड़ी धूप में भी अपने साधना-पथ पर अग्रसर रहे। अन्ततः ज्ञान प्राप्त कर 'गौतम बुद्ध' कहलाये। जीवन काल में ही उनका यश चारों तरफ फैलने लगा। आर्य कोठ्ठित उनके यश के विषय में शुद्धोदन से कहा-"वह महावीर है। वह राजाओं का राजा है। वह चक्रवर्ती है। वह बिना दण्ड के शासन करता है। उसने वह कहा है, जो संसार में कोई नहीं जानता था।"[५] मृत्यु के अन्तिम क्षण तक गौतम बुद्ध अपने असंख्य शिष्यों के साथ संसारा में व्याप्त अज्ञान-तम को नष्ट करने के लिए बौद्ध-धर्म का दीप जलाते रहे, जिसकी लौ आज भी विश्व में टिमटिमा रही है।

यशोधरा

"यशोधरा का नाम गोपा भी आता है और कहीं भद्राकापिलायिनी तथा कहीं भद्राकात्यनी आता है। मैंने भद्रा कापिलायिनी लिखा है और यशोधरा भी।"[६] इस उपन्यास की सबसे बड़ी देन यशोधरा का अद्भुत चरित्र है। उपन्यास में यशोधरा का आगमन एकअनिंद्य सुन्दरी नायिका के रूप में हुआ है। इसके दर्शन मात्र से ही

---

१ वही, भूमिका।

१ यशोधरा जीत गयी, भूमिका।

२. वही, पृ० १७।

३ वही, पृ० १४।

४ वही. पृ० १५।

५ यशोधरा जीत गयी भूमिका।

कुमार सिद्धार्थ का संयम खिसकने लगा।[1] भद्रा के अद्भुत सौन्दर्य में संयम का अनोखा योग था। प्रणय सूत्र में बँध जाने के पश्चात् वह सिद्धार्थ की भाँति किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होती, अपितु वह पति को भी सँभालने का प्रयास करती थी। सिद्धार्थ के भिक्षु हो जाने के पश्चात् विद्रोहिनी यशोधरा पुरुष-वर्ग के मिथ्याभिमान एवं दम्भ पर गहरा आघात करती है। यशोधरा दया नहीं अधिकार चाहती थी, करुणा नहीं सहयोग चाहती थी। नारी पुरुष के समन्वय में ही वह पूर्णता मानती थी। नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है, तो पुरुष भी नारी से अलग होकर पूर्ण नहीं। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर वह आर्या गौतमी से कहती है-"मैं तपस्विनी नहीं हूँ आर्ये! मैं तो पति के सहारे से नहीं थी, मैं और मेरा पति मिलकर पूर्ण बनते थे, यही तो सहज स्वाभाविक था। फिर एक का अहं यदि अपनी अपूर्णताओं को पूर्ण कहने लगे, तो क्या दूसरे की पूर्णता भी अपने को उसके प्रतिशोध में अपूर्ण बना ले।"[2] यशोधरा का मन कभी-कभी पति के यश को सुनकर मुग्ध हो जाता था, किन्तु वह अपने अधिकार के लिए जलती रहती थी। सिद्धार्थ के कपिलवस्तु आने पर वह कहती है-"...... वह क्यों जाये? क्यों जाय अपना सिर झुकाने? और वह है कौन? वह उसका पति है। वह यदि चलकर आयेगा तो यशोधरा दस बार झुकेगी। यदि उसके चरण मुद्रा के लिए एक पग उठेंगे, तो भद्रा अपनी पलकों को धरती पर बीस बार बिछायेगी।"[3] द्वार पर गौतम के आने पर उसने अपराजित भाव से उनकी प्रदक्षिणा की।

यशोधरा अपने कर्तव्य पर सदैव अडिग एवं सतर्क रही। संयोग के समय न तो वह विलासिता के कीचड़ में ही फँसी और न तो वियोग के समय घर द्वार छोड़कर तपस्विनी ही बनी। प्रत्येक स्थिति में गौतम को झुकना पड़ा और सदैव यशोधरा अपराजित रही। इसलिए लेखक ने इस उपन्यास का शीर्षक भी 'यशोधरा जीत गयी' रख दिया।

ऐतिहासिकता

इस उपन्यास में लेखक ने ऐतिहासिक तथ्यों की पूर्ण रक्षा की है, कहीं-कहीं शोधपूर्ण तथ्य भी प्रस्तुत किये गये है। सभी मुख्य पात्र ऐतिहासिक हैं और ऐतिहासिक सीमा में ही अपने कार्यों को करते हैं। लेखक का दृष्टिकोण सांस्कृतिक परिस्थितियों की ओर अधिक है।

शिल्प

इस उपन्यास में संवाद-तत्व का समुचित समावेश हुआ है। दार्शनिक संवाद अधिकांशतः 'उत्तरा' में है, जो कला की सरसता से सिंचित हैं। ये जीवन की कटु घटनाओं से उद्भूत है, अतएव ये तर्क-वितर्क लेखक के नहीं, पात्रों के लगते हैं। उपन्यास की भाषा-शैली की विशिष्टता संस्कृतबहुल शब्दावली के प्रयोग में है। स्थान-स्थान पर काव्यमयी भाषा के प्रयोग से लेखक ने विषय की सरसता को बढ़ा दिया है। वाणभट्ट की परम्परा की शैली भी इस उपन्यास में द्रष्टव्य है। यथा-"वह दीर्घ नेत्रों वाली तरुणी जिसके सोने के रंग के शरीर पर यौवन अरुणोदय का उल्लास-सा लगता था, जिसको चलते देखकर लगता कि संध्या अपने आलक्तक लगे चरण धरती हुई सुवर्ण मेघ की दीप्ति से मनोरमा होकर रंग-विरंगे वस्त्र पहने चली जा रही थी, जिसके नेत्र फिरते थे तो रूप के तोरणों की सृष्टि करके पलकें वंदनवार झुलाती थीं, जिसके उन्नत कुचों को देखकर विक्षुब्ध मन आर्त्त पिपासा और असह तृप्ति से अपने आप झंकृत होने लगता था, जिसके सघन नितंब देखकर लगता था जैसे रशनाव्रणन के बहाने से हंस कलकूजन करके किसी रहस्यमय पुलिन भूमि पर सोने लगे हों, जिसकी क्षीण, किन्तु त्रिबली से शोभित देहयष्टि के मध्य भाग को देखकर लगता था कि जैसे अनिंद्य यौवन का वह सुवर्णकिरणावलंबित मेरुदण्ड अपने ऊपर और नीचे, सत्ता की दो अपूर्णताओं को मिलाकर एक किये देता था, जो अब मुस्कराती थी तो लगता था कि वे मांसल अधर अमृत के कलश के खुलते मुख की अपूर्व महिमा से आर्द्र हो गये थे, जिसके केशों की सघन राशि देखकर लगता था जैसे सघन रात्रि लहर-लहर बनकर किसी

---

१ 'कली को देखकर जिस प्रकार समीरण झोंके खाने लगता है, उषा का उदय जिस प्रकार महाकान्तार अपनी पक्षी रूपी पंक्तियों के कलरव के द्वारा अपने व्याकुल अवाहान का प्रसार करता है, जिस प्रकार पावस की उमंग भरी नदी को आते देखकर महासमुद्र आप्लावित होने की तृष्णा में गरजने लगता है, जिस प्रकार मेघराशि देखकर विजन और तप्त शैल मयूरों के निनाद के माध्यम से पुकारने लगते हैं, जिस प्रकार वसुंधरा को देखकर असंख्य नक्षत्रों के दीप जलाकर विशाल आकाश अन्धकार की वासना से फैलने लगता है, उसी प्रकार भद्राकापिलायिनी को देखकर सिद्धार्थ का वैभव, शक्ति, यौवन, सत्ता और समस्तीकरण का ऐक्य लरजने लगा था।'-यशोधरा जीत गयी, पृ० १३।

२ यशोधरा जीत गयी पृ० १५।

३ वही पृ० १२७।

जाये? अगर मैंने सब नारियों के लिए ऐसा कहा होता, तो तुझसी घरवाली के साथ घर रहता? कहीं अकेला भटकता नहीं।[१]" कबीर की नारी विषयक मान्यता थी कि "कौन कहता है स्त्री माया है, पाप है। वह जननी है, वह आद्या सृष्टि है। वही पूर्ण है। पुरुष उसका अंश है स्वयं अनन्त भगवान् भी स्त्री हीन नहीं है।.....वह पुरुष की विकृत वासना ही है जो इसे देखकर केवल कामिनी देखता है। वह इसकी आत्मा के पूर्णत्व को नहीं देखता।[२]" विवाहसंबधी अधिकांश मान्याताएँ आज जैसी ही थीं। लोई के विवाह पर कबीर ने कहा-"तेरा दादा न मानेगा तो?"

"क्यों न मानेगा? तू क्या जुलाहा नहीं है?"

" ...आदमी-सा लगता हूँ, पर यह तो तेरे भाई-बंदों पर है, वे तो उसे ही आदमी मानेंगे जो उन जैसे होंगे।[३]" विधवाओं का पुनर्विवाह उस समय भी नहीं होता था, कबीर सम्भवतः किसी विधवा के पाप के फल थे।

लेखक ने इस जीवनचरितात्मक उपन्यास में धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सम्यक् विवेचन किया है। धर्म का अस्तित्व अंध-विश्वासों एवं प्रचारकों की स्वार्थपरक नीतियों के कारण खतरे में था। धर्मस्थान भ्रष्टाचार के अड्डे बन चुके थे। विश्वनाथ के मन्दिर के प्रसिद्ध महन्त के विषय में कबीर ने देवीलाल से कहा-"मान है, पर काम तो उसके बड़े नीच हैं काका! सुबह कहारिन को छेड़ रहा था। वह रो रही थी।[४]" इसके पश्चात् कबीर ने मन्दिर के पण्डों के विषय में कहा-"अभी तीन दिन पहले की बात है। पण्डों ने औरत के जेवर उतार लिये और लाश गंगा में उतार दी। जिजमान रोता-चिल्लाता लौट गया। कोई सुनता है?[५]" कबीर ने धर्म में व्याप्त समस्त भ्रान्तियों को दूर करने के लिए प्रशंसनीय प्रयास किया। उन्होंने कमाल से अपनी धर्म-विषयक मान्याताओं को व्यक्त करते हुए कहा "........मैं इस देश के सब धर्मों को एक करना चाहता था। इस्लाम की गोदी में अनेक नीच जातियाँ ब्राह्मणों की कट्टरता से चली गयी है। परन्तु मै ब्राह्मण और इस्लाम दोनों को ही अमीरों और उच्च कुलों का धर्म मानता हूँ। हम गरीबों के तो यह दोनों धर्म नहीं हैं।[६]" इस प्रयास में कबीर को अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। "कबीर ने जो राह दिखायी वह मानवता के कल्याण की ओर ले जानेवाली थी। वह भारतीय सस्कृति के नाम पर भेदभाव वाले ब्राह्मणवाद को नहीं मानते थे। वे इस्लाम का विरोध करके भी उससे घृणा नहीं करते थे, और उसे मुक्ति का पथ भी नहीं समझते थे।[७]" कबीर ने भारतीय संस्कृति का एक नया रूप खींचा था, जिसमें जनजागरण का स्वर था। लेखक ने कहा, "कबीर ने तो भारत के सांस्कृतिक जन-जागरण की नींव डाली है। उसके युग के बंधन थे और उनकी उस पर छाप है।[८]"

'लोई का ताना' उपन्यास में राजनीतिक परिस्थिति का मात्र आभास होता है। लेखक ने कबीर की घटनाओं को केन्द्र मानकर अन्य परिस्थितियों का संदर्भ रूप में आकलन किया है, जिनमें सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियां उभर आयी हैं। लेखक ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति को खुली आँखों से देखा है और उसे उपन्यास में समाहित किया है। सिकन्दर लोदी काजी के बहकावे में आकर शासक के धर्म को भूल गया है और कबीर को प्राण-दण्ड की आज्ञा दी, परिणामत. सामान्य जनता ने विद्रोह कर दिया। "भीड़ नहीं रूकी। सैनिकों से युद्ध होने लगा। उस भीड़ में गरीब थे, वे हिन्दू भी थे, मुसलमान भी, जुगी भी, जुलाहे भी।[९]" लेखक ने राजनीति को सामाजिक कल्याण के रूप में स्वीकार किया है। मध्ययुगीन जीवन में धार्मिक विश्वासों और धार्मिक मतवादों को प्रमुख स्थान मिला था, राजनीतिक विश्वासों और आन्दोलनों को गौण।

चरित्र

'लोई का ताना' उपन्यास के कथानक का आधार कबीर का अक्खड़ व्यक्तित्व है। कबीर, लोई और

---

१ लोई का ताना, पृ० ३४।
२ वही, पृ० ८६।
३ वही, पृ० ७७।
४ वही, पृ० ७१।
५ वही, पृ० ७२।
६ वही, पृ० ११४।
७ वही, पृ० ६(भूमिका)।
८ लोई का ताना पृ० ७ (भूमिका)
९ वही पृ० १४१।

कमाल के अतिरिक्त अन्य पात्र निरर्थक-से ही हैं। वास्तव में उपन्यास की सबसे महत्वपूर्ण सृष्टि कबीर का अद्भुत व्यक्तित्व ही है। कबीर का व्यक्तित्व अपने आप में तो प्रखर प्रभावशाली है ही, साथ ही उपन्यास के अन्य पात्रों के ऊपर भी छाया रहता है। कबीर का परिचय ही विचित्रताओं के अन्तराल में होता है। विधवा अथवा कुमारी के गर्भ से उत्पन्न यह अनाथ बालक निःसन्तान नीरु और नीमा दंपत्ति के गोद में पला। कबीर की सात वर्ष की अवस्था में ही पिता नीरु कादेहान्त हो गया, जिसके कारण इनके पालन-पोषण का भार माता नीमा पर ही पड़ा। निम्न वर्ग के कबीर ने बचपन से अपनी जाति का शोषण, दोहन तथा अपमान देखा था। ब्राह्मणों के रूढिवाद तथा कट्टरता एवं मुल्लाओं की स्वार्थ नीति को इन्होंने अच्छी तरह से परखा था। अपने अक्खड़पन एव स्पष्टवादी स्वभाव से इन्होंने योगी, शाक्त, शैव, वैष्णव, मुल्ला, पंडित, पुजारी सबको चकित कर दिया था। सोलह वर्षीय कबीर की विलक्षण प्रतिभा से आकर्षित होकर पन्द्रह वर्षीया लोई इनसे प्रेम करने लगी, जिसका परिणाम अन्ततः विवाह-रूप में परिणित हुआ। इनकी अतिरिक्त उदारशीलता से चकित होकर लोई सहज भाव से कहने लगी- "तू कल अपने पैसे उस लॅगड़े और अंधे सूरा को दे आया था, परसों मैंने देखा था तूने चार कौडियॉ एक साधू को दे दी थीं। तू बड़ा दाता है न। ला, मेरे लिये क्या लाया है?"

"तेरे लिए?" कबीर ने कहा- "मै तेरे लिए इन सबसे अच्छी चीज लाया हूँ। यह है! बोलती मिट्टी।"

"कौन?"

"मै हूँ जो।[१]"

इनकी धार्मिक मान्यताओं के क्रमिक परिवर्तन को कमाल ने व्यक्त किया-"पिता पहले सगुण मानते थे। फिर वे रहस्य की ओर झुके। रहस्य ने शून्य पर पहुँचाया। शून्य ने साधु बनाया। साधु बनकर भीख माँगनी पडी तो घृणा हो गयी। पेट के लिए इज्जत ने पुकारा। इज्जत ने कहा-मेहनत कर। मेहनत ने ईमान की ओर भेजा। ईमान ने उन्हें ठोस तार्किक बना दिया।"[२] तत्पश्चात् उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा से धर्म की संकीर्णता की परिधि में जकड़े हिन्दू-मुसलमानों को फटकारा, जिसके कारण सभी उनके शत्रु हो गये।" उसे सुल्तान लोदी ने रोका, मुल्लाओं ने रोका, महन्तों, मठाधीशों और पंडितों ने रोका, उसे नाथ जोगियों ने घोलकर समाप्त कर देने की कोशिश की, लेकिन वह! वह नहीं मिटा।[३]" "मानवतावादी कबीर को जनता का पूर्ण समर्थन मिला। सिकन्दर लोदी भी उस विद्रोही को नहीं दबा सका; क्योंकि वह जनता का प्रतिनिधि था।" "कबीर पढ़े-लिखे न थे। कविता लिखते नहीं थे। वे तो फौरन सुनानेवालों में थे। लोग लिखा करें, उन्हें इससे बहस नहीं थी।"[४] किन्तु इस भारतीय संस्कृति के पोषक को लोई की मृत्यु के पश्चात् गहरा आघात लगा और अल्प समय में ही ये स्वर्गवासी हो गये। कमाल ने अपने पिता के अद्भुत व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए कहा-"कबीर जैसा मनुष्य तब तक इस देश में हुआ नहीं था, वह कैसा नया मनुष्य था, अपराजित,अनिंद्य, महान निष्कलक ...।[५]"

कबीर के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्रों में कमाल, सिकन्दर लोदी, उज्झकनाथ, हरनाथ, रामा देवीलाल आदि मुख्य हैं। इनमें कमाल के अतिरिक्त अन्य पात्र भरती किये गये है। सिकन्दर लोदी इतिहाससम्मत पात्र है,जो इस उपन्यास में नृशंस और अविवेकी के रूप में चित्रित किया गया है। कबीर-लोई दंपति का इकलौता पुत्र कमाल संस्कारगत अपने पिता के आदर्श का पोषक था। इसलिए उसने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उनके उन शिष्यों का विरोध किया जो कबीर की मूर्ति की पूजा करते थे एवं गद्दीधारी बनते थे। कमाल ने हरिद्वार के पण्डा से कहा-'नहीं बाबा! मुझे गद्दी नहीं चाहिए। मेरा बाप गद्दीधारियों के ही खिलाफ तो जन्म जिंदगी लडता रहा।[६]" लेखक की गहरी समानुभूति के पश्चात् भी कमाल का चरित्र कहीं भी उभर नहीं पाया है। वह उपन्यास के प्रथम पृष्ठ से लेकर अन्तिम पृष्ठ तक अपनी स्मृतियों के आधार पर कथानक का वर्णन करता है और एक कथावाचक की भाँति अपने को प्रायः कथानक से दूर रखता है।

नारी पात्रों में लोई का स्थान सर्वोच्च है। अन्य नारी पात्र गणना के लिए गिनाये गये हैं। लेखक ने पाठकों

---

१ वही, पृ० ८०।

२ लोई का ताना, पृ० ११७।

३ वही, पृ० ५।

४ वही, पृ० ७, भूमिका।

५ वही पृ० १५१

६ वही पृ० २।

के सम्मुख लोई को विभिन्न स्थितियों में प्रस्तुत कर अपनी प्रगतिशील भावना को व्यक्त किया है। लेखक की सहानुभूति कबीर की अपेक्षा लोई के साथ अधिक है। कबीर जहाँ प्रेम की चर्चा करता हुआ दिखायी पड़ता है, वहाँ लोई अपने को समर्पित करती हुई मिलती है। कहीं-कहीं तो उसका चरित्र कबीर के चरित्र की अपेक्षा अधिक सबल रेखाओं से खींचा गया है। कबीर के यह कहने पर कि मैं 'तेरे रंग में रंग गया हूँ', वह कह उठती है, "यही मुझे डराता है। मैं दुनिया में सब कुछ नहीं हूँ, कबीर जैसे तेरे लिए बहुत कुछ है, वैसे ही उस सब में मैं भी हूँ।[१]" दीनता और क्षुद्रता उसके चरित्र में कहीं भी नहीं है। वह पतली-दुबली पन्द्रह साल की लडकी सामाजिक मर्यादा की सीमा को स्वीकार करती हुई कबीर से प्रेम करती है और कबीर से एक दिन एकान्त में कह उठती है-"अब मैं तब ही आऊँगी कबीर, जब तुम मुझे दिन-दहाड़े हजार जुलाहों के बीच सामने से बाजे बजवाकर लाओगे। अब चटनी बंद।"[२] वह अपने जीवन के दर्शन को व्यक्त करती हुई कहती है-'तू कमा के गेहूँ, चना, जौ ला। मैं पीस के राटी करूँगी। तू खा और मुझे खिला। अपना काम तू कर, अपना काम मैं करूँगी।"[३] उसके चरित्र का प्रकाश-पुंज उस समय अधिक प्रकाशित होता है, जब वह रात्रि के समय आये हुए साधु के लिए सेठ के यहाँ अपने शरीर को अर्पित करने की प्रतिज्ञा कर आटा लायी। कबीर उसके चरित्र की ऊँचाई को देखकर चकित रह गया और कहने लगा-"तू नाज माँगने गयी। जिसने अनाज दिया उसे तेरा रूप अच्छा लगा। उसने बदले में तुझे माँगा। तू हाँ कर आयी। तो फिर वचन निभा लोई।......तू पवित्र है। तू अपने लिए नहीं, दूसरे के लिए भीख माँगने गयी थी। आज तो कोई जवानी ही चाहता है। काल को कोई सिर भी माँग बैठा, तो क्या तू हट जायेगी।"[४] पति की आज्ञा पाकर लोई सेठ के पास गयी, किन्तु सेठ उसके चरित्र की उज्जवलता से चकाचौंध होकर चिल्ला उठा-"लोई तू मेरी माँ है, तू मेरी माँ है।"[५] पत्नी की सार्थकता प्रेम में निहित है, जिसे प्राप्त करने का पूर्ण गौरव लोई को मिला था। जिस समय सिकन्दर लोदी ने कबीर को प्राण दण्ड की आज्ञा दी, लोई झपटी और हाथी ने सूँड में लपेट कर फेंक दिया। वह कबीर के चरणों पर अचेत सी गिर गयी[६] और सदा के लिए सो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् कबीर ने शोकाकुल पुत्र कमाल से कहा-"नहीं बेटा! वह तो कबीर बन गयी। अब कबीर चला।"[७] लोई के इसी उदात्त चरित्र कबीर का प्रेरणास्त्रोत था। उसने कबीर को प्रेरित करते हुए कहा-"मैं ताना डालूँगी, तू बाना डाल, तू मेरे पास आये तो आँख खोल कर आ।"[८]

शिल्प की दृष्टि से इस उपन्यास में नवीनता भी है और प्रौढ़ता भी। लेखक ने सम्पूर्ण कथानक को कमाल के मुख से कहलाया है जो इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशिष्टता है।" पहले कमाल उपसंहार में अपनी परिस्थिति बताता है। तब कबीर मर चुका है और पंथ बन गया है। 'उपसंहार से पहले' में कबीर की मृत्यु के बाद गुरुओं की कविताओं को सुनाकर आपस में लड़नेवाले चेलों का वर्णन है। फिर 'आरंभ' तक कबीर के विशेष रूप है। मरजीवा वाला अध्याय कबीर की महानता, नया पंथ और उसके चिंतन को स्पष्ट करने को है। अंतिम अध्याय में कबीर के जीवन के मोड़ हैं।[९]" लेखक ने कतिपय स्थलों पर कथोपकथन को पात्रानुकूल लिखा है। "बहता पानी तो भाखा[१०] है, अच्छा सुसरे! मै अब बन्द कर दूँगी, तो दो दिन में तुझे आटे-दाल का भाव मालूम पड जायेगा।[११]" किन्तु इस उपन्यास की सबसे बड़ी कमजोरी है पदों तथा साखियों की भरमार। इस उपन्यास का अधिकांश भाग पदों से ही भरा है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि इस जीवनचरितात्मक उपन्यास में चरित्र एवं देशकाल के सुन्दर एवं सजीव चित्र प्रस्तुत किये गये है। लेखक ने अपनी प्रतिभा से महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पात्र कबीर को युग-निर्माता

---

१ लोई का ताना, पृ० ८३-८४।
२ वही, पृ० ७८।
३ वही, पृ० ८४।
४ वही, पृ० १४३।
५ वही, पृ० १४४।
६ वही, पृ० १४१।
७ वही, पृ० १५१।
८ वही, पृ० ८४।
९ लोई का ताना, पृ० ७, भूमिका।
१०. वही, पृ० ४५।
११. वही, पृ० ७३।

लोकनायक एवं साहित्यकार के रूप में चित्रित करने में पूर्ण सफलता पायी है। उत्तर भारत की बयनजीवी जाति (हिन्दू जुलाहे) के धर्म-परिवर्तन की बात भी तर्क-सम्मत है। इस परिवर्तन को महापंडित राहुल एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है। कुल मिलाकर उपन्यास के क्षेत्र में यह एक अनूठा प्रयोग है।

रत्ना की बात

'रत्ना की बात', १९५४ डॉ० रांगेय राघव का बहुचर्चित एक लघु जीवनचरितात्मक उपन्यास है। महाकवि तुलसीदास के जीवन के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर है। लेखक ने बहिर्साक्ष्य एवं अन्तर्साक्ष्य तथा जनश्रुतियों के आधार पर ही इस उपन्यास के कथानक का निर्माण किया है। काशी में गंगा नदी के तट पर मरणासन्न तुलसी की आँखों में उनके जीवन का प्रत्येक अध्याय क्रमशः खुलने लगा और वे उस कष्ट में अपने सम्पूर्ण संघर्षमय जीवन को देखने लगे। इन्हीं से उपन्यास का कथानक निर्मित हुआ है। लेखक ने महाकवि तुलसीदास के महान् व्यक्तित्व के माध्यम से उस युग की समस्त राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। 'लोई का ताना' लिखने के पश्चात् लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट हो गया और उसने अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ कहा-"तुलसी के सामाजिक कार्य, उनकी भक्ति, उनके सुधार, उनके विद्रोह, उनके विचार, उनका दृष्टिकोण ऐसे विषय है जिन पर लोगों का भिन्न मत है। जो तुलसीदास कहते हैं हमें वह देखना चाहिए। तुलसी ने जो प्रगति की, उसे समझने के लिए केवल उन्हें देख लेना काफी नहीं है, उनके पूर्ववर्ती युगों को भी देखना आवश्यक है।[1]"

तुलसी के युग का सम्पूर्ण समाज विश्रृंखलित, अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न हो रहा था। तत्कालीन हिन्दू समाज अपने आन्तरिक संघर्षों से जर्जर हो रहा था। कबीर के प्रशंसनीय प्रयास के पश्चात् भी उच्च वर्ण और निम्न वर्ण के बीच की दूरी बढ़ती जा रही थी। गंगा नदी के तट पर संस्कृत के श्लोकों के सुनायी पड़ने पर "...... अंधेरे ही पथों पर झाड़ू लगा चुकनेवाले मेहतर अब वहाँ से भाग निकले, ताकि अपने दर्शन से वे उच्च जाति के पवित्र लोगों को प्रातःकाल ही अशुभ के सम्मुख न ले जा सकें।"[2] समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। बालक रामगुलाम की आर्त्तवाणी को सुनकर स्वामी नरहरिदास ने लोगों से कहा-"ब्राह्मण ब्राह्मण ही है।......इसमें ब्रह्मा का तेज है। यह पृथ्वी के देवता का रूप है।...... यह मुनियों की सन्तान है, यह साधारण मानव नहीं है। यह ब्राह्मण है।[3]" एक ओर जहाँ समाज परस्पर वैमनस्य से टूट रहा था, वहीं दूसरी ओर निरंकुश विदेशी शासक के शोषण से आर्थिक विपन्नता के कारण अत्यन्त दयनीय भी हो रहा था। अधिकारों के प्रति नितांत जागरूक अधिकारीवर्ग अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्णतया उदासीन था, किन्तु किसानों से बलपूर्वक विविध प्रकार के कर वसूल करता था। इस स्थिति से क्षुब्ध होकर तुलसीदासजी ने ईश्वर से आराधना की कि "भूख से लोग व्याकुल हो गये हैं। दारिद्र्य खाये जा रहा है प्रभु! नारियाँ अपमानित हैं। वर्ण टूट गये हैं। ब्राह्मणों का तेजस् बुझ-सा गया है। गंगा अपनी पवित्रता को खो रही है और अनाचार दिखायी देने लगा है। सामंत अपनी प्रजा को भून-भूनकर खा रहे है और विदेशों को खिला रहे हैं।"[4] समाज अपने अंधविश्वास के कारण भी लड़खड़ा रहा था। तुलसीदासजी ने सामाजिक परिस्थिति को सुधारने के लिए वर्णगत भेदों को दूर करने का प्रयास किया।

---

१ रत्ना की बात, पृ० ६, भूमिका।

२. रत्ना की बात, पृ० २।

३. वही, पृ० ३७।

४. वही, पृ० १२७, और भी देखिये-

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों' कहाँ जाई, का करी?'
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै, पै राम! रावरे कृपा करी।
दरिद-दसानन दबाई दुनी दीन बंधु!
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी। क०।९७।

वे कबीर की भाँति वर्णाश्रम के विरोधी नहीं थे, किन्तु ब्राह्मणों में व्याप्त बुराइयों के घोर निंदक थे।[१] ब्राह्मणवादी विचार के कारण तुलसीदासजी वर्णाश्रम के दृढ़ समर्थक थे। इसलिए उस युग में वर्णाश्रम की दुर्दशा देखकर उनका चित्त विचलित हो गया था।[२] उन्होंने आदर्श समाज की कल्पना करते हुए कहा-"वही समाज चाहिए था जहाँ ब्राह्मण पूज्य हों, पर जहाँ वे लोलुप न हों, जो रूढ़ि में अपना अहंकार लिये न बैठे रहें, वरन् वेद, ब्राह्मण और पुराणों आदि की रक्षा के लिए निम्न वर्णो को सहूलियत दें और निम्न वर्ण वेद और ब्राह्मण को पूज्य मानकर वर्णाश्रम को सिर झुका दें। वह समाज चाहिए था जहाँ वेद को पूज्य माननेवाले सम्प्रदाय परस्पर लड़ें नहीं।"[३]

इस उपन्यास में लेखक ने नारियों की सामाजिक स्थिति पर हल्का प्रकाश डाला है। कबीर-युग की अपेक्षा नारियों की स्थिति इस युग में अधिक संतोष-प्रद रही। नारी मनुष्य के विकास-पथ में अवरोध न होकर सहायिका थी। इसलिए रत्ना ने तुलसी से कहा-"मैं अर्द्धांगिनी हूँ। धर्मपत्नी हूँ। मैं स्त्री हूँ। तुम पुरुष हो। इतना मेरा तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है? हमारा तुम्हारा धर्म का भी तो सम्बन्ध है। हम-तुम तो गाड़ी के दो पहिए है। एक पर दूसरा अटक कर रह जायगा तो गाड़ी चलेगी कैसे?"[४] समाज में वेश्यावृत्ति का प्रचलन था। नारियों को उस युग में भी सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करना पड़ता था। विवाह जातीय हुआ करते थे और उसमें पिता की इच्छाओं की प्रधानता थी। पुरुषों के पुनर्विवाह का भी संकेत इस उपन्यास में मिलता है। वर्णाश्रम के दृढ़ समर्थक तुलसीदास ने नारियों के चरित्र को समाज का मूलाधार माना है।

डॉ० रांगेय राघव ने प्राय. अपने सभी जीवनचरितात्मक उपन्यासों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का संस्पर्श किया है। भारतीय जन-समाज को स्वस्थ एवं आदर्श रूप में देखने के अभिलाषी होने के नाते डॉ० रांगेय राघव का इन परिस्थितियों की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। तुलसी-युग में निशाचर रूपी यवन हिन्दू-धर्म को निर्मूल करने के लिए कटिबद्ध थे, जिसके कारण हिन्दू जाति अत्यन्त सन्त्रस्त थी। म्लेच्छों की दुर्नीति से क्षुब्ध होकर स्वामी नरहरिदास ने तुलसी से कहा-"आज म्लेच्छों के कारण प्रजा में कलि का अट्टहास हो रहा है और व्यामोह में वे ही पवित्र ब्राह्मण अपने त्रैलोक्य को कंपित करनेवाले पराक्रम को भूल कर आज भटक रहे है?

.....शूद्र ब्राह्मण बन रहे है, म्लेच्छ धर्मनाश कर रहे हैं। चारों ओर वर्णाश्रम का ध्वंस हो रहा है।"[५] ब्राह्मणों की धार्मिक संकीर्णता के कारण भी हिन्दूएकता खतरे में थी। गोस्वामी तुलसीदासजी धर्म का सर्वतोमुखी ह्रास देखकर अत्यन्त क्षुब्ध हुए और हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए उन्होंने समस्त अनैतिक कार्यों का घोर प्रतिकार किया। उनको पथ पर अग्रसर होने के लिए अनेक व्यवधानों का सामना करना पड़ा। "जोगियों के द्वारा जब खतरा हुआ कि वे तुलसी को मारेंगे; तब भी महाकवि विचलित नहीं हुए।"[६] तुलसीदासजी भारतीय संस्कृति के प्रबल उपासक थे। "तुलसी पुनरुत्थानवादी थे। कबीर के लिए पुरानी संस्कृति एक बोझ थी। तुलसी ब्राह्मण थे, अत. उनके लिए वह गौरव थी। तुलसी ने उसी धर्म को फिर से मर्यादा दिलायी। एक फर्क यह हुआ कि तुलसी ने रूढ़ियों के उन पुराने बंधनों को तोड़ा जो वेद-ब्राह्मण की शक्ति को रोकते थे। उन्होंने रियायतें देकर अधिकार प्राप्त किये।"[७] भारतीय भक्तिमार्ग के भीतर भी उन्होंने बहुत-सी बढ़ती हुई बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया। शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को उन्होंने अपनी समन्वयवादी व्यवस्था द्वारा रोकने का सराहनीय प्रयास किया। "तुलसी

---

१ *विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।।* -रामचरितमानस ।७।१००।४।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहि मान निगम अनुशासन। - रामचरितमानस ।७।९८।१।
प्रभु के बचन वेद बुध संमत मम मूरति महि देव मई है।
तिनकी मति रिसराग मोह मद लोभ लालची लीलि लई है। -विनयपत्रिका। १३९।२।

२ *जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।*
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाई होहि संन्यासी।।
ते विप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।
सूद्र करहि जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।
सब नर कल्पित करहि अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा।। -रामचरितमानस ७।१००।३-५।

३ *रत्ना की बात, पृ० १४६।*

४ *वही, पृ० ८६।*

५ *वही, पृ० ३१।*

६ *वही पृ० १२३।*

७ *रत्ना की बात पृ० ६ भूमिका*

के पहले भक्ति-आंदोलन निम्नवर्णीय विद्रोह का प्रतीक था जो कहता था कि भगवान् के सामने सब बराबर है। तुलसी ने उसे तो माना ... परन्तु वेद-धर्म को समाज के लिए आवश्यक माना और पुनरुत्थान की ओर समाज को जगाया। तुलसी की भक्ति सामाजिक रूप में वेद, धर्म और व्यक्तिपक्ष में भगवान से याचना थी।"[1] राम ने व्यापकत्व की शिक्षा तुलसीदास को उनके गुरु नरहरिदास ने दी थी। एक दिन स्वामी नरहरिदास ने तुलसीदास की शंकाओं को दूर करते हुए कहा-"शिव और राम एक ही हैं। वे तपस्वी के रूप में शिव हैं और लोकोद्धारक जगत् के नायक के रूप में राम हैं। राम ही सबसे बड़े हैं।"[2] तुलसीदास कबीर की भाँति कहीं भी हिन्दुओं और मुसलमानों में भावनात्मक एकता स्थापित करते हुए इस उपन्यास में चित्रित नहीं है। तुलसीदासजी की ब्राह्मणवादी विचारधारा के कारण उस युग में पुनः लड़खड़ाती हुई ब्राह्मणों की स्थिति सुधर गयी। "ब्राह्मण ने फिर भारत को विदेशी संस्कृति के विरुद्ध जाग्रत किया था और वेद-विरोधियों को कुचल कर रख दिया था।"[3] गोस्वामी तुलसीदासजी मूलतः भक्त, कवि एवं समाज-सुधारक थे, इसलिए उनकी प्रतिभा राजनीति के कीचड़ में फँस न सकी। जीवनचरितात्मक उपन्यास होने के कारण लेखक को महाकवि के साथ चलना पड़ा है, इसलिए राजनीतिक परिस्थितियों पर अत्यन्त हल्का प्रकाश पड़ पाया है। हिन्दू शासक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण देश के साथ खिलवाड़ कर रहे थे। तत्कालीन शासकों की गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए स्वामी नरहरिदास ने तुलसी से कहा-"हिन्दू राजा अपने प्राचीन गौरव को भूलकर कुत्तों की तरह विदेशी के सामने जीभ लटकाये बैठे हैं और पराये हाथों में पड़कर यह बाज अपने ही देश की प्रजारूपी चिड़ियों का शिकार कर रहे हैं। वे अपने स्वार्थों में पड़कर देश का गौरव भूल गये हैं।"[4] तुर्कों की नृशंसता के कारण सामान्य जनता असहाय होकर भूखों मर रही थी। तुलसीदास जी ने इस विषम राजनीतिक परिस्थिति से क्षुब्ध होकर ईश्वर से प्रार्थना की कि 'कलि ने सब चौपट कर दिया है। म्लेच्छों का मदांध शासन अपने अत्याचार में मस्त हो रहा है। कौन करेगा इस देश की रक्षा। धर्म का नाश कौन रोकेगा प्रभु! आपने रावण को मारा था, इस कलि को नहीं मारेंगे'?'

प्रामाणिकता

उपन्यासकार कोरे इतिवृत्त-वर्णन द्वारा अपनी कृति को सरस नहीं बना सकता। इतिवृत्तात्मक अंशों को औपन्यासिक रमणीयता प्रदान करने के लिए लेखक को चित्ताकर्षक काल्पनिक घटनाओं का भी संयोजन करना पड़ता है। डॉ० रांगेय राघव इस प्रकार की कला में पूर्ण सिद्धहस्त थे। 'रत्ना की बात' में यथार्थ और कल्पना का मणि-कांचन संयोग हुआ है। तुलसीदास के प्रामाणिक महापुरुष होने के कारण लेखक को उनकी घटनाओं के सम्बन्ध में विशेष सावधानी रखनी पड़ी है। तुलसीदास का जन्म-स्थान सोरों, (सूकर क्षेत्र)[5] इनके पिता आत्माराम दूबे एवं माता हुलसी[6], तथा इनकी पत्नी 'रत्ना'[8] आदि प्रमाणिक पात्र हैं। इसके अतिरिक्त उपन्यास में वर्णित अन्य घटनाएँ जैसे-तुलसी के बचपन का क्लेश, विभिन्न नाम-परिवर्तन, पत्नी में आसक्ति एवं उससे विरक्ति आदि भी प्रामाणिक है। इन तथ्यों पर प्रभृति विद्वानों ने महत्वपूर्ण शोध की है और उन्हीं प्रमाणों के आधार पर उपन्यासकार ने उपन्यास का ताना-बाना बुना है।

चरित्र

चरित्र-विधान कथात्मक साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि उसके पात्र ही सम्पूर्ण घटना-चक्र के आधार

---

१. वही, पृ० ७।

२. वही, पृ० ५९।

३. वही, पृ० १३६।

४. वही, पृ० ५३।

५. वही, पृ० १४०।

६. "पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० रामव्रज भारद्वाज, डॉ० राजाराम रस्तोगी आदि सोरों सामग्री को प्रामाणिक मानते हुए सोरों का सूकरखेत को तुलसी का जन्म-स्थान मानते हैं। डॉ० उदयभानु सिंह-'तुलसी काव्य-मीमांसा', पृ० १५९।

७. "सोरों-सामग्री के अनुसार तुलसी की माता का नाम हुलसी और पिता का नाम आत्माराम शुक्ल था। राजापुर-पक्ष की कथा-प्रथा में आत्माराम दूबे बतलाया गया है।"

८. '[illegible]' 'रत्नावली चरित्र' और 'तुलसी प्रकाश' में तुलसी के विवाहित जीवन का विशेष विस्तार से वर्णन किया गया है। उसमें रत्नावली को पत्नी [illegible] गया है। डॉ० उदयभानु सिंह- तुलसी [illegible] पृ० १७१।

होते हैं। 'रत्ना की बात' का मुख्य प्रतिपाद्य 'तुलसी-चरित' ही है। इनके अतिरिक्त अन्य पुरुष-पात्रों में आत्माराम दूबे, मलकूराम, नारायण, पण्डित रामेत, पण्डित सालिगराम, विश्वंभरनाथ, स्वामी नरहरिदास, शेष सनातन मगल, मनोहरदास आदि मुख्य हैं, किन्तु स्वामी नरहरिदास के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र गणना के लिए गिनाये गये है और तुलसीदास से अपना सम्बन्ध बनाकर तुरन्त ही गायब हो जाते है। तुलसीदास का जीवन अनेक अवरोधों के अन्तराल में ही आगे बढ़ता है। जीवन के प्रारम्भ से ही माता-पिता एवं अन्य संबंधियों के प्रेम से वचित तुलसी प्रेम के भूखे रहे, इसलिए रत्ना को पाते ही अपनी चिरपिपासा की तृप्ति के लिए उस टूट पड़े। पत्नी रत्ना के लिए यह एक अनहोनी घटना थी और वह पति के इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर उनसे खिन्न रहने लगी। रत्ना के इस व्यवहार से तुलसी का हृदय भभक उठा और उन्होंने कहा- "जन्म होते ही जिस अभागे को घर में माता-पिता और सम्बन्धियों का प्रेम नहीं मिला, जो कुत्ते की तरह अपमान और ठोकरें सहता हुआ अपने हृदय का भार लिए डोलता रहा, उसे अब ही तो स्नेह मिला है। रत्ना! मैं बड़ा दुःखी था रत्ना! बड़ा दुःखी था। ······ हीनत्व की वह कचोट, अपनेपन का वह तिरस्कार जो संसार ने मुझे दिया था, वह मैं कैसे भूल सकता था रत्ना!······ तेरे स्पर्श से मै पर्वत के समान लहलहा उठा हूँ, रत्ने! तू मेरी है। तू मेरी है

।[१]" तुलसी की भाँति आज भी अनेक प्रेमपिपासु उपयुक्त अवसर पाने पर अपनी संयम की चादर फेंकते हुए दिखायी पड़ते हैं। लेखक ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से तुलसी की गतिविधियों को चित्रित किया है। यह बडा ही मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब कोई व्यक्ति किसी कारण से अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तु से विलग होता है तो वह दूसरी दिशा में भी तीव्र गति से आगे बढ़ता है। तुलसी के साथ भी यही मनोवैज्ञानिक सत्य था। पत्नी की दुत्कार के पश्चात् उनकी अन्तरात्मा चीख उठी "क्षमा करो राम! मेरे स्वामी! मैं अपने ही अहकार में डूबा रहा। मैं जगत के अनेक व्यापारों के जंजालों में अपने को फंसाये रखा और नारी की काया में मैंने अपने को बंदी बना लिया। मैं उस रक्त-मांस क ढेरी में अनन्त सुखों को खोजता हुआ मृग मरीचिका में हांफता हुआ भागता रहा। एक दिन भी यह नहीं समझ सकात किइस लघुता के पर एक विशाल आकाश है जिसमें आनन्द का देदीप्यमान सूर्य अपना भव्य आलोक त्रिभुवन में विकीर्ण किया करता है।[२]" इस घटना के पश्चात् तुलसी अनवरत गति से सत्पथ पर अग्रसर होते रहे और कालान्तर में वे एक महान कवि, समाजसुधारक, भक्त एव सस्कृति के महान पोषक हुए। उनके व्यक्तित्व से परिचित होने पर काशी-नरेश ने उनकी मुक्त कंठ सक प्रशसा करते हुए कहा-"तुलसीदास कलियुग के बाल्मीकि हैं। महाराज! राजा प्रजा को भूल गये। राजा और प्रजा धर्म को भूल गये। आपने फिर से सबको जगा दिया। आपने सोते हुए लोक को फिर से उठाने को बाध्य कर दिया। मैंने सुना था आप धर्म नाश कर रहे है। परन्तु आप तो धर्म के एकमात्र रक्षक हैं।[३]

डॉ रांगेय राघव ने इस उपन्यास में नारियों का अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक चित्रण किया हैं। लेखक को नारी-चित्रण में जितनी सफलता इस उपन्यास में मिली है उतनी किसी भी जीवनचरितात्मक उपन्यास में नहीं मिल पायी है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि नारी दूसरी नारी के सुखद प्रति-प्रेम को देखकर ईर्ष्या करती है और उसके उस जीवन को बिगाड़ देने में ही आनन्द का अनुभव करती है। रत्ना के पति-प्रेम को देखकर एक चाची कहने लगी, "मरद किसका नहीं होता। मेरे ही नौ वच्चे हुए। पर ऐसा कभी नहीं हुआ। वे अब तो नाना हो गये अभी दिन में नहीं बोलते, और यह भी खूब बेशरमी उठा रखी है। दिनदहाड़े लुगाई के घड़े लेकर कहता है-"कहीं रपट न जाये। ऐसी नहीं बड़ी रानी ले आया है फूलनदेई।"[४] अन्ततः भाभी चम्पा ने रत्ना को अकेले ही चली जाने के लिए प्रेरित कर दिया और स्वयं अपनी रक्षा के लिए उससे कहा-"तू जा तो रही है, पर कहीं मेरा नाम न आये।"

"कैसे?"

"कि मैंने तुझे भेज दिया"

"आ जाये तो क्या है?"

"अरी, देवर तो मेरे उनसे कह देगा। तू नहीं जानती, यह मरद मरद आपस में फौरन मिल जाते है।"

"अच्छा नहीं कहूँगी।" 'रत्ना ने कहा।[५]'

---

१ रत्ना की बात, पृ० ८७।

२ वही, पृ० १०७।

३ वही पृ० १३४।

४ वही पृ० ९५। ५ रत्ना की बात पृ० ९७।

इसके पश्चात् लेखक ने नारी-पुरुष के वासनामय सम्बन्धों का भी बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। नवविवाहिता रत्ना से उसके पति तुलसी की आसक्ति को सुनकर चम्पा ने सहज भाव में कहा-"सब मरद शुरू में ऐसा ही प्रेम जताते हैं। एक आद बच्चा हुआ कि फिर खतम। फिर तो गाड़ी ढोई जाती है। तेरे जेठ भी ऐसे ही थे। मुझे तो परेशान कर दिया था। रो रोकर हलकान हुई जाती थी, पर मानते ही न थे।[1]"

नारी पात्रों में केवल रत्ना को ही लेखक की सहानुभूमि मिल पायी है। वह भी उपन्यास में चन्द्रिका के रूप में अवतरित होती है और तुलसी के जीवन में शीतल प्रकाश देकर पुनः विलीन हो जाती है। तुलसी उसी की प्रेरणा से ही जीवन में अप्रत्याशित सफलता प्राप्त करते है। मृत्यु के समय तुलसीदास ने एक स्वपन देखा, जिसमें एक प्रश्न था कि "किसने दी यह प्रेरणा। रत्ना की बात ने। रत्ना। यदि वह न होती तो।" स्वप्न टूट गया।[2]

रत्ना की इसी प्रेरणा के कारण ही लेखक ने इस उपन्यास का शीर्षक "रत्ना की बात" रखा जो अत्यन्त ही सार्थक है।

शिल्प

शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास अत्यन्त सशक्त है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मरणासन्न तुलसी अपने सम्पूर्ण संघर्षमय जीवन को एक-एक करके देखते हैं। कुशल कलाकार ने प्रत्येक घटना के पश्चात् तुलसीदास के वृद्धत्व की झांकी दी है और कुछेक वाक्यों के पश्चात् पुनः अग्रिम घटना चित्रित की है। बीच-बीच में स्वप्नादि का वर्णन कर लेखक ने उपन्यास को अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। इस उपन्यास में भी कवि का व्यक्तित्व झलकने लगता है और अनेक स्थलों पर शैली अत्यन्त ही काव्यात्मक हो उठी है। व्यंग्य का चुटीलापन भी इस उपन्यास में अनेक स्थलों पर दृष्टिगत है। किन्तु इस उपन्यास में कुछ दुर्बलताएं हैं जो इसे आत्यंतिक सार्थक उपलब्धि के स्तर को छूने में असफल बना देती है। लेखक ने इस उपन्यास में पदों की भरमार कर दी है और उनके अर्थ के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं दिया है। जिसके कारण सामान्य पाठकों के समक्ष पदों की व्याख्या की समस्या खड़ी हो जाती है। यदि उपन्यास में से अनेक पदों को निकाल लिया जायस तो कथावस्तु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु उपन्यास-विस्तार को एक राहत मिलती है। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत के भी कई श्लोक उपन्यास में लादे गये है, उनकी भी व्याख्या के विषय में लेखक ने चुप्पी साध ली है।

"रत्ना की बात" डॉ० रांगेय राघव का एक सफल जीवनचरितात्मक उपन्यास है। इस उपन्चयास में लेखक ने अतीत जीवन की मानवतावादी दृष्टिकोण से आंका है तथा उन परंपराओं का समर्थन किया है जो सामाजिक विकास में योगदान देती हैं। इस उपन्यास में लेखक ने रत्ना के जीवन को नारी-जागरण का प्रतीक मानकर और उसे सतीत्व के घेरे से निकालकर इन्सान के रूप में देखने का प्रयत्न किया हे। वह मात्र खिलौना नहीं, मात्र रमणी भी नहीं, मात्र संगिनी भी नहीं, आधिकाधिक व्यक्ति होती गयी है।

भारती का सपूत

"भारती का सपूत", १९५४ डॉ० रांगेय राघव का एक मध्यमकाय जीवनचरितात्मक उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास कथानक की दृष्टि से पूर्ण संगठित है। कथानक की सभी घटनाएं एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। कथानक को आकर्षक बनाने के लिए ही अध्यापक रत्नहास की कल्पना की गयी है जो उपन्यास में अत्यन्त ही नाटकीय ढग से वर्णित है भारतेन्दु हरिशन्द्र के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में आयोजित एक सभा मे अध्यापक रत्नहास डॉ० रांगेय राघव की एक कृति पढ़ते हैं और बीच-बीच में अपनी मौलिक व्याख्या भी करते हैं। कथानक को "कालाक दमा और तिलकधारी", "विपथगामी", "यात्रा और आवेश" एवं "अन्तिम दौर" इन चार भागों में विभाजित कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है। शीर्षक के विषय में लेखक ने नाटकीय व्याख्या उपस्थित की है। "पुनश्च तुम्हे यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि मेरी इस पुस्तक का नामकरण मेरी ९ बरस की भतीजी सीता ने किया है।"[3] किन्तु भूमिका में लेखक ने शीर्षक का रहस्योद्घाटन किया है।

---

१ वही, पृ० १६।
२ वही पृ० १५०
३ भारती का सपूत पृ० ७।

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी के पिता माने जाते हैं। महाकवि रत्नाकर[१] ने उन्हें भारती का सपूत कहा है।[२]" इस प्रकार महाकवि रत्नाकर की उक्ति के आधार पर ही इस औपन्यासिक कृति का नाम "भारती का सपूत" पड़ा।

लेखक ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन के माध्यम से उस युग की सम्पूर्ण परिस्थितियों को अंकित करने का सफल प्रयास किया है। प्रस्तुत उपन्यास से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में धन के आधार पर भी समाज का विभाजन हो चुका था। इस विभाजन का प्रभाव हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों पर पड़ा था। धनी वर्ग पहले की अपेक्षा उस युग में अधिक सुरक्षित था और उसका अधिकांश समय विलासिता में ही व्यतीत होता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी उस विलासिता के कीचड से बच नहीं पाये थे। पत्नी मन्नो देवी के विरोध के समय उन्होंने कहा, "यह सब मुझे नीच समझते है। बाहर लोग मेरा सम्मान करते है, पर यह लोग मुझे बुरा समझते हैं।......इतनी विडम्बना किसलिये। कौन ऐसा रईस है जिसके यहाँ रंडियाँ नहीं नाचतीं।"[३] समाज का दूसरा पक्ष अत्यन्त गरीब था, जो भूखों मर रहा था।[४] समाज में वर्णगत विभाजन भी व्याप्त था। "उच्च वर्गो का तब बहुत बड़ा असर था। बहादुरशाह ने अन्तिम समय में राजस्थान के उच्चकुलीन राजाओं को एक घोषणापत्र भी भेजा था कि मै राजाओं का एक सघ बनाने को तैयार हूँ बशर्ते कि आपमें से कोई ऊँचे कुल का राजा इस इस समय युद्ध का सेनापति बन सके। उसने साफ लिखा था कि इस देश में उच्चकुलों का ही सम्मान है अत आपसे यह हार्दिक प्रार्थना करता हूँ। दुर्भाग्य से उच्चकुल परस्पर फूट में पड़े हुए थे, जर्जर थे, कोई भी अँगरेजों मे टक्कर लेने को तैयार नहीं हुआ।"[५]

स्त्रियों की सामाजिक स्थिति सन्तोषप्रद न थी। परस्त्रीगमन भी आसामाजिक कार्य नहीं समझा जाता था। वेश्यागमन सा धनिकों में प्रचलन-सा था और उस वे अपनी सामाजिक मर्यादा मानते थे। मन्नो देवी ने अपने पति से कहा-"हँस लो, मैं सब समझती हूँ। पाप तुम्हें नहीं लगता इसी से तुम लोग इतने बेदरद होते हो।"[६] बाल-विवाह प्रथा प्रचलित थी। विवाहिता नारियाँ सामाजिक नियमों के चौखटे में जकड़ दी जाती थीं और पति के संकेतों पर ही अपना जीवन व्यतीत करती थीं। हरिश्चन्द्र की सौतेली माँ काली से कहा, "स्त्री को कभीआराम नहीं है काली, चाहे वह गरीब घर में हो, चाहे बड़े घर में।"[७] कुलीनों में विधवा-विवाह नहीं होते थे, किन्तु निम्न जातियों में 'घरेज' प्रथा प्रचलित थी।

सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के साथ-साथ प्रस्तुत उपन्यास में तत्कालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के चित्र भी बड़े ही सजीव है। "भारत तो विभिन्न जातियों का समुदाय था। परन्तु विभिन्नता के ऊपर, विभिन्न राज्यों की खंडिता सत्ता के ऊपर भारतीय जीवन ने, जनता ने अपनी सस्कृति को अपनी सहिष्णुता के कारण एक माना था।"[८] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतीय संस्कृति के जागरूक प्रहरी थे और उन्होंने अपनी संस्कृति को अनेक दलदलों से बचाने का प्रयास किय। हिन्दू धर्म ने इस रूढ़ि का विरोध कर हिन्दु-धर्म के प्रसार का कार्य किया। उन्होंने मुसलमानी वेश्या के सम्बन्ध में अपनी पत्नी से कहा-"मैंने उसे शुद्ध किया है, वह हिन्दुनी ही थी।"[९] उन्होंने गो-बध का भी विरोध किया। उन्होंने धर्म और ईश्वर-प्रेम का प्रचार करने को तदीय समाज स्थापित किया। गोवध रोकने के लिए इस समाज ने ६०,००० हस्ताक्षर कराके दिल्ली दरबार में प्रार्थनापत्र भेजा था, जो शक्ति को प्रगट करके सरकार पर दबाव डालने वाले आन्दोलनोंका यह पहला प्रयोग था।"[१०] इस युग

---

१ *सूरति सिंगार की अेर भक्ति भायनि की*
परवार सील की स्नेह सुघराई की,
कहै रत्नाकर सपूत पूत भारती की
भारत की भाग औ सुहाग कविताई की, - जगन्नाथ रत्नाकर

२ *भारती का सपूत, भूमिका।*

३ *भारती का सपूत, पृ० १३।*

४ *वही, पृ० ११।*

५ *वही, पृ० १२-१३।*

६ *वही, पृ० ९१।*

७ *वही, पृ० ५७।*

८ *वही पृ० १५।*

९ *वही पृ० १२८।*

१० *भारती का सपूत पृ० १३२*

में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतीय संस्कृति के वास्तविक रूप को प्रकट करने का प्रयास किया था। इस प्रकार इस उपन्यास में लेखक ने अनेक आधुनिक समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया है और उसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है।

लेखक को उस युग विशेष की पृष्ठभूमि का चित्रण करना पड़ता है जिसके चरित्रों का वह वर्णन करना चाहता है। अतः उसके वर्णनों में उस युग के विशिष्ट रीति-रिवाज, चाल-ढाल, वातावरण के प्रमाणिकचित्रण द्वारा यह आभास देना पड़ता है कि यह वही युग है।[1] जीवन-चरितात्मक उपन्यासों में भी लेखक को पात्र के युग का विशेष ध्यान देना पड़ता है। व्यक्ति को समझने के लिए उसे उसके ही युग के बीच में रखकर देखना आवश्यक है।[2] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में इस समय में इस देश की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त डावाँडोल थी। "वे सामंत जो अपने स्वार्थ को जनता के विरुद्ध रखकर जीवित रहना चाहते थे, वे तो अंग्रेजों के सामने घुटने टेक गये थे,जो घुटने नहीं टेक सके, उन्होंने दलित जनता की सहायता सलेकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध किया। वे अपनी फूट, इत्यादि के कारण हार गये।"[3] "मुगलों के पतन के पश्चात् भी राजनीतिक अशांति के तूफान उठते रहे और लोग घुट-घुटकर जीवन व्यतीत कर रहे थे।··· ··राजाओं का जीवन गर्हित था, विदेशी दनादन लूट और फरेब में लगा हुआ था, जनजीवन अशिक्षित अराजनैतिक होने के कारण अपनी भूख और लूट मे व्याकुल होकर, नये रास्ते पकड़ने के बजाय सामंतीय व्यवस्था के ही पुराने रास्ते पकड़ रहा था।"[4]

चरित्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस उपन्यास के नायक हैं। प्रस्तुत कथा में उनके उनके चरित्र का चित्रण कुछ इस प्रकार से हुआ है कि उनके चरित्र की रेखायें एक-एक कर कथा के अन्त तक उभरती रही है। उनकी मृत्यु के साथ-साथ उपन्यास का कथानक भी समाप्त भी हो जाता है। हरिश्चन्द्र स्वभाव से अक्खड़, संघर्षशील, स्वाभिमानी एवं निर्भीक थे। असाधारण प्रतिभा के कारण ही उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में अपने पिता को स्वरचित कविता सुनायी। हरिश्चन्द्र की कवित्व शक्ति देखकर उनके पिता ने कहा-"यह मेरा बेटा मेरे सारे अरमानों को पूरा कर देगा।"[5] पिता की मृत्यु के पश्चात् हरिश्चन्द्र के कोमल कन्धों पर परिवार का सम्पूर्ण भार आ गया, जिसके कारण उन्हें विद्यालयी शिक्षा, अधिक न मिल सकी, किन्तु उन्होंने स्वाध्याय से पंजाबी, मारवाड़ी, गुजराती, बंगला, मराठी, अंग्रेजी, उर्दू एवं संस्कृत आदि भाषाओं का गहन अध्ययन कर लिया। भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक हरिश्चन्द्र ने अत्यधिक धन खर्चकर हिन्दी और अंग्रेजी के अनेक विद्यालय खोलने का प्रयास किया, जिनके माध्यम से भारतीय संस्कृति की शिक्षा देने की योजना बनायी। उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए पत्नी मन्नोदेवी से कहा,"······ ···हम लोगों के पास धन है और देश भूखा है, गरीब है। सोचो तो अंग्रेजों के खोले हुए स्कूल हैं। मिशन के स्कूल हैं। पर उनमें हमारी संस्कृति नहीं पढ़ायी जाती।"[6] इसके पश्चात् अपनी दूरदर्शिता व्यक्त करते हुए शिक्षा के माध्यम के विषय में कहा-"मुझे भारतीय संस्कृति चाहिए, ताकि अंग्रेजी पढ़कर लोग जान सकें कि ॲगरेज किन खूबियों की वजह से हुकूमत करते हैं, न कि काले साहब बनकर दोगलों की तरह अपने से ही नफरत करने में घमंड कर सकें। इस देश को बहुत से पढ़े-लिखे लोगों की जरूरत है। थोड़े से रईसों के लड़कों से देश का उद्धार नहीं हो सकता। उसके लिए नये इन्सानों की एक फसल खड़ी करनी होगी।"[7] इन सब कार्यों के लिए उन्हें अपने धनकी होली जलानी पड़ी। सत्पथ पर चलनेवालों को अनेक अवरोधों का सामना करना पड़ता है और उन्हीं घातों-प्रतिघातों के अन्तराल में उनका व्यक्तित्व बनता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भी पारिवारिक संकटों से जूझना पड़ा। गोकुलचंद के अलग हो जाने एवं पत्नी मन्नोदेवी के विरोध के कारण इनको अत्यन्त मानसिक पीड़ा हुई, किन्तु इनकी गतिविधियाँ अग्रसर होती रहीं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब मनुष्य अपने परिवार में स्नेह नहीं पाता है, तब वह यत्र-तत्र प्रेम की भूख मिटाने के लिए प्रयास करता है। पत्नी की उदासीनता के कारण ही इन्होंने नर्तकी मल्लिका को अपने जीवन का आधार बना लिया।

---

१ डॉ० भगीरथ मिश्र, काव्यशास्त्र, पृ० ८८।
२ भारती का सपूत, पृ० १६, भूमिका।
३ वही, पृ० १०।
४ वही, पृ० ११।
५ वही पृ० २५।
६ भारती का सपूत पृ० ७५।
७ वही पृ० ७५।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उस युग के नेता थे। अपने युग के बन्धनों के बावजूद वे कला और साहित्य का नाता सीधे जनजीवन से जोड़ना चाहते थे। उनके समय में काव्य-कला तो दरबारों की चीज थी। पर वे धनी होकर भी धन की सीमा में बँधकर नहीं रह सके। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है, जो बताती है कि बड़ा कलाकार अपने वर्ग में बँध नहीं जाता, वरन् समग्र मानव का प्रतिनिधित्व करता है।[1] हरिश्चन्द्र की मानववादी भावना ने सदैव धन का विरोध किया। महाराज काशी नरेश के समझाने पर इन्होंने कहा- "महाराज! इस रुपये ने मेरे पुरखों को खाया है, इसे मैं खाऊँगा।"[2] राय नृसिंहदास का उत्तर देते हुए हरिश्चन्द्र ने कहा-"यह धन आदमी को लालची और कायर बनाता है। मैं कभी भी इसका गुलाम बनकर नहीं रह सकूँगा। रुपया रुपये को ही सूद की शक्ल में पैदा करता है। ·· ···इसलिए देता हूँ कि इस देश के रईश धन की ढेरियों पर स्वार्थ में डूबे हुए से साँप बनकर बैठे है।"[3]

संघर्षशील, स्वाभिमानी, निर्भीक, उदार एवं प्रगतिवादी आदि चारित्रिक गुण जो इस उपन्यास-लेखक में थे, वे उपन्यास के नायकों में भी विद्यमान हैं।अतः लेखक और नायक के चरित्रिक गुणों में विशेष तादात्म्य है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्रों में गोपालचन्द्र, गोकुलचन्द्र, राजा शिवप्रसाद, ईश्वरचन्द्र, विद्यासागर, राय नृसिंहदास, बाबूगदाधर प्रसाद सिंह आदि प्रमुख हैं,किंतु उपन्यास में इनका परिचय मात्र ही हो पाता है। उपन्यास के लगभग सभी पात्र हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व मे प्रभावित होते हुए दीख पड़ते है।

'भारती का सपूत' उपन्यास में नारी-पात्र संख्या में प्रचुर औऱ प्रभाव में प्रबल नहीं है, किन्तु उन्हें पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हुए दिखाया गया है। दूसरों का दुःख उन्हें असह्य है। वे स्वाभिमानिनी है। लज्जा उनका आभूषण है। कर्तव्य-परायणता उनका लक्ष्य है, वे सफल सद्‌गृहिणी है। मोहनबीबी, मन्नोदेवी,मुकुन्दी, गोविन्दी, कालिकदमा, मल्लिका आदि प्रमुख नारी पात्र हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पत्नी मन्नोदेवी प्रकृति से कोमल किन्तु स्वभाव से निर्भीक, महत्वाकांक्षिणी, स्वाभिमानीनी, बुद्धिमती एवं प्रेरक-शक्ति से पूर्ण आसाधारण रमणी है। नारी जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता उसके पति-प्रेम में ही निहित है। वह इस क्षेत्र में किसी अन्य को पदापर्ण करते देखकर बौखला उठती है। वह पति में अविश्वास कर उठती है, जिससे पारिवारिक आनन्द नष्ट हो जाता है। ये सभी स्वाभाविक चारित्रिक विशेषताएँ मन्नोदेवी के व्यक्तित्व में परिलक्षित है। रात्रि के एक बजे पति के घर लौटने पर वह खीझकर कहने लगी-"घूमने कि पराई औरतों के चक्कर काटने।

रईस हैं। होगी कोई मुँहजली जिसने पैसे के लिए जाल डाला होगा मर्द को क्या ?वह आज तक किसका होकर रहा है।"[4] साथ ही उसमें सतीत्व की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। अपने पति हरिश्चन्द्र की बातों का विरोध करती हुई कहती है-"स्त्री का क्या साहस कि छोड़ दे। छुड़वाना होता तो भगवान् तुम्हारी पत्नी क्यों बनाता। जनम-जनम तक मुझे तुम्हारे साथ रहना है। तुम चाहो जितना सता लो।"[5] उसके स्वाभिमान का परिचय तो उपन्यास में कितने ही स्थलों पर प्राप्त होता है। इसी स्वभाव के कारण ही वह अपने पति का विरोध करते समय रंच मात्र भी झिझकती नहीं। हरिश्चन्द्र की दानशीलता से क्षुब्ध होकर वह कहने लगी-"बोलती हूँ क्योंकि औरों की तरह मैं लोभिन नहीं हूँ, गिरस्तन हूँ। न विधवा हूँ, न रण्डी हूँ। ब्याहता हूँ। समझे। तुम मुझे यों बात कहने से नहीं रोक सकते। मेरा तुम पर वह अधिकार है, जो तुम कभी भी मुझसे नहीं छीन सकते।"[6] पत्नी के समस्त विरोधों के पश्चात् भी हरिश्चन्द्र के हृदय में उसके स्वाभिमाना एवं निष्ठा के प्रति बड़ा आदर था। इस लिए मृत्यु के समय उन्होंने मल्लिका से कहा-"मुझे एक ही दुःख रह गया है।"

"वह क्या है स्वामी!"

"वह दुःख मन्नो जानती है।"

"क्या जानती हूँ मैं? मन्नो ने पूछा।

"यही कि मैंने कभी भी तुम्हें सुख नहीं दिया।"[7]

---

१ वही, पृ० १५।

२ वही, पृ० १०३।

३ वही, पृ० ११५।

४ भारती का सपूत, पृ० ९०।

५ वही पृ० ९०।

६ वही पृ० १३४।

७ वही पृ० १५५।

मन्नो सदैव पति-सेवा में रत रहा करती थी। हरिश्चन्द्र की मृत्यु के पश्चात् कफन न होने के कारण "मन्नो ने अपना कीमती दुशाला शव को उढ़ा दिया और दोनों आर्त्तनाद करके छाती पीट-पीट रोने लगीं।"[१]

ऐतिहासिकता

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ ही भारतेन्दुयुग से शुरू होता है, इसलिए उनसे संबंधित घटनाओं के विषय में किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक मत-मतान्तर नहीं है।[२] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गतिविधियों के विषय में जो कतिपय भ्रान्तियाँ हैं, लेखक ने उन्हें अत्यन्तही वैज्ञानिक ढंग से दूर करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।[३] " ...... उनकी देशभक्ति के विषय में अक्सर लोगों को भ्रम हो जाता है। व्यक्ति को समझने के लिए उसे उसके युग के ही बीच में रखकर देखना आवश्यक है। नये युग का यदि यह परिवर्तन स्पष्ट हो जायगा तो भारतेन्दु का जीवन भी स्पष्ट हो जायगा।"[४]

डॉ० रांगेय राघव शिल्प के कुशल कलाकार थे। इस उपन्यास में उन्होंने पात्रानुकूल संवाद लिखकर पात्रों की वैयक्तिकता की पूर्ण रक्षा की है, अर्थात् उनका प्रत्येक पात्र अपनी चरित्रगत विशेषताओं के कारण अन्य पात्रों से पृथक् ज्ञात होता है। माँ की मृत्यु के पश्चात् बालक गोकुल ने हरिश्चन्द्र से कहा-माँ मिल गई भैया।"[५] हरिश्चन्द्र के पूछने पर कि पिताजी क्या कर रहे हैं? गोकुल ने कहा-"पूजा कल लहे हैं"[६] उपन्यास में विचाराभिव्यक्ति के लिए तार्किक संवाद भी लिखे गये है। इस कृति में लेखक ने पदों की संख्या कम देकर कथावस्तु को बोझिल होने से बचा लिया है। पदों को उपयुक्त वातावरण देने में लेखक को आशातीत सफलता मिली है। प्रस्तुत उपन्यास में काव्यमयी भाषा का प्रायः अभाव है।

निष्कर्षतः 'भारती का सपूत' एक सफल जीवनचरितात्मक लघु उपन्यास है। डॉ० रांगेय राघव की सफलता अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी उपन्यासकारों के कला-तत्वों के समन्वय में युग की नयी संवेदनाओं के अनुसार पात्रों के यथार्थनुकारी सजीव विकास में, कथा की स्वानुभूतिमयता की प्रत्योत्पादकता में तथा विचारों के पूर्वाग्रहरहित सतुलित प्रस्तुतीकरण में है। विषय-शिल्प की अद्भुत अनुयोज्यता तथा सभी तत्वों के सानुपातिक-समन्वित विनियोग ने इस उपन्यास को आकर्षक तथा प्रभावी बना दिया है।

लखमा की आँखें

'लखमा की आँखें',(१९५७) प्रसिद्ध कवि विद्यापति के व्यक्तित्व पर आधारित डॉ० रांगेय राघव का अत्यन्त अनूठा जीवनचरितात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक एक ब्राह्मण यात्री की स्मृतियों पर आधारित है। यात्रा के पथ पर अग्रसर ब्राह्मण ने जिस प्रकार जनश्रुतियों के माध्यम से विद्यापति के जीवनसबधी घटनाओं को आकलित किया, ठीक उसी रूप में कथानक की रेखा उपन्यास-क्षेत्र में बिखरी है। इसलिए विद्यापति के जीवन की घटनाओं का क्रमिक वर्णन नहीं हो पाया है। इस उपन्यास में लेखक ने बड़ी ही सूक्ष्मता-विशदता किन्तु बहुत ही संयम के साथ विद्यापति और उनके परिवेश के समग्र चित्र को अंकित किया है। विद्यापति के जीवन में माता,पिता,गुरु, पत्नी, शिवसिंह, विदूषक आदि कितने ही व्यक्ति चाहे स्थाय रूप से, चाहे थोड़ी देर के लिए, आते हैं, वे उसी सीमा तक अपने निजी व्यक्तित्व की भी बड़ी सुनिश्चित और सुस्पष्ट छाप हमारे मन पर छोड़ जाते है।

इस उपन्यास का आकर्षक मण्डप ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर बनाया गया है, जिसमें दिल्ली के सुलतान महमूद से लेकर सम्राट अकबर के समय तक की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परस्थितियों का चित्र अंकित है। सामाजिक चित्रों पर वर्णन का हल्का रंग चढ़ाया गया है। समाज वर्ण-व्यवस्था के बन्धन

---

१ भारती का सपूत, पृ० १५७।

२ क. 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद, ऋषिपंचमी, १९०७ वि० सं० में हुआ था।' भारती का सपूत, पृ० ७१।

ख. 'माघ' कृष्णपक्ष ६, तिथि, सम्वत् १९४१ वि० अर्थात् ६ जनवरी, सन् १८८५ ई० को मृत्यु,' भारती का सपूत, पृ० १५७।

ग 'इनका जन्म काशी के एक संपन्न वैश्यकुल में भाद्र शुक्ल ५, संवत् १९०७ का और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में माघकृष्ण ६, संवत् १९४१ को हुई।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४३८।

३ देखिये, पृ० ८, १३।

४ भारती का सपूत, पृ० १६, भूमिका।

५ वही पृ० २३।

६ वही पृ० २८।

में बँधकर छटपटा रहा था। उच्च वर्ण की नृशंसता की अग्नि में निम्न वर्ण की जातियाँ तड़फड़ा रही थीं। भीषण जंगल में एक वृद्ध ने ब्राह्मण से कहा-"चमारों के पास कुआँ नहीं है, क्योंकि उन्हें अधिकार नहीं, वे उसी हौज में से पानी ले जाते हैं, जिसमें से बैलों को पानी पिलाया जाता है, लेकिन कोरियों ने अपना कुआं बना लिया है और उसके बनाते समय छह कोरी जान से मारे गये थे।......आज उसी कुएँ में किसी ठाकुर ने विष डाल दिया था, क्योंकि वह उन्हें गाँव से भगाना चाहता था।"[1]

तत्कालीन समाज बाल-विवाह के कुचक्र में फँसकर जर्जर हो रहा था। सामाजिक मर्यादा की वेदी पर लड़के-लड़कियों के भविष्य का बलिदान किया जा रहा था। विसपी ग्राम के निवासी जगन्नाथ मिश्र की तेरह वर्षीय कन्या का विवाह पाँचवर्षीय बालक से तय हुआ इस समाचार के श्रवण मात्र से ही कवि विद्यापति को गहरी मानसिक वेदना हुई। उन्होंने विवाह में गतिरोध उत्पन्न करने के लिए एक कविता लिखकर मिश्र के घर के सामने ही लड़कों से उच्चारित करायी, "हे सखी, मैं पिया को गोदी में लेकर बाजार जाती हूँ तो हाट के लोग पूछते है कि यह तेरा कौन है? मैं कहती हूँ कि न मेरा देवर है, न छोटा भाई, पूर्व जन्म के पापों का फल मेरा बालम है। लोग गोदी में चढ़े मेरे पति को देख के पूछते हैं कि, "बच्चे! तू क्या इस स्त्री का भाई है जो मायके से समाचार लेने आया है? किसी का पिता धनी होता है, उसके पास अनेक गायें होती हैं, वह तो दूध पिला के जमाई को झट से पुष्ट कर लेता है, परन्तु सखी! मेरे पिता तो निर्धन है, न उनके पास टका है, न दूध देने वाली गायें है।......कविता गाने की देर थी कि सब हँसने लगे। जगन्नाथ की स्त्री ने तो जगन्नाथ की आफत कर दी। वह विवाह रूक गया।"[2]

सामाजिक परिवेश में लेखक ने सबसे अधिक सजग चित्रण नारियों का किया है, जो अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। नारी स्वभावतः समस्त ऐश्वर्यों की अपेक्षा मांसल-सुख एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देती है। राजा शिवसिंह की उदासीनता को देखकर रानी लखिमा कराह कर कहने लगीं-"मैं केवल देह ही तो नहीं हूँ। आत्मा भी तो हूँ। मेरी भी तो कुछ लालसाएँ है। इस वैभव में न होकर एक दरिद्र की स्त्री होती तो कम के कम मैं स्वतन्त्र तो होती। यहाँ चारों ओर मेरी आत्मा घुटती है, किसी से बात तक नहीं कर सकती।"[3] लखमा की बातों को सुनकर राजा शिवसिंह सोचने लगे कि "यह कहती है कि ये देह नहीं है, किन्तु यदि पुरुष नारी को उसके देहत्व का आभास न दिलाये, तो क्या वह सचमुच पुरुष के आत्मिक दुलार के बल पर जीवित रह सकती है? यदि पुरुष केवल आत्मा का सम्बन्ध रखें तो वह फिर कहती है कि तुम मुझसे दूर-दूर रहते हो।"[4] "कवि विद्यापति की पत्नी भी व्यक्तिगत अधिकारों के लिए चीख उठी-"कहते क्यों नहीं, मैं तुम्हारे काम में एक बाधा बन गयी हूँ। है न यही बात? हाय रे मेरे भाग्य! किसी साधारण पुरुष से विवाह होता तो अपनी छोटी-सी गिरस्ती में स्वामिनी तो होती? यहाँ तो सब कुछ होने पर भी कुछ नहीं है।"[5] आज भी अत्यन्त संपन्न परिवार में उत्पन्न अनेक नारियाँ मांसल-सुख एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए किसी अकिंचन स्वस्थ पुरुष के साथ अपने देह का सम्बन्ध जोड़ती हैं।

राजनैतिक विप्लव के अन्तराल में संस्कृति की एक हल्की रेखा खिंच पायी है। राजनैतिक थपेड़ों के कारण धर्म राजनीति का खिलौना बन गया था। ब्राह्मण, शाक्त, बौद्ध वैष्णव आदि दलगत स्वार्थों की जंजीर में बँधकर पगु हो गये थे। बहुत-से-लोग सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण हिन्दू से मुसलमान हो रहे थे, जैसे अंग्रेजों के समय में ईसाई हुएं हैं। हिन्दुओं के धर्म की रक्षा के लिए साधू नागाओं ने शस्त्र भी धारण कर लिया। यात्री ब्राह्मण को घायल देखते ही एक साधू ने पूछा-" ···· किसने मारा। डाकुओं ने?"

"नहीं तुर्कों ने।"

"तुर्कों ने!"

साधू शंख फूंकता है। फिर जोर की आवाज आने लगती है, जैसे कई घोड़े दौड़ रहे हों। मेरे देखते ही, न हो तो कम से पाँच हजार नागा बाबाओं की घोड़ो पर चढ़ी सेना आ पहुँची। उनके हाथ में त्रिशूल हैं। और शरीरों पर भस्म लगी है। वे नंगें बदन हैं, नितांत नंगे। दाढ़ियाँ। सिर पर जटाएँ। ऊँचे-ऊँचे पुष्ट तुरंग। और साधू

---

१ लखमा की आँखें, पृ० १०-११।

२. वही, पृ० ५६।

३. लखमा की आँखें, पृ० १००-१०१।

४ वही पृ० १०१।

५ वही पृ० ११५।

भी दृढांग। ...... वे नागा थे, जो कुम्भ का पर्व पड़ने पर तीर्थ स्थान करनेवाली प्रजा की रक्षा करने को जाया करते थे।[1] इस धार्मिक संक्रमण काल में विद्यापति ने भारतीय संस्कृति की महान् रक्षा की। कृष्ण, राधा, शिव, गंगा आदि की समभाव से पूजा कर उन्होंने अपने विशाल दृष्टिकोण का परिचय दिया।

डॉ० रांगेय राघव ने इस जीवनचरितात्मक उपन्यास में राजनीतिक पहलुओं को अधिक सबल रेखाओं से अंकित किया है। मध्यकालीन राजनीतिक दुर्दशा को व्यक्त करने का मोह लेखक के रग-रग में समाया हुआ है। इस मोह से अभिभूत होकर उसने इस उपन्यास में तुर्कों एवं मुगलों के अमानवीय कृत्यों को व्यक्त किया है। इनका भीषण आक्रमण जनजीवन से लेकर यात्रियों तक, गाँवों से लेकर नगरों तक रहा। एक दिन तुर्कों का एक समूह जंगल में जाते हुए उड़िया परिवार पर आक्रमण कर सभी को मार डाला एवं एक युवती को पकड़ लिया। युवती की वीरता देखकर सरदार ने उसे दण्ड देने की आज्ञा दी।"......एक तुर्क ने आगे बढ़कर स्त्री के वक्ष का वस्त्र फाड़ डाला और एक भयानक चीत्कार गूँज उठा। उसने स्त्री के दोनों स्तन काट दिए। रक्त के पनाले बह निकले। स्त्री मूर्छित होकर गिर पड़ी, एक अट्टहास प्रतिध्वनित हुआ।"[2] तुर्कों के पश्चात् मुगलों के समय में भी राजनीतिक अशांति का बादल घिरा रहा। इस राजनैतिक वातावरण के ऊहापोह में जनता ने घुट-घुटकर जीवन यापन किया। गृहस्वामी ने ब्राह्मण यात्री को रोकते हुए कहा-"भारत भूमि तो लुटेरों की हड्डी हो गयी। हुमायूँ का बेटा अकबर बड़ा प्रतापी है। जगह-जगह विप्लव हो रहे हैं। कौन जाने क्या होगा? इधर सूरी भी बदला लेने की चिन्ता में है। ऐसे में आप कहाँ जायेंगे? काजियों के बहकावे में आकर जगह-जगह धर्मान्ध मुसलमानों के दल के दल लूटते फिर रहे हैं।"[3] राजनीतिक विप्लव का पड़ाव केवल राजा शिवसिंह के समय में हुआ, किन्तु उनकी मृत्यु के साथ ही पुनः इसकी धारा बह चली। लेखक को इस लघु उपन्यास में लगभग दो सौ वर्षों की राजनैतिक अव्यवस्था को व्यक्त करने में पूर्ण सफलता मिली है। इस उपन्यास के लिए 'गागर में सागर' की कहावत पूर्ण चरितार्थ होती है।

चरित्र

'लखमा की आँखें' जीवनचरितात्मक उपन्यास है। आद्यन्त विद्यापति के जीवन संबंधी घटनाओं का आकलित किया गया है, जिसके कारण इनका चरित्र अधिक प्रखर हो गया है। बिसपी ग्राम निवासी विद्यापति का सम्बन्ध मिथिला के शासकों से अधिक रहा। अपनी दीर्घायु के कारण इनका सम्बन्ध राजा गणेश्वर से लेकर रुद्रनारायण सिंह तक था। किन्तु ये राजा कीर्तिसिंह और शिवसिंह के अधिक निकट थे। विद्यापति का व्यक्तित्व बहुमुखी था। उसमें पाण्डित्य-कला, रसिकता और भावुकता का अद्भुत सामंजस्य था। संक्रान्तिकालीन कवि होने के कारण उनके साहित्य में विगत तथा अनागत युगों के साहित्य की प्रवृत्तियाँ सहज में प्रतिबिम्बित हो उठी है। उनके इसी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर राजा शिवसिंह ने इन्हें बिसपी का ग्राम दान स्वरूप दे दिया। युद्ध में जाते समय राजा शिवसिंह ने वृद्ध मन्त्री से कहा-"मैंने रस की धारा में स्नान किया है, धन्य हो यह विद्यापति ठाकुर, जिन्होंने मेरे रोम रोम को तृप्त किया है। मेरे पास कल के लिए कुछ नहीं है, जो है सो आज के लिए भी है, कल के लिए भी।......किन्तु इस तलवार का पानी और कवि ठाकुर के गीत का हिंदोल कभी धोखा नहीं देगा।"[4] विद्यापति राजा के साथ दरबार में और युद्ध-क्षेत्र में भी रहते थे। वे अत्यन्त स्वाभिमानी थे। राजदरबार में विलंब से सूचना मिलने के कारण ये बिसपी गाँव वापस चले गये। इन्हें उदास देखकर कवि-पत्नी कहने लगीं—कवि राजा का आश्रित होता है। कवि चुप है। भट्टि, दण्डि, कालिदास, बाण, चंदबरदायी...... कवि नहीं सुनना चाहता।[5] पुनः वे राजा के मनाने पर ही मिथिला गये।

विद्यापति एक महान पण्डित थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ संस्कृत, अवहट्ट, और मिथिला भाषा में लिखीं। संस्कृत भाषा में 'पुरुष-परीक्षा' तथा अवहट्ट में 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति पताका' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। मैथिली में इन्होंने राधा-कृष्ण की प्रणय-लीलाओं का अत्यन्त हृदयकारी वर्णन किया है इस संबंध में इनके आदर्श कवि जयदेव थे। इसलिए राजा शिवसिंह ने इन्हें अभिनव जयदेव कहा। तत्कालीन समय में ही इनकी कविताओं को अत्यन्त आदर मिला। ईर्ष्यालु वृद्ध मंत्री ने राजपुरोहित से कहा-"वही विद्यापति! जिधर देखो विद्यापति।"

---

१ वही, पृ० १७७।
२. लखमा की आँखें, पृ० १५-१६।
३ वही, पृ० ८९।
४ वही पृ० १४६।
५ लखमा की आँखें पृ० ११३।

मिथिला पागल हो गयी है?

हां, मिथिला पागल हो गयी है।[१]

विद्यापति के अतिरिक्त पुरुष पात्रों में कीर्तिसिंह, शिवसिंह, जगन्नाथ मिश्र, गृहस्वामी, विदूषक, सुलतान महमूद, अकबर, महामंत्री, पुरोहित आदि प्रमुख है। किन्तु इनमें राजा शिवसिंह के अतिरिक्त सभी पात्र भर्ती के हैं। राजा शिवसिंह को उपन्यास में बहुत कम स्थान मिल पाया है, किन्तु उस थोड़े स्थान में ही धरत के समान उनका चरित्र अधिक निखर गया है। सुकवि विद्यापति ने युद्ध के समय कहा-"...... महाराज शिवसिंह ने अपने सुकृत और सुन्दर प्रबन्ध से राजाराम की भांति फिर इस संसार में धर्म की प्रतिष्ठापना की है और अपने अतुलनीय दानों से दधीचि की अमर कीर्ति को गौरवान्वित किया है नरों के इन्द्र महाराज देवसिंह के प्रिय पुत्र महाराज शिवसिंह पुरुष सिंह है, वे समस्त गुणों की खान है और शत्रुओं का समूल विध्वंस करनेवाले है। केहरी की भाँति एकच्छत्र राज्य करनेवाले महाराज शिवसिंह समस्त कलाओं के निधान है।[२]"

नारी पात्रों में लखमा, कवि-पत्नी, अनुभा, दुल्लहि का विशेष महत्व है। इन सभी नारी पात्रों में कवि की सहानुभूति केवल रानी लखमा के साथ हो पायी है। राजा शिवसिंह की पत्नी लखमा अनिंद्य सुन्दरी थी। "उसे देखकर लगता है जैसे देहरूपी कनक लता के सहारे निष्कलंक चन्द्रमा का उदय हुआ हो। उसके कमल के समान दोनों नेत्र तो अंजन रंजित हैं और भौहें बड़ी ही कुटिल तथा भावयुक्त है। उनकी चंचलता को देखकर लगता है जैसे विधाता ने चक्रवाक मिथुन को केवल अंजनसुन के पाश में बांध रखा हो। उसके उत्तुंग कुचों को छूती हुई गजमुक्ताओं की माला गले में पड़ी है[३]।" लखमा के चरित्र में अत्यन्त उतार-चढ़ाव परिलक्षित होता है। लेखक ने अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक ढंग से रानी के चरित्र को उरेहा है। पति की बांहों में कभी कोई नारी व्यवधान को सहन नहीं कर सकती और कहने लगी-"अभी पूर्णिमा का चन्द्रमा उदित होने वाला है, चारों ओर आनद ही आनंद छायेगा,ऐसे समय में अपने और आपके बीच में किसी को भी नहीं देख सकती। यदि आप उन्हें बुलायेंगे तो मैं समझूंगी कि आप मुझे नहीं चाहते।[४] किन्तु काम के मद के हट जाने के पश्चात् उसे पश्चाताप् हुआ और कालान्तर में उन्हीं विद्यापति की रचनाओं से प्रभावित होकर उनकी पुजारिणी हो गयी। राजा शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात् विद्यापति के आगमन की प्रतीक्षा में अपनी आंखें बिछाये रही। एक दिन मालती के पूछने पर लखमा कहने लगी-"आयेंगे मालती! भगवान ने चाहा तो अवश्य आयेंगे।" और फिर उन आंखों में आलोक-सा पुलक उठता है।[५] लखमा की इसी आराधना से प्रभावित होकर लेखक ने इस उपन्यास का शीर्षक "अभिनव जयदेव विद्यापति" न देकर "लखमा की आखें" रखा, जो सर्वथा समीचीन है।

लेखक की अन्य कृतियों के समान इस उपन्यास की शैली भी अत्यन्त सशक्त एवं काव्यात्मक है। प्राय तत्सम एवं सामासिक शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है,किन्तु किसी भी स्थल पर दुरूहता नहीं आ पायी है। "लोई का ताना" की भाँति इस उपन्यास में पदों की बहुलता नहीं हो पायी है, जिससे उपन्यास की रोचकता क्षीण नहीं हो पायी है। "बाणभट्ट की आत्मकथा" के समान इस उपन्यास को अधिक रूचिकर बनाने के लिए लेखक ने यात्री ब्राह्मण की कल्पना की है। यात्री के माध्यम से लेखक को वर्णन के लिए अधिक क्षेत्र मिल गया है।

विद्यापति के ऐतिहासिक पात्र होने के कारण लेखक को उनके चरित्र-चित्रण करते समय विशेष सावधानी रखनी पड़ी है और उसे इस कार्य में पूर्ण सफलता मिली है। इतिहाससम्मत कथानक होने पर भी लेखक ने उस पर कल्पना की इतनी सुन्दर चादर डाली है कि पूरा उपन्यास जगमगा उठा है।

"लखमा की आँखें" रचना-शिल्प, इतिहास, समकालीन-जीवन, धर्म और कला की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण कृति है। एक छोटी-सी कथावस्तु पर इतने भव्य प्रासाद का निर्माण कर देना कुशल कलाकारों का ही काम है। अत. इस उपन्यास का अपना एक विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व रहेगा।

धूनी का धुआँ

धूनी का धूआँ, १९५८ महान योगी गोरखनाथ के व्यक्तित्व पर आधारित डॉ० रांगेय राघव का एक

---

१ वही, पृ० १३९-४०।

२ वही, पृ० १५०।

३. वही, पृ० ९८।

४. लखमा की आंखें, पृ० १००।

५ वही पृ० १६१।

अनुपम जीवनचरितात्मक उपन्यास है। कथानक की दृष्टि से इस उपन्यास की महत्ता इस बात में निहित है कि लेखक ने नायक के रूप में एक ऐसे व्यक्ति को चुना है, जिसके जीवन में प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण घटनाओं की कमी नहीं रही। लेखक ने उस काल की अन्यविचारधाराओं-वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन, इस्लाम-की तुलना की है और तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और दार्शनिक परिस्थितियों में गोरक्ष, उनसे गोरक्ष और गोरक्ष से सब-इस सापेक्ष दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया है। इन समस्त दृष्टिकोणों के मूल में लेखक की मानवतावादी चेतना थी, जिसके कारण उसके गोरखनाथ को एक मानवतावादी तथा युगान्तरकारी साधक के रूप में हमारे समक्ष चित्रित किया है, जिससे हम अपनी मानवतावादी संस्कृति का दर्शन कर अपने जीवन-दर्शन को प्रगतिशील बना सकें। इसलिए उन्होंने इस उपन्यास की भूमिका में लिखा है-"भारत के भविष्य में संभवतः संसार को पथ दिखानेवाली ज्योति उदय होगी, जो रूस-चीन के अनुभवों की अच्छाइयाँ लेगी, अपनी परंपरा के मानवतावाद को लेगी और लेगी योग में निहित मानव जाति की अपार शक्ति और नये समाज, संसार और व्यक्ति का उदय होगा, जिसमें समाज के विकास के साथ, व्यक्ति घुटेगा नहीं, विकास करेगा।[1]"

भारतीय इतिहास में गोरखनाथ का युग वर्ग-संघर्ष का युग था। समाज अपने आन्तरिक संघर्षों के कारण टूट रहा था। उच्च वर्ण की नृशंसता की अग्नि में निम्न जातियाँ छटपटा रही थीं। ब्राह्मण-द्वेष बहुत बढ़ गया था और वे समाज के बन्धनों का अधिक जटिल बना रहे थे। इस कुचाल से गोरखनाथ का हृदय अत्यन्त विचलित रहा करता था। उन्होंने गुरु-दीक्षा के समय योगी मत्स्येन्द्रनाथ से कहा-"ऊँच और नीच जाति के भेद से लोक त्रस्त हैं। वेद के भार से ब्राह्मण सबको दबाये दे रहे हैं।[2]" तत्पश्चात् गोरखनाथ ने अपने गुरुतर प्रयत्नों से समाज में व्याप्त-बुराइयों को दूर करने का सराहनीय प्रयास किया। 'गोरखनाथ का योग मार्ग एक भूमि थी जिस पर असंख्य निम्न जातियों ने त्राण पाया था।[3]' इस प्रकार गोरखनाथ ने विकास का एक नया मार्ग समाज के सामने रखा। इस योगमार्ग में विकास करके कोई भी ऊँचाई पर उठ सकता था।[4] कालान्तर में कबीरदास ने भी गोरखनाथ की सामाजिक धारणाओं से प्रभावित होकर जाति-पाँति का विरोध किया। गोरखनाथ की साम्य दृष्टि केवल हिन्दू समाज के लिए ही सीमित नहीं थी वरन् यवनों को भी उन्होंने अपनाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने भारतीय समाज की रक्षा के लिए तुर्कों से निरंतर संघर्ष किया। उनकी यह परंपरा औरंगजेब के समय तक चलती रही। 'यह योगी ही घोड़ों पर चढ़कर मेलों, पर्वों और सांस्कृतिक मिलनोत्सवों में जनता की तुर्कों के कट्टर हमलों से रक्षा करते थे[5]'। उस युग में तुर्कों की बर्बरता के कारण ही उत्तरी भाग में हिन्दू-संगठन हुआ जिससे वर्णाश्रम के विरुद्ध चलनेवाला युद्ध जातीयता के युद्ध में परिणत हो गया।

देश के अधिकांश क्षेत्रों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था होने के कारण नारियों की सामाजिक स्थिति संतोषप्रद थी। पूजा के घृणित प्रचलन के कारण नारियों को केवल वासना की मूर्ति ही समझा गया। गोरखनाथ नारियों के इस रूप का घोर विरोध कर मातृत्व को फिर से प्रतिष्ठापित करने का प्रयास करने लगे। "ब्रह्मचर्य का यह संदेश उस समय लोगों को विचित्र-सा सुनायी देता था क्योंकि सारे संप्रदाय भोग में स्त्री-भोग करते थे। उस स्वर में जब गोरख स्त्री निंदा करता और लोक को जगाता, तब स्त्रियां अपने जननी पद की प्रतिष्ठा सुनकर गोरख से प्रसन्न होतीं, क्योंकि लोक में साधना के नाम पर युवती से जो व्यभिचार बढ़ गया था, उसमें स्त्री की व्यावहारिक मर्यादा काफी नीचे गिर गयी थी।[6]" किन्तु कालान्तर में गोरखनाथ ने अतिवाद पर जाकर योनि-पूजा का विरोध किया। उन्होंने स्त्रियों की घोर निंदा की। उन्होंने स्त्रियों की निन्दा करते हुए अपने शिष्यों से कहा-'परतु सब पर छा गयी है मिथुन परक व्यभिचार की जुगुप्सा। भग एक राक्षसी की भाँति बिना दाँत के ही सब कुछ

---

१ धूनी का धुआँ, पृ० ११, भूमिका।
२ वही, पृ० ३३।
३ वही, पृ० ४, भूमिका।
४ बड़े-बड़े कूले मोटे-मोटे पेट, नहीं रे पूता गुरु सौ भेंट, गोरखबानी, पृ० ३८।
५ वही, पृ० १५२।
६ धूनी का धुआँ पृ० ४६।

खाये जा रही है।[१]" योगियों के इस अतिवाद की प्रतिक्रिया भी नारियों में हुई। महारानी सोमदेई ने वृद्ध मन्त्री से कहा-"पुरुष पुरुष एक हैं......नारी के लिए कहीं भी स्थान नहीं है। सब माता के उपासक हैं, परन्तु विधाता ने युवती को भी हृदय दिया है......नारी क्यों बने माता? मैं विद्रोह करती हूँ। नारी पुरुष हीन रहेगी।[२]" इसके अतिरिक्त समाज में बहुविवाह एवं वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था, जिससे नारियों की रही सही सत्ता भी लड़खड़ा रही थी। किंतु मातृसत्तात्मक क्षेत्रों में नारियों का स्थान समाज में सर्वोपरि था। बहुपति प्रथा के प्रचलन के पश्चात् भी नारियाँ पूज्यनीय थीं। "यहाँ कभी अन्यज स्त्री, पुत्री, कन्या, रजस्वला, पतितस्तनी, विरूपा, मुक्तकेशी, कामार्त्ता किसी भी प्रकार की स्त्री की निंदा नहीं होती, क्योंकि वही शक्ति का स्वरूप है। हाट है, बाजार है, शासन है, पुरुष उसका नियंता है, परन्तु वैसे शासिका स्त्री है, घर में स्त्री ही पूजा है, वही संपत्ति की स्वामिनी है।[३]" इसके अतिरिक्त समाज जादू-टोना एवं अन्य प्रकार के अंधविश्वास प्रचलित थे।

इस जीवनचरितात्मक उपन्यास में धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति को अधिक सबल रेखाओं से अंकित किया गया है और उनकी वैज्ञानिक व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। इस काल में योगतंत्र, वज्रयान, कालचक्रयान शक्तिसंप्रदाय भेद, शैव मत के विभिन्न भेद, कापालिक, रसेश्वर मत, त्रिपुर संप्रदाय, दत्तात्रेय, सहजिया आदि अनेक धार्मिक संप्रदाय प्रचलित थे। बौद्ध मत अपने हीनयान, महायान, मंत्रयान जैसे स्वरूपों को बदलता हुआ अनन्त में यहाँ आकर शक्ति प्रभाव में पूर्णतया डूब गया था। बौद्ध मठ व्यभिचार, जादू टोने और जड़ता के अड्डे बन चुके थे। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य धार्मिक संप्रदायों के अनुयायी भी योनि पूजा में ही रत थे। "उन दिनों स्त्रियों को उठा लाना सिद्धों के लिए आश्चर्यजनक बात नहीं थी।[४]" धार्मिक स्थानों में वेश्याओं का विशेष आदर होता था। पुरुष वेश में टहलती हुई महारानी सोमदेई ने गोदावरी के मेले में देखा कि वेश्याएँ इधर ठहरी है। वे धर्मलाभ प्राप्त करने आयी है। साधुदर्शन से ही पाप घुलते है। वेश्यागमन में वाममार्गियों को बहुत पुण्य मिलता है। बहुत-सी पुण्य ही लुटाती हैं। देवदासियों को देखकर वे स्पर्धा करती हैं।[५]" आज भी धार्मिक स्थानों में उसी प्रकार के दृश्य देखे जाते हैं, जिससे सभ्य लोगों का साहस ऐसे स्थानों पर जाने के लिए छूट जाता है। आज की भाँति उस युग में भी अनेक धूर्त साधु-छद्म से सामान्य जनता को ठगा करते थे। गोदावरी के मेले में अनेक साधुसोना बनाने के लिए लोगों से सोना लेकर चंपत हो जाते थे और उनकी रक्षा स्वयं उनके दल वाले ही किया करते थे।[६] दूसरी ओर इस्लाम अनेक देशों में अपनी नवीन सामाजिक क्रांति को फैलाकर, अपनी क्रांतिकारी भावना को समाप्त कर इस देश में विजयी के रूप में घुसने लगे थे, जिसके कारण उनका भीषण आक्रमण भारतीय धार्मिक संस्थानों पर होता था। ऐसे भारतीय संस्कृति के अन्धकार मय युग में गोरखनाथ ने योगमार्ग को प्रशस्त कर भारतीय संस्कृति को डूबने से बचा लिया। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा-"आत्मपरिष्कार करना ही होगा। धर्म के अनेक शत्रु हैं। एक और बौद्ध आडंबर है, दूसरी ओर ब्राह्मण की घृणा, तीसरी और इस्लाम का व्यक्ति साधना विरोध, चौथी ओर वामाचार, पाँचवीं ओर जैन देह-दुःखवाद और छठीं ओर घोर अन्धविश्वास। इस सबमें योगमार्ग ही एक है जो लोक को सन्तोष दे सकता है।[७]" इसके पश्चात् गोरखनाथ

---

१ क. वही, पृ० ३७।

ख. भग राकसिलो, भग राकसिलो, बिन दन्ता जग पाया लो।

ग्यानी हुता सु, ग्यान मुष रहियो, जीवलोक आये आप गंवाया लो।

++ ++ ++ ++ +++++++++

दीपक ज्योति पतंग गुरु देव ऐसी भग की छाया। - गोरखवानी, पृ० १४३।

२ धूनी का धूआं, पृ० ९५-९६।

३ वही, पृ० ११७।

४ वही, पृ० ११७।

५ धूनी का धूआं, पृ० ९२।

६ वही, पृ० ७९।

७. वही, पृ० ४३।

'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग

निगम नियोग से सो केलि ही छरो सो है।

काय मन वचन सुभाय तुलसी है जाहि

राम नाम को भरोसे ताहि को भरोसे है।

ने धर्म को जातिगत और वर्णगत भेदों से दूर रखने का प्रयास किया एवं अनेक शिष्यों से कहा-"योगी न हिन्दू है, न मुसलमान। हम जन्म से हिन्दू हैं, परन्तु मुसलमान से हमें घृणा नहीं, फिर भी हम उनकी भांति पैगंबर के अनुयायी नहीं, परम शिव के साधक हैं।[1] कालान्तर में गोरखनाथ ने विकृत साधनाओं, नरबलि, जादू, टोने और ऐसी निकृष्ट साधनाओं को रोककर वाममार्गियों को पराजित कर दिया। उन्होंने योग मार्ग को गृहस्थ जीवन में श्रेष्ठ बताते हुए कहा-"योगी का स्तर बहुत ऊँचा होता है। योगी किसी भूमि से बद्ध नहीं, किसी का दास नहीं। योगी भिक्षुक नहीं। वह तो सोते हुए को जगाता है, और पहले जगाता है अपने को।[2]" उनकी नारी-विषयक निंदा भी योगियों और अवधूतों के लिए ही मुख्यतया थी। धूनी का धूआ उपन्यास में राजनीतिक परिस्थितियों पर अत्यन्त हल्का प्रकाश पड़ सका है, क्योंकि गोरखनाथ की अधिकांश गतिविधियाँ धार्मिक संप्रदायों से ही सबंधित रहीं। ईसा की नवीं सदी के अंतिम वर्ष और दसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का समय इस उपन्यास का युग है। इस समय राजनीतिक दृष्टि से कोई सशक्त साम्राज्य नहीं था, छोटे-छोटे राज्य थे, जो आंतरिक संघर्षों के कारण टूट रहे थे। इसलिए तुर्कों के भीषण आक्रमण को रोकने में ये प्रायः असफल रहे। लेखक ने इस उपन्यास में भर्तृहरि के अतिरिक्त अन्य किसी भी शासक का नाम नहीं गिनाया है। राजनीतिक संदर्भ में लेखक ने अनेक स्थलों पर योग्य शासक के आवश्यक गुणों पर प्रकाश डाला है, जो सम्भवतः आज के पदाधिकारियों की ओर संकेत है। गोरखनाथ ने राजा भर्तृहरि से कहा, "राजा...... राज्य का सुव्यवस्थित पालन करे, किन्तु अपने को सर्वश्रेष्ठ समझकर गर्व न करे। प्रजा का कष्ट दूर करे। ... राजा के लिए वही योग श्रेयस्कर है, जिसमें वह सम रहे, विलासी न हो, कर्तव्यरत रहे, तृष्णा और घृणा से परे हो, स्वार्थी और परदाररत नहीं हो। सब कुछ करके भी उससे अपने को अलग रखे।[3]" इस प्रकार इस उपन्यास में ऐतिहासिक परिवेश की नवीनता तथा मूल कथा-सूत्र की चमत्कारिक मौलिकता है, उसमें निहित आधुनिक संभावनाओं में सार्थकता व्यक्त है।

चरित्र

जीवनचरितात्मक उपन्यास होने के कारण गोरखनाथ को छोड़कर अन्य किसी पात्र का सम्यक चित्रण नहीं हो पाया है। कितने ही पात्र अपनी झलक दिखाकर चले गये हैं, मानों उनका कार्य पूरा हो चुका। जैसे राजा भर्तृहरि गोरखनाथ से दीक्षा लेकर पुनः रंगमंच पर नहीं आते। पाठक अन्त तक उनके दर्शन के लिए लालायित ही रहता है। पुरुष पात्रों में गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ, कण्डपा, लंग, महालंग, भर्तृहरि, मादे आदि का चरित्र प्रमुख है। किन्तु सभी पात्र गोरखनाथ की छाया में अपना दुर्बल व्यक्तित्व लेकर अपने जीवित होने का प्रमाण उपस्थित करते हैं। ब्राह्मण वंश में उत्पन्न गोरखनाथ अपने शैशवकाल से ही अनूठा व्यक्तित्व रखते है। वे अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति थे। जिनके सौन्दर्य में यदि एक ओर स्त्रियों का लावण्य था, तो दूसरी ओर पौरुष भी प्रतिबिंबित होता था। "मुख पर हल्के मुलायम रोम थे, गोरे रंग पर श्याम छाया अत्यंत आकर्षक लगती थी क्योंकि देह तप्त कंचनसी स्निग्ध दिखायी देती थी। उसका मस्तक चौड़ा था, लंबी जटाएं उस पर छायी थीं। नाक न छोटी, न लंबी। केवल ओठों पर ऊपरी भाग और नयन देखने से कभी-कभी लगता था, कोई मृगनयनी है।[4] "वे अपना रूप बदलने में भी अत्यन्त कुशल थे। स्त्री देश में गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से मिलने के लिए गोरखनाथ स्त्री के वेश में ही गये थे। उनके उस रूप को देखकर प्रसिद्ध नर्तकी कलिंगा ने कहा-"बड़ी रूपवती है तू। कहीं मेरा अधिकार तो न छीन लेगी।[5]" उस रूप सौन्दर्य में असीम धैर्य, अथाह ज्ञान और अटूट गुरुभक्ति समाहित थीं। गोरखनाथ योगी, दार्शनिक, धर्मनेता, पथप्रवर्तक एवं भारतीय संस्कृति के प्रबल पोषक थे। "गोरखनाथ ने विकृत साधनाओं, नरबलि, जादू, टोने, निम्न कोटि के देवताओं देवियों...... को रोककर उनके नाम पर खाने कमाने वाले का धंधा रोका।[6]" नारी पात्रों में सामदेई, विमला, कलिंगा, मेखलापा, कलखलापा आदि प्रमुख है किंतु इन पात्रों के साथ उपन्यास में लेखक की विशेष सहानुभूति नहीं है।

---

१ धूनी का धूआँ, पृ० ४३-४४। "गोरखनाथ की हठयोगी साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी, अतः उसमें मुसलमानों के लिए भी आकर्षण था। उन्होंने दोनों के विद्वेष-भाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकालने की संभावना समझी थी और वे उसका संस्कार अपनी शिष्य-परंपरा में छोड़ गये थे।"

२ धूनी का धूआँ, पृ० ६३।

३ धूनी का धूआँ, पृ० ६९-७०।

४ वही, पृ० १५।

५ वही पृ० १२८।

६ मेरी हुरो पृ० १५०

इस उपन्यास में दार्शनिक विवेचन की बहुलता के कारण सारगर्भित वाक्यों की भरमार है। लेखक ने अनेक स्थलों पर धर्म संबंधी मान्यताओं का वर्णन किया है, जिसके कारण शैली अत्यन्त शुष्क एवं नीरस हो गयी है। किन्तु सामान्य शैली पहले-सी वर्णनात्मक है। लेखक ने शैली से विषयोत्कर्ष लाने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है।

गोरखनाथ के ऐतिहासिक पात्र होने के कारण लेखक को उनकी गतिविधियों का चित्रण करते समय विशेष सतर्कता रखनी पडी है। लेखक ने गोरखनाथ पर ही शोध-कार्य किया था, इसलिए उपन्यास की अधिकांश घटनाएं प्रामाणिक है।

सारांश में 'धूनी का धुआं' जीवनचरितात्मक विचार-प्रधान उपन्यास है। उपन्यास की रंगभूमि का अनुभूतिपूर्ण चित्रण, योगियों की गतिविधियों के वर्णन की अतीव सजीवता एवं मार्मिक घटनाओं का समापन इस उपन्यास के उज्जवल पक्ष हैं। डॉ० रांगेय राघव ने नाथपंथ के ५०० वर्ष के उत्थान पतनमय जीवन के प्रारम्भ, मध्य और अन्त का सजीव चित्र 'धूनी का धूआं', 'जब आवेगी काल घटा', 'लखमा की आँखें', तथा 'लोई का ताना' में अंकित कर भारतीय इतिहास के अंधकारमय युग को प्रकाशित किया है। गोरखनाथ का नाथ-सम्प्रदाय आज भी प्रचलित है,किन्तु उसका रूप अत्यन्त विकृत हो गया है। गोरखपुर में शिष्य बनाने से पहले पुलिस थाने में ले जाकर जांच की जाती है कि कहीं शिष्य बननेवाला कोई अभियुक्त या अपराधी तो नहीं है। संप्रदाय के निर्बल हो जाने का यह बहुत बड़ा चिन्ह है।[१]

मेरी भवबाधा हरो

मेरी भवबाधा हरो, १९६० डॉ० रांगेय राघव का रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी के जीवन-चरित्र पर आधारित एक मध्यम जीवन-चरितात्मक उपन्यास है। डॉ० रांगेय राघव जीवनचरितात्मक उपन्यास रचना में ज्यों-ज्यों आधुनिक समय के निकट के कालखण्ड को लेते गये है, त्यों-त्यों कल्पना के इतिहास की ओर बढते गये हैं। इसकी कथावस्तु सुश्रृंखलित है। आद्यन्त कथानक बिहारी की ऐसी जीवनगाथा है जो तत्कालीन समस्त गतिविधियों को अपने में समेट सकी है। लेखक ने बड़ी कुशलता से कथावस्तु को पांच भागों में विभाजित कर बिहारी के जीवन के क्रमिक विकास को अंकित किया है। वस्तुगठन में लेखक ने आधुनिक मनोवैज्ञानिक साधनों का प्रचुर उपयोग किया है, जिसके कारण कथानक अत्यन्त आकर्षक हो गया है। कथानक की श्रृंगारिकता भी रोचकता का कारण है। बिहारी-चंद्रकला, कवि केशव-प्रवीणराय, जयसिंह-नवविवाहिता पत्नी आदि के श्रृंगारिक वर्णनों से कथा में उत्सुकता आ गयी है, किन्तु इनसे कथानक के मानवीय धरातल का कहीं भी क्षति नहीं पहुंची है।

उस चमत्कारपूर्ण युग की सामाजिक स्थिति के वर्णन में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। यथार्थवादी वर्णन होने पर भी उपन्यास में कहीं भी नीरसता नहीं आ पायी है। वर्णाश्रम के दृढ़ समर्थक महाकवि तुलसीदास के पश्चात् ब्राह्मणों का महत्व समाज में पुनः बढ़ गया था। महाराजा जसवंत सिंह के दरबार में कवि बिहारी के पहुंचने के पश्चात् जब अत्यन्त सम्मानित वृद्ध व्यक्ति कल्याण सिंह को ज्ञात हुआ कि बिहारी ब्राह्मण था तो उठकर चरण स्पर्श किये और बोले-"अभी धर्म तो नहीं उठ गया।"[२] हिन्दुओं के अतिरिक्त मुगलों में भी ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त सम्मान था। बिहारी ने स्वामी नरहरिदास के आश्रम में प्रवेश करते समय देखा कि "स्वामी नरहरिदास अपने कुशासन पर बैठे थे। शाहजादा खुर्रम घुटने मोड़े बैठे थे एक कम्बल पर। भारत की इस परम्परा को अकबर ने जीवित रखा था।वह विद्वानों के सामने स्वयं ऐसे ही बैठता था, उनका आदर करता था। ब्राह्मण इसलिए मुगलों से प्रसन्न थे।"[३] उस युग की विलासिता की धारा में ब्राह्मण भी आ गये थे, जिसके कारण उनकी स्थिति पुनः लड़खड़ाने लगी थी। माथुर ब्राह्मण बिहारी का अधिकांश समय अनिद्य सुन्दरी वेश्या चन्द्रकला के साथ व्यतीत हो रहा था। खाना प्रातःकाल चौके में चलता सुशीला के पास। शाम को पक्का खाना चन्द्रकला के यहीं खा लिया जाता।[४] विलासिता की बाढ़ ने समाज के समाजिक ढाचे को झकझोर दिया था। एक ओर राजा, महाराजा, नवाब इत्यादि आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करते थे, दूसरी ओर किसानों और मजदूरों का वर्ग श्रम से जीविकोपार्जन करता था और अपनी गाढ़ी कमाई के द्वारा धनिक वर्ग के उपभोग का साधन बना

---

१ डॉ० रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, पृ० २४८।

२ मेरी भव बाधा हरो, पृ० २२७।

३ वही पृ० ५४।

४ वही पृ० १०१

हुआ था। शासक अपने सुख-साधन के लिए जिस दलित जाति पर आश्रित रहते थे, उसकी स्थिति सुधारने की ओर उनका ध्यान नहीं था। "दरबार में अखण्ड विलास होता-हिन्दू हो या मुसलमान, स्त्री का रूप विखरा पड़ा था, ललित कलायें नारी के सौंदर्य में सीमित हो चली थीं। मुगल खजाने से तनख्वाएँ देने की बजाए अब जागीरें देने की प्रथा बढ़ गयी। खालसा भूमि की आय घट गयी, खर्चा बढ़ गया और इसका बोझ टूटा किसानों पर।"[१] दलित वर्ग अधिकतर गांवों में ही रहता था। प्रगतिवादी लेखक ने उस युग के माध्यम से आज की भी झांकी प्रस्तुत की है और राजा-प्रजा के सम्बन्धों को स्पष्ट किया है।

लेखक ने तत्कालीन समाज में नारियों की परवश दयनीय स्थिति को चित्रित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। नारी का दुहिता, भगिनी, माता का रूप समाप्त हो गया था, वह केवल विलासिता की मूर्ति बन गयी थी। गांव और नगरों की युवतियाँ महलों में गोलियां बनकर बरसती थीं। राजा और प्रजा दोनों की जगह स्त्रियों के कटाक्षों का मोल था। स्वकीया के स्थान पर परकीया का महत्व बढ़ गया था। पतिव्रत की खाट में वासना की छटपटाते पल रही थीं। चारित्रिक उत्थान दिखायी नहीं देता था कवि मस्त थे।[२] समाज में रानियों से लेकर नौकरानियों तक में सुन्दरता की होड़ लगी हुई थी। गृह-कार्य के लिए नौकरानियों को रखते समय भी उनकी सुन्दरता की जांच होती थी। इसलिए बिहारी ने सुशीला से कहा-'तुम कुल नारी हो, घर की शोभा हो। सुन्दरी बांदियां तो रखनी ही पड़ती हैं।'[३] उस वासना के तूफान में भी भारतीय कुल-नारियां संयम की चादर को ओढ़े हुए सत्पथ पर अग्रसर थीं। सामाजिक सीमाओं के चौखटे में जकड़ी होने पर भी घूंघट की ओट में अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करती हुई पति-हित की कामना करती थीं। महारानी अनंतकुंवरि चौहानी अपने पति की कार्य-विमुखता से चिन्तित होकर बांदी के माध्यम से बिहारी से कहने लगीं- 'महाराज स्त्री के पीछे राज्य की चिन्ता छोड़ बैठे हैं। पवित्रता स्त्री इस बात की चिन्ता नहीं करती कि उसका पति कितनी स्त्रियां रखता है, क्योंकि ऐसा करना तो पुरुष के लिए सनातन है। सभी मर्द सदा से ऐसा ही करते आये है, करते हैं और करते रहेंगे। स्त्री तो पर स्त्री से मिल कर रहती है। इसीलिए महारानी कहती हैं कि विलास करें महाराज यह अधिकार तो उनका ही है लेकिन राज्य का कार्य क्यों छोड़ें, क्योंकि जो पुरुष स्त्री के हाथों बिक जाता है, उसका नाश भी शीघ्र ही हो जाता है।'[४] नारीजीवन संबंधी अन्य आदर्श सुशीला के व्यक्तित्व पर चरितार्थ हुए हैं। बहु-विवाह का प्रचलन सामान्या लोगों में भी प्रचलित था।

उपन्यास में सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर भी अत्यन्त हल्का प्रकाश डाला गया है। महात्मा तुलसीदास आदि के द्वारा सँजोयी हुई भक्ति-परंपरा इस युग में पुनः लड़खड़ाने लगी थी। आराध्य कृष्ण को भी अश्लील श्रृंगार के क्षेत्र में उतारा जा रहा था, किन्तु उनके ईश्वरत्व पर आंच नहीं आ पायी थी। इसलिए स्वामी नरहरिदास ने बिहारी से कहा-'राज्य आते हैं मिट जाते है। धर्म ही स्थायी है। धर्म में भी भक्ति! कृष्ण और राधा की उपासना कर। राधा ही तेरी रक्षा करेंगी।'[५] उस चमत्कारपूर्ण युग में कृष्ण की अपेक्षा राधा की आराधना अधिक होती थी। धर्म अंधविश्वासों की जंजीर से जकड़ा हुआ था। नाथ योगी भी अपने पुनीत कार्य से विमुख होकर लोगों की आयु घटाने-बढ़ाने के कार्य में रत हो गये थे। नानिगराम ने योगियों के संबंध में केशवराय से कहा-"बादशाह को बुढ़ापे से डर लगने लगा है। मरना नहीं चाहते। पहले फकीरों, पण्डितों को अजमा लिया, अब उमर बढ़ाने को जोगियों के तंत्रमंत्र काम में लाने लगे हैं।[६] अनेक साधु सन्त स्त्रियों को सन्तान के लिए तन्त्रमंत्र की शिक्षा दे रहे थे। सुशीला ने भी अपने पति बिहारी से कहा-"मैं जाऊँगी।"

"कहाँ।"

"साधु के पास। सुन्दर कहती है बड़े पहुँचे हुए जोगी हैं। कइयों की गोद भर दी है।"[७] आज भी अनेक साधु इस परोपकार में लगे हुए हैं और कभी-कभी तो उन्हें नारियों के साथ व्यभिचार करते हुए अथवा उनके साथ भागते हुए भी सुना गया है। यह समस्या लेखक के अपने युग की भी समस्या है। हर जागरूक लेखक

---

१ वही, पृ० १०९।
२ वही, पृ० ११५।
३ मेरी भव बाधा हरो, पृ० ६१।
४ वही, पृ० १३९।
५ वही, पृ० २१।
६ वही पृ० ५।
७ वही पृ० ७१।

इस उपन्यास में दार्शनिक विवेचन की बहुलता के कारण सारगर्भित वाक्यों की भरमार है। लेखक ने स्थलों पर धर्म संबंधी मान्यताओं का वर्णन किया है, जिसके कारण शैली अत्यन्त शुष्क एवं नीरस हो ।। किन्तु सामान्य शैली पहले-सी वर्णनात्मक है। लेखक ने शैली से विषयोत्कर्ष लाने में प्रशंसनीय सफलता की है।

गोरखनाथ के ऐतिहासिक पात्र होने के कारण लेखक को उनकी गतिविधियों का चित्रण करते समय विशेष ता रखनी पड़ी है। लेखक ने गोरखनाथ पर ही शोध-कार्य किया था, इसलिए उपन्यास की अधिकांश घटनाएँ त्मक हैं।

सारांश में 'धूनी का धूआं' जीवनचरितात्मक विचार-प्रधान उपन्यास है। उपन्यास की रंगभूमि का तपूर्ण चित्रण, योगियों की गतिविधियों के वर्णन की अतीव सजीवता एवं मार्मिक घटनाओं का समापन पन्यास के उज्जवल पक्ष हैं। डॉ० रांगेय राघव ने नाथपंथ के ५०० वर्ष के उत्थान पतनमय जीवन के , मध्य और अन्त का सजीव चित्र 'धूनी का धूआं', 'जब आवेगी काल घटा', 'लखमा की आँखें', तथा का ताना' में अंकित कर भारतीय इतिहास के अंधकारमय युग को प्रकाशित किया है। गोरखनाथ का प्रदाय आज भी प्रचलित है,किन्तु उसका रूप अत्यन्त विकृत हो गया है। गोरखपुर में शिष्य बनाने मे पुलिस थाने में ले जाकर जांच की जाती है कि कहीं शिष्य बननेवाला कोई अभियुक्त या अपराधी तो नहीं प्रदाय के निर्बल हो जाने का यह बहुत बड़ा चिन्ह है।'[1]

भवबाधा हरो

मेरी भवबाधा हरो, १९६० डॉ० रांगेय राघव का रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी के जीवन-चरित्र आधारित एक मध्यम जीवन-चरितात्मक उपन्यास है। डॉ० रांगेय राघव जीवनचरितात्मक उपन्यास रचना ों-ज्यों आधुनिक समय के निकट के कालखण्ड को लेते गये हैं, त्यो-त्यों कल्पना के इतिहास की ओर गये हैं। इसकी कथावस्तु सुश्रृंखलित है। आद्यन्त कथानक बिहारी की ऐसी जीवनगाथा है जो तत्कालीन त गतिविधियों को अपने में समेट सकी है। लेखक ने बड़ी कुशलता से कथावस्तु को पांच भागों में विभाजित बिहारी के जीवन के क्रमिक विकास को अंकित किया है। वस्तुगठन में लेखक ने आधुनिक मनोवैज्ञानिक ों का प्रचुर उपयोग किया है, जिसके कारण कथानक अत्यन्त आकर्षक हो गया है। कथानक की श्रृंगारिकता चकता का कारण है। बिहारी-चंद्रकला, कवि केशव-प्रवीणराय, जयसिंह-नवविवाहिता पत्नी आदि के श्रृंगारिक से कथा में उत्सुकता आ गयी है, किन्तु इनसे कथानक के मानवीय धरातल का कहीं भी क्षति नहीं पहुँची

उस चमत्कारपूर्ण युग की सामाजिक स्थिति के वर्णन में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। यथार्थवादी होने पर भी उपन्यास में कहीं भी नीरसता नहीं आ पायी है। वर्णाश्रम के दृढ़ समर्थक महाकवि तुलसीदास श्चात् ब्राह्मणों का महत्व समाज में पुनः बढ़ गया था। महाराजा जसवंत सिंह के दरबार में कवि बिहारी हुंचने के पश्चात् जब अत्यन्त सम्मानित वृद्ध व्यक्ति कल्याण सिंह को ज्ञात हुआ कि बिहारी ब्राह्मण था ठकर चरण स्पर्श किये और बोले-"अभी धर्म तो नहीं उठ गया।"[2] हिन्दुओं के अतिरिक्त मुगलों में भी णों के प्रति अत्यन्त सम्मान था। बिहारी ने स्वामी नरहरिदास के आश्रम में प्रवेश करते समय देखा कि "स्वामी रिदास अपने कुशासन पर बैठे थे। शहजादा खुर्रम घुटने मोड़े बैठे थे एक कम्बल पर। भारत की इस परम्परा अकबर ने जीवित रखा था।वह विद्वानों के सामने स्वयं ऐसे ही बैठता था, उनका आदर करता था। ब्राह्मण लए मुगलों से प्रसन्न थे।"[3] उस युग की विलासिता की धारा में ब्राह्मण भी आ गये थे, जिसके कारण उनकी ते पुनः लड़खड़ाने लगी थी। माथुर ब्राह्मण बिहारी का अधिकांश समय अनिंद्य सुन्दरी वेश्या चन्द्रकला साथ व्यतीत हो रहा था। खाना प्रातःकाल चौके में चलता सुशीला के पास। शाम को पक्का खाना चन्द्रकला यहीं खा लिया जाता।[4] विलासिता की बाढ़ ने समाज के समाजिक ढांचे को झकझोर दिया था। एक ओर , महाराजा, नबाव इत्यादि आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करते थे, दूसरी ओर किसानों और मजदूरों का श्रम से जीविकोपार्जन करता था और अपनी गाढ़ी कमाई के द्वारा धनिक वर्ग के उपभोग का साधन बना

डॉ० रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, पृ० २४८।

मेरी भव बाधा हरो, पृ० २२७।

वही पृ० ५४

वही पृ० १०१।

हुआ था। शासक अपने सुख-साधन के लिए जिस दलित जाति पर आश्रित रहते थे, उसकी स्थिति सुधारने की ओर उनका ध्यान नहीं था। "दरबार में अखण्ड विलास होता-हिन्दू हो या मुसलमान, स्त्री का रूप बिखरा पड़ा था। ललित कलायें नारी के सौंदर्य में सीमित हो चली थीं। मुगल खजाने से तनख्वाएँ देने की बजाए अब जागीरें देने की प्रथा बढ़ गयी। खालसा भूमि की आय घट गयी, खर्चा बढ़ गया और इसका बोझ टूटा किसानों पर।" दलित वर्ग अधिकतर गांवों में ही रहता था। प्रगतिवादी लेखक ने उस युग के माध्यम से आज की भी झांकी प्रस्तुत की है और राजा-प्रजा के सम्बन्धों को स्पष्ट किया है।

लेखक ने तत्कालीन समाज में नारियों की परवश दयनीय स्थिति को चित्रित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। नारी का दुहिता, भगिनी, माता का रूप समाप्त हो गया था, वह केवल विलासिता की मूर्ति बन गयी थी। गांव और नगरों की युवतियाँ महलों में गोलियां बनकर तरसती थीं। राजा और प्रजा दोनों की जगह स्त्रियों के कटाक्षों का मोल था। स्वकीया के स्थान पर परकीया का महत्त्व बढ़ गया था। पातिव्रत की खाट में वासना की खटमलें पल रही थीं। चारित्रिक उत्थान दिखायी नहीं देता था कवि मस्त थे।[१] समाज में रानियों से लेकर नौकरानियों तक में सुन्दरता की होड़ लगी हुई थी। गृह-कार्य के लिए नौकरानियों को रखते समय भी उनकी सुन्दरता की जांच होती थी। इसलिए बिहारी ने सुशीला से कहा-'तुम कुल नारी हो, घर की शोभा हो। सुन्दरी बांदियां तो रखनी ही पड़ती हैं।'[२] उस वासना के तूफान में भी भारतीय कुल-नारियां संयम की चादर को ओढ़े हुए सत्पथ पर अग्रसर थीं। सामाजिक सीमाओं के चौखटे में जकड़ी होने पर भी घूंघट की ओट में अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करती हुई पति-हित की कामना करती थीं। महारानी अनंतकुवरी चौहानी अपने पति की कार्य-विमुखता से चिन्तित होकर बांदी के माध्यम से बिहारी से कहने लगीं-'महाराज स्त्री के पीछे राज्य की चिन्ता छोड़ बैठे हैं पवित्रता स्त्री इस बात की चिन्ता नहीं करती कि उसका पति कितनी स्त्रियां रखता है, क्योंकि ऐसा करना तो पुरुष के लिए सनातन है। सभी मर्द सदा से ऐसा ही करते आये है, करते हैं और करते रहेंगे। स्त्री तो पर स्त्री से मिल कर रहती है। इसीलिए महारानी कहती है कि विलास करें महाराज यह अधिकार तो उनका ही है लेकिन राज्य का कार्य क्यों छोड़ें, क्योंकि जो पुरुष स्त्री के हाथों बिक जाता है, उसका नाश भी शीघ्र ही हो जाता है।'[३] नारीजीवन संबंधी अन्य आदर्श सुशीला के व्यक्तित्व पर चरितार्थ हुए हैं। बहु-विवाह का प्रचलन सामान्या लोगों में भी प्रचलित था।

उपन्यास में सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर भी अत्यन्त हल्का प्रकाश डाला गया है। महात्मा तुलसीदास आदि के द्वारा सँजोयी हुई भक्ति-परंपरा इस युग में पुनः लड़खड़ाने लगी थी। आराध्य कृष्ण को भी अश्लील श्रृंगार के क्षेत्र में उतारा जा रहा था, किन्तु उनके ईश्वरत्व पर आंच नहीं आ पायी थी। इसलिए स्वामी नरहरिदास ने बिहारी से कहा-'राज्य आते हैं मिट जाते हैं। धर्म ही स्थायी है। धर्म में भी भक्ति! कृष्ण और राधा की उपासना कर। राधा ही तेरी रक्षा करेंगी।'[५] उस चमत्कारपूर्ण युग में कृष्ण की अपेक्षा राधा की आराधना अधिक होती थी। धर्म अंधविश्वासों की जंजीर से जकड़ा हुआ था। नाथ योगी भी अपने पुनीत कार्य से विमुख होकर लोगों की आयु घटाने-बढ़ाने के कार्य में रत हो गये थे। नानिगराम ने योगियों के संबंध में केशवराय से कहा-"बादशाह को बुढ़ापे से डर लगने लगा है। मरना नहीं चाहते। पहले फकीरों, पण्डितों को अजमा लिया, अब उमर बढ़ाने को जोगियों के तंत्रमंत्र काम में लाने लगे हैं।[६] अनेक साधु सन्त स्त्रियों को सन्तान के लिए तन्त्रमंत्र की शिक्षा दे रहे थे। सुशीला ने भी अपने पति बिहारी से कहा-"मैं जाऊँगी।"

"कहाँ।"

"साधु के पास। सुन्दर कहती है बड़े पहुँचे हुए जोगी हैं। कइयों की गोद भर दी है।"[७] आज भी अनेक साधु इस परोपकार में लगे हुए हैं और कभी-कभी तो उन्हें नारियों के साथ व्यभिचार करते हुए अथवा उनके साथ भागते हुए भी सुना गया है। यह समस्या लेखक के अपने युग की भी समस्या है। हर जागरूक लेखक

---

१ वही, पृ० १०९।

२ वही, पृ० ११५।

३ मेरी भव बाधा हरो, पृ० ६१।

४ वही, पृ० १३९।

५ वही, पृ० २१।

६ वही पृ० ५।

७ वही पृ० ७१।

अपने युग के वातावरण से प्रभावित होता है और फिर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसका वर्णन करता है।

मेरी भव बाधा हरो उपन्यास में लेखक ने बिहारी के चरित्र चित्रण के माध्यम से मुगल-काल के अनेक प्रसिद्ध सम्राटों की राजनीतिक गतिविधियों पर प्रकाश डाला है। बिहारी का जन्म अकबर के राज्यकाल के अंतिम वर्षो में हुआ था और मृत्यु औरंगजेब के राज्यारोहण के कुछ वर्षो बाद। इस प्रकार अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ एवं औरंगजेब का राज्यकाल बिहारी से संबंधित था। लेखक ने औपन्यासिक तत्वों की रक्षा करते हुए कथानक के बीच-बीच में राजनीतिक परिस्थितियों की झलक दी है। मुगल सम्राटों के शासनासीन होते ही उत्तराधिकार विषयक संघर्ष प्रारम्भ हो जाते थे। इसलिए उनका ध्यान शासन-सूत्र की ओर न होकर अपने पुत्रों की ओर अधिक होता था। "दरबारोंको विलासो और सत्ता के लिए होने संघर्षो से छुट्टी नहीं मिलती थी। वैभव और कलाएं महलों के चारों ओर सीमित थीं। विशाल सेनाएँ पलती थी, जो विद्रोहों का दमन करती थीं और किसानों पर मनमानी लगान बाँधे जाते थे।[१]" राजपूत भी आपसी वैमनस्य के कारण टूट गये थे और उनका जीवन मुगलों के संकेतों पर व्यतीत हो रहा था। परवशता के कारण उनका झुकाव विलासिता की ओर अधिक हो गया था, जिससे वे अपनी गतिविधियों में भी पंगु हो गये थे। बिहारी इस राजनीतिक अशांति से अत्यन्त चिंतित थे। हिंदुओं के परस्पर बिखराव को रोकने के लिए ही उन्होंने जसवत सिंह को पत्र लिखा था।

चरित्र

'मेरी भवबाधा हरो' में प्रमुख दो ही पात्र हैं-बिहारी, चन्द्रकला किंतु गौण पात्रों का प्राचुर्य है। इन गौण पात्रों की अपनी-अपनी सार्थकता है। इनमें से कुछ मुख्य पात्रों की जीवनगति से सीधे संबद्ध है और कुछ तात्कालिक परिस्थितियों के चित्रण के लिए उपयोगी रहे हैं। पुरुष गौण पात्रों में -केशवराय, केशवदास, स्वामी नरहरिदास जयसिंह, जसवन्तसिंह, दुर्गादास, रामसिंह, निरंजनकृष्ण, हरलाल, अकबर, जहाँगीर, खुर्रम, दारा, अब्दुलरहीम खानखाना आदि मुख्य हैं। चरित्रांकन की दृष्टि से इन गौण पात्रों की उपेक्षा नहीं हुई है।

इस उपन्यास के प्रमुख पात्र कविवर बिहारी तत्कालीन साहित्यकारों के प्रतिनिधि चरित्र हैं। उनका चरित्र जात्याभिमान एवं पाण्डित्य के संस्कारों से चालित है।बिहारी के निपट बाल्यकाल में ही पिता केशवराय ने इनकी माँ से कहा-"हमारे कुल में भी कोई मूर्ख उत्पन्न नहीं हुआ। मै स्वयं ज्योतिष जानता हूँ और इन पुत्रों को भी सिखाता हूँ। तुम नहीं समझोगी कि बिहारी वंश भास्कर प्रमाणित होगा। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों हाथ बाधकर इसके सामने खड़ी होंगी।[२]" बालक की असाधारण प्रतिभा से प्रभावित होकर कविप्रिया प्रवीणराय ने कहा-"मुझे न जाने क्यों लगता है कि बिहारी! एक दिन तू बहुत बड़ा आदमी हो जाएगा। तेरे गुरु के साथ मुझे भी लोग याद किया करेंगे।"[३] बिहारी का जीवन अनेक घातों-प्रतिघातों के अन्तराल में अग्रसर होता है। जीवन के प्रथम चरण में ही माता, गुरु की मृत्यु एवं पिता के संन्यास की घटना ने बालक को झकझोर दिया और इन्हें अत्यन्त संवेदनशील बना दिया। स्वामी नरहरिदास की प्रेरणा ने सदैव उनके जीवन में गति दी। परिस्थितियों के वात्याचक्र के उत्कर्षापकर्ष के भीतर से कवि का व्यक्तित्व निर्मित होता गया और एक दिन खुर्रम के परिचय ने इनके जीवन में एक नया अध्याय जोड़ दिया। इनके दोहे को सुनकर शाहजादा खुर्रम ने कहा-"इतनी कम उम्र में इतना मँजा हुआ हाथ। कविराई! कल मेरे यहाँ पधारें।[४]" इसके पश्चात् इनका परिचय अनेक हिंदू शासकों से हो गया और इन्हें अत्यधिक प्रतिष्ठा मिलने लगी। चन्द्रकला के आगमन ने कवि को अधिक श्रृंगारी बना दिया। अपने जात्याभिमान के कारण ही बिहारी आगरे से हिन्दू शासकों के पास चले गये और दिक्भ्रान्त जयसिंह को सत्पथ पर लाकर वहा अपनी प्रतिष्ठा बना लिये। "बिहारी के निवासस्थान पर आमेर की भीड़ें टूट पड़ीं। बिहारी का दर्शन करना चाहते थे सब। बड़े-बड़े लोग मिलने वैसे आये। सुशीला देखती रही। चन्द्रकला ने भी सुना। बांके ने मूछों पर हाथ फेरा।[५]" सुशीला की मृत्यु के पश्चात् कवि के जीवन में विखराव आ गया और वे महाराजा जयसिंह से अनुमति लेकर संन्यासी हो गये। उपन्यास में बिहारी का चरित्र अत्यन्त ही साधारण ढंग से अंकित किया गया है। अन्तर-चित्रण की अपेक्षा बाह्य-चित्रण ही अधिक हो पाया है।

डॉ० रांगेय राघव पुरुषों की अपेक्षा नारियों के चरित्र-चित्रण में अधिक सफल हुए है। 'रत्ना की बात

---

१ मेरी भवबाधा हरो, पृ० ११५।

२. वही, पृ० ४।

३ वही, पृ० १२।

४ मेरी भवबाधा हरो पृ० ५६।

५ वही पृ० १५०।

की भाँति ही इस उपन्यास में भी नारियों का चित्रण अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। पति नारी का सर्वस्व होता है, जिसे वह किसी भी सुख पर निछावर नहीं कर सकती। अनेक भौतिक साधनों से युक्त होने पर भी सुशीला ने अपने पति से कहा-"पर कहीं मुझे भूल न जाना। एक से बढ़कर सुन्दरी हैं यहाँ इससे तो वह छोटी दुनिया ही भली थी, जहाँ मुझे कोई डर तो न था। किसी और को तो नहीं ले आओगे।"[१] निःसन्तान नारी का जीवन अनेक विडंबनाओं से युक्त होता है। वह अपने को विश्व में बड़ी अभागिनी समझती है। इसलिए खुर्रम के पुत्रोत्पन्न के समाचार को सुनकर सुशीला कह उठी-"राजकुमार का जन्म हुआ है। जिनकी गोद भरती है वह कितनी भाग्यशालिनी होती है।"[२] यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि नारी अपनी काम-वासना की तृप्ति न होने पर परपुरुष से भी अपना मांसल संबंध स्थापित कर लेती है। उस युग में "रनिवासों में छिपकर व्यभिचार चलता, क्योंकि राजा प्रायः तीन-तीन सौ, चार-चार सौ स्त्रियों को रखते और स्तंभन और पौरुष की दवायें खाते।"[३]

नारी पात्रों में सुशीला का चरित्र सर्वोत्कृष्ट है। सुशीला के रूप में उपन्यासकार ने भारतीय नारी के सेवा भाव की अपूर्व छाया ऊर्जस्वित की है। सुशीला का व्यक्तित्व अपने पति के हित में पर्यवसित हो गया है जिसमें उसकी न तो अपनी कोई इच्छा है और न आवश्यकता है। एक दिन पति की आर्तवाणी को सुनकर सुशीला आँखों में आँसू भरकर कहने लगी-"तुम्हें जिसमें सुख होता है, वही मेरा सुख है। मैं जानती हूँ कि कविता करना बहुत ही कठिन काम है। मैं तुम्हारे रास्ते की अड़चन बनकर नहीं रहना चाहती। तुम वही करो जिसमें तुम्हें सुख मिलता हो।"[४] मायके की उस विषम परिस्थिति में भी वह पति की सेवा में मानापमान को सहते हुए रत रहती थी। एक दिन वह पति की उदासी को देखकर कहने लगी-"तुम किसी बात की फिकर मत करो। कविता लिखा करो। मैं सब सँभाल लूँगी। पर देखो, कहीं तुम मुझसे नाराज न हो जाना, फिर मेरा इस जग में कोई नहीं है। सचमुच पति ही स्त्री का सब कुछ होता है।"[५] पत्नी की सफलता पति को आकृष्ट करने में ही है। बिहारी सुशीला की प्रेरणाओं से आनन्दविह्वल होकर कहने लगा-"सुशीला तुम सचमुच मेरी शक्ति हो।"[६] संयम की दृढ़ता के बावजूद उसका मन एक बार चन्द्रकला को देखकर ढीला हो गया और उसने सोचा-"चन्द्रकला। मेरी सौत। वह एकान्त में रोई। पर मन को धैर्य दिया। सब अमीर रण्डीयाँ रखते हैं। बिहारी में ही क्या दोष है।"[७] निरंजनकृष्ण का गोद लेने के पश्चात् उसके मन को कुछ शांति हुई। मृत्यु के समय भी पति की दीन वाणी को सुनते ही वह चीख उठी-"नहीं स्वामी! मैं क्षमा करूँ? नरक जाऊँ? नहीं। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी, तुम चिरंजीवी रहो। मेरा तुम्हारा साथ जन्म-जन्म का है।"[८] भारतीय नारी की भव्यता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है।

सुशीला के अतिरिक्त अन्य नारी पात्र प्रवीणराय, नूरजहाँ, चंद्रकला, अनतकुँवरि चौहान आदि प्रमुख हैं, किन्तु उपन्यास में केवल इनकी गणना की हुई है।

ऐतिहासिकता

बिहारी के जीवन के साथ ही उनका युग भी साकार हो गया है। बिहारी, उनके पिता केशवराय,[९] केशवदास, स्वामी नरहरिदास,[१०] प्रवीण राय चन्द्रकला एवं मुगल शासक सभी ऐतिहासिक पात्र हैं और उनके सम्बन्ध भी प्रायः प्रामाणिक हैं। लेखक ने उनकी गतिविधियों का वर्णन भी ऐतिहासिक मर्यादा को स्वीकार करते हुए किया है। जसवंत को बिहारी के दिये गये पत्र संबंधी घटना अवश्य ही संदेहास्पद है क्योंकि अधिकांश विद्वानों ने

---

१ वही, पृ० ६८।

२ वही, पृ० ७८।

३ वही, पृ० ११६।

४ मेरी भवबाधा हरो, पृ० ६०।

५ वही, पृ० ३५।

६ वही, पृ० ६१।

७ वही, पृ० ८६।

८ वही, पृ० १७१।

९ कविवर मातामह सुमिरि केसव केसवराइ।
करौं कथा भारत्थ की भाषा छन्द बनाइ। - कुलपति मिश्र

१० -[illegible] नरहरि [illegible] नरहरि [illegible]
[illegible] बरिहरि [illegible] नरहरि कै गुन गाइ। -बिहारी

उस पत्र का संबंध जयसिंह[1] से माना है।

लेखक ने उस चमत्कारपूर्ण युग की सामान्य विशेषताओं के आधार पर ही इस उपन्यास का नामकरण 'मेरी भवबाधा हरो' किया। किन्तु हमारे विचार से यह शीर्षक उपयुक्त नहीं है और ऐसा जान पड़ता है कि इसे ऊपर से चिपका दिया गया है। 'यशोधरा जीत गयी', 'आँधी की नींवें', 'रत्ना की बात' आदि उपन्यासों के शीर्षकों की भाँति यदि इस उपन्यास का शीर्षक 'सुशीला की प्रेरणा' रहा होता, तो अधिक स्वाभाविक एवं आकर्षक होता।

उपन्यास में भाषा-शैली का अपना सौन्दर्य होता है, जो 'मेरी भवबाधा हरो' में सर्वत्र परिलक्षित है। इसमें संवाद तत्व का समुचित समावेश हुआ है। ये संवाद विचार प्रकाशक एवं कथा-प्रेरक है। उपन्यास में विचाभिव्यक्ति के लिए तार्किक संवादों का आश्रय लिया गया है, किन्तु इनसे कहीं भी शुष्कता नहीं आयी है। स्थान स्थान पर काव्यमयी भाषा के प्रयोग से लेखक ने विषय की सरसता को बढ़ाया है। ऋतु-वर्णन से उपन्यास की सरसता और अधिक बढ़ गयी है। उपन्यास के क्षेत्र में यह एक अनूठा प्रयोग है। शिशिर ऋतु का वर्णन करते समय लेखक ने लिखा है-"उष्णता को कहीं ठौर न मिलता तो वह विचारी दुर्ग समझकर स्त्रियों के कक्षों में समा जाती। धूप, आग और रुई का बल भी कम हो गया। आलिंगन के ताप का ही सहारा रह गया। धूप हो गयी चाँदनी सी ठण्डी। चकोरी भ्रम से उसे टकटकी लगाकर देखने लगी।"[2] इस उपन्यास में लेखक ने दोहों को उद्धृत कर कथावस्तु को और आकर्षक बना दिया है। 'रत्ना की बात' में लेखक ने पदों का अर्थ न देकर पाठकों के लिए जो समस्या उत्पन्न कर दी थी, उसका समाधान इस उपन्यास में कर दिया है।

इस उपन्यास में लेखक ने तत्कालीन लक्षण-प्रवृत्ति का भी संकेत किया है। दोहे को सुनकर प्रायः लोग उसमें प्रयुक्त अलंकारों का नाम लेकर ही आनंदित होते थे।

अन्त में 'मेरी भवबाधा हरो' सभी औपन्यासिक तत्वों के सानुपातिक संयोग से एक प्रभावशाली जीवनचरितात्मक उपन्यास बन गया है। लेखक की कलात्मक समन्विति इतनी कौशलपूर्ण है कि उन्होंने बिहारी के माध्यम से उस युग को ही साकार कर दिया है।

आँधी की नींवें

'आँधी की नींवें', (१९६१) डॉ० रांगेय राघव का लघु किन्तु अत्यन्त सशक्त जीवनचरितात्मक उपन्यास है। लेखक ने इस उपन्यास में चरितात्मक अध्ययन करते हुए इतिहास-कार और जीवनीकार को अपने में समाहित कर औपन्यासिक आनन्द प्रवाहित किया है। इस कृति के मूल में उनकी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना है। लेखक ने व्यक्तिगत मत व्यक्त करते हुए लिखा है-"प्रायः इतिहासकारों ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या को ही लिया है सांस्कृतिक पक्ष के इस एकांगी अध्ययन का परिणाम कभी ठीक नहीं रहा। अकबर के साम्राज्यवाद का रूप किसी ने भी नहीं देखा। महाराणा प्रताप ने उससे जननायक बनकर युद्ध किया।"[3]

उपन्यास का कथानक मध्यकालीन जीवन के सीमित काल पर आधारित है, जिसमें महाराणा प्रताप और महारानी लक्ष्मी के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने समन्वय के नाम पर विदेशियों के विकृत एवं बर्बर रूप को छिपाने के स्थान पर, उनके शोषक तथा साम्राज्यवादी रूप को उभार कर रख दिया है। 'लखमा की आँखें' उपन्यास की भाँति इस उपन्यास में भी विदेशियों के अमानवीय कार्यों को सबल रेखाओं से अंकित किया गया है।

'आँधी की नींवें' उपन्यास में लेखक ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सम्यक् विवेचन किया है। लेखक ने अपने मौलिक चिंतन के आधार पर यह सिद्ध किया कि अकबर की साम्राज्यवादी नीति ने भारतीय आर्थिक ढाँचे को जर्जर बना दिया। 'अकबर का साम्राज्य·····ह्रास के समय में प्रतिगामी साम्राज्यवाद को दृढ़ कर रहा था, जिसमें विकास क्रम में आते हुए भारतीय पूँजीवाद को तो ठेस पहुँची ही, साथ ही जनता का उत्पीड़न बढ़ा और भारतीय व्यापार को भी आघात पहुँचा। दस्तकारी का काम करनेवालों को हर प्रकार से सामन्त के अधीन बन जाना पड़ा और सामन्तीय उदय के समय में "जो सामग्री अधिक बनती थी, उसका ह्रास हो गया और देश खेती के ऊपर ही अधिकतम निर्भरहो गया, जिसने

---

१ *"एक दोहे में उन्होंने स्पष्ट रूप में जयसिंह को मुगलों का साथ छोड़ देने का परामर्श दिया है।"*
-डॉ० रामसागर त्रिपाठी, बिहारी मीमांसा।

२ *मेरी हरो पृ० ११०।*

३ *आँधी की नींवें (भूमिका)।*

अन्ततोगत्वा प्रजा में दारिद्रय फैलाया। क्योंकि भारतीय सामन्त-किसानों की समृद्धि में नहीं, बल्कि अपने स्वार्थ में लगे थे, वे अकबर से मिल गये और शोषण का साथ देने लगे।"[१] अकबर को घातक आर्थिक नीति को स्पष्ट करते हुए राजपुरोहित ने रानी लक्ष्मी से कहा-"देश का समस्त वैभव ईरान और तूरान के मुगलों और तुर्कों के हाथ में केंद्रित हो रहा है, सारे व्यापार की स्वतन्त्रता इन मुसलमान सौदागरों के हाथ में चली गयी है और अकबर ने उन्हें परम्परानुसार ही जागीरदार बनाकर अखण्ड शक्ति दे दी है।"[२]

तत्कालीन समाज जातिगत भेदों के कारण नहीं अपितु परस्पर वैमनस्य के कारण खोखला हो रहा था। जातीय आधारों पर वर्गीकरण होते हुए भी उच्च वर्ण और निम्न वर्ण में पारस्परिक कटुता नहीं थी। शेरपुर की विजय के पश्चात् गाँव वालों ने कराया था और वह सब वास्तव में देखने योग्य था। उस सम्मिलन में एक नयी भावना थी। छोटी जातों के लोग बाहर ही रहे, पर गुन गाते रहे। महाराणा जब चले तो उनके पीछे जय-जयकार करती भीड़ बढ़ने लगी।[३] "ब्राह्मण वर्ग को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किंतु ब्राह्मणवाद को वर्णाश्रम की असम-व्यवस्था की रूढ़ि का पर्याय समझना ही आवश्यक है। राणा प्रताप ने भील की सहायता ली और सारी जनता उनके साथ थी, जो स्वतंत्रता की दीवानी थी।"[४]

देश के अन्य भागों की अपेक्षा मेवाड़ की भूमि में नारियों को अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। तत्कालीन राजनीतिक ऊहापोह में लेखक ने नारियों के चरित्र को अधिक सबल रेखाओं में खींचा है और उन्हें खींचने में पूर्ण सफलता मिली है। राजपूतों की स्त्रियां पराजय के समय अग्नि में जौहर दिखाना अपना सर्वोत्कृष्ट कार्य समझती थीं। युद्ध-काल में वे पुरुषों की भाँति संघर्ष भी करती थीं। जिस समय शक्तिसिंह ने युद्ध की आशंका से सावधान होकर कहा-"पुरुषों ने स्त्रियों के चारों ओर रक्षा-व्यूह रच लिया और स्त्रियाँ कटारियाँ लेकर तैयार खडी हो गयीं।"[५] बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, किंतु बाल-विवाह का वर्णन उपन्यास में नहीं हुआ है। बहु-विवाह की पुष्टि उस समय होती है, जिस समय महारानी लक्ष्मी ने महाराणा से कहा-"तुम राजपूत हो, एक छोड़ दस ब्याह करने का अधिकार रखते हो। करो। मैं स्त्री हूँ। वह सब सहना तो जन्मजात स्वभाव-सा ही हम राजपूतनियों में बन गया है।"[६] अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित थे।

भारतीय संस्कृति अनेक घातों-प्रतिघातों के अन्तराल में अबाध रूप से बढ़ती रही है। कभी-कभी इसके विकास-पथ में पड़ाव आये हैं, किंतु ये पड़ाव दिग्भ्रान्त न कर सके। धार्मिक संकीर्णता सदैव संस्कृति के लिए अभिशाप सिद्ध हुई है। धार्मिक संकीर्णता का कवच धारण कर लोग व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए देश की संस्कृति का गला घोंट देने में रंच मात्र भी सहमे नहीं। कभी-कभी राजनीति के कलंकित क्षेत्र में धर्म की बलि चढ़ायी गयी है। राजपुरोहित ने महारानी लक्ष्मी एवं भामाशाह से धार्मिक संकीर्णता के दुष्परिणाम को व्यक्त किया-"बौद्धों ने यदि ब्राह्मणद्वेष में इतना विश्वासघात न किया होता, तो इस देश में यह लोग जम नहीं पाते। विदेशियों ने बौद्ध का सर्वनाश कर दिया। नासमझ बौद्ध! कितने दिन से हम सब यहाँ रहते हुए नहीं चले आ रहे थे। किन्तु अपनी संस्कृति एक थी। परन्तु उन्होंने विदेशियों पर विश्वास किया और उसी विश्वास की अंतिम कड़ी बनकर मुगल आये हैं। आज तक के मुसलमान-विजेता कम से कम इसी देश की भाषा को राजभाषा बनाकर चलते थे, किन्तु मुगलों ने अपनी फारसी को इस देश पर लाद दिया है।"[७] भाषा संस्कृति के पुनीत मंदिर तक पहुँचने का सोपान है। भाषा के बिखराव से जनसाधारण का संस्कृति से संबंध लड़खड़ाने लगता है। इसलिए अकबर ने फारसी को राजभाषा घोषित किया, जिसके बल पर वह इस देश की गौरवमयी संस्कृति को नष्ट कर देना चाहता था। आज अंग्रेजी के प्रति इतना व्यामोह इसलिये है कि अंग्रेजों ने जनभाषा को तिरस्कृत कर अंग्रेजी को सोपान बनाया था। परिणामतः अनेक छद्मवेशी भारतीय आज भी इसी विदेशी भाषा के धरातल पर खड़े होकर भारतीय संस्कृति का दर्शन करना चाहते हैं।

अन्य जीवनचरितात्मक उपन्यासों की अपेक्षा 'आँधी की नीवें' में राजनीतिक परिस्थितियाँ अधिक उभर

---

१ आँधी की नीवें, पृ० ८ (भूमिका)।

२ वही, पृ० ४३।

३ वही, पृ० ७२।

४ वही, पृ० ७ (भूमिका)।

५ आँधी की नीवें, पृ० १७।

६ वही पृ० १६।

७ वही पृ० ४२

आयी हैं। अकबर की साम्राज्यवादी नीति ने देश के राजनीतिक वातावरण को अत्यन्त विषाक्त कर दिया था। मुगल निर्दयता से अत्याचार कर रहे थे। रात्रि के समय अकेले निकले हुए शक्तिसिंह ने एक गाँव में देखा कि 'कुछ मुगल सैनिक ग्रामीणों को पकड़े हुए है। शायद एक बच्चा उन्होंने मार डाला था। तभी स्त्री रो रही थी स्त्री ने रोते हुए कहा-"निर्दयी, तूने मेरे बच्चे को मार डाला। सड़ाक की आवाज हुई। किसी ने उस स्त्री के शरीर पर कोड़ा मारा। शक्तिसिंह का क्रोध उन्हें पागल करने लगा।"[१] अकबर ने अपने राजनीतिक पैंतरे द्वारा हिन्दुओं के स्वाभिमान की रीढ़ तोड़ दी। यद्यपि हिन्दू उसे अपना हितैषी समझते रहे। वृद्ध राज पुरोहित महारानी लक्ष्मी से अन्य मुसलमान शासकों की अपेक्षा अकबर की घातक नीतियों को स्पष्ट करते हुए कहता है-"लोग कहते है, राणा हम्मीर के समय में अलाउदीन खिलजी था, जिसने मुसलमानों को शासक बनाया था, मैं समझता हूँ वह भी इतना चतुर नहीं था जितना अकबर शाह। परंतु जजिया तो हट गया है, पर खेती पर कर लगाकर अकबर ने नामवरी भी लूटी और अपना खजाना भी अठगुना भर लिया।"[२] मेवाड़ के राजपूतों ने भी समय के साथ ही अपनी युद्ध-नीति में परिवर्तन कर दिया क्योंकि राजपूत अपने धर्मयुद्ध के कारण सदैव पराजित होते रहे। उदयसिंह की युद्ध-प्रणाली के आधार पर महाराणा प्रताप ने भी "अंत तक गुरिल्ला-युद्ध चलाया, जिसे बाद में शिवाजी ने अपनाया।"[३] आज भी इस युद्ध-परंपरा के आधार पर उत्तर वियतनाम के सैनिक अमरीका की भीषण शक्ति का सामना कर रहे है। विश्व के अन्य भागों में भी गुरिल्ला-युद्ध की प्रणाली प्रचलित हो रही है। मध्यकालीन राजनीतिक परिस्थिति में गुरिल्ला युद्ध के पश्चात् भी राजपूत अपने पारस्परिक मतभेदों के कारण पराजित होते रहे। इसी पारस्परिक कलह के परिणामस्वरूप राणा प्रताप को आजीवन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।"

चरित्र

'आँधी की नीवें' चरित्र-प्रधान उपन्यास है। इस उपन्यास की चरित्र-सृष्टि की प्रमुख विशेषता यह है कि लेखक ने सभी पात्रों का अंकन सबल रेखाओं से करना चाहा है और ऐसा करने में पूर्ण सफलता मिली है। 'लोई का ताना', 'लखमा की आँखें' आदि उपन्यासों में क्रमश: कबीर और विद्यापति के अतिरिक्त अन्य पात्र भर्ती के जैसे लगते है किन्तु इस उपन्यास में कोई भी पात्र निरर्थक नहीं है और सभी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते है। कथा की धारा में महाराणा प्रताप और महारानी लक्ष्मी को अधिक स्थान मिला है, जिसके कारण वे अविस्मरणीय बन गये है। कोई भी पात्र लेखक के व्यक्तिगत विचारों का वहन करता हुआ नहीं दिखायी पड़ता और सभी पात्र अपने युग की सीमा में ही जीवन जीते है। लेखक ने स्वयं स्पष्ट किया है-"मैंने चरित्र-चित्रण के समय यह ध्यान रखा है कि पात्र अपने युग-विशेष के दृष्टिकोण से ही बातें करते है, जहाँ मुझे अपनी ओर से कोई आधुनिक चिंतन का संकेत देना पड़ा है, वह मैंने वर्णन में दे दिया है।"[४]

महाराणा की पत्नी महारानी लक्ष्मी के व्यक्तित्व पर ही इस उपन्यास का मण्डप तैयार किया गया है। लेखक ने उपन्यास की भूमिका में लिखा है-"प्रस्तुत उपन्यास लिखने का विचार तब आया जब एक रात राजपूत कथाओं के विषय में बातचीत चल रही थी। मेरे सामने मेवाड़ के अनेक वीरों के नाम थे, किन्तु न जाने कैसे यह स्त्री मेरी आँखों के सामने आ खड़ी हुई। बालिका के हाथ से जब बिलाव द्वारा रोटी ले जाने की घटना ने महाराणा प्रताप को भी विचलित कर दिया था, तब यही स्त्री वज्र की तरह अडिग और कठोर बनी रही। मुझे इस स्त्री के चरित्र ने विस्मित किया।" सम्पूर्ण उपन्यास में महारानी का चरित्र छाया हुआ है। हम महारानी को पूर्वजों के प्रति निष्ठावान, साहसी, समता भाववाली, दार्शनिक, निरभिमान, विलक्षणबुद्धि, विनोदप्रिय, प्रजा-वत्सल रूप में पाते है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कोई नारी अपने पति की प्रगति पर हर्षित हो उठती है, किन्तु महारानी लक्ष्मी महाराणा के शासक हो जाने पर भी मेवाड़ के भावी विघटन को सोच कर प्रसन्नता व्यक्त नहीं करती हैं। अपितु महाराणा से सहज भाव से कह उठती है-"····· व्यक्ति यदि अपने को राज से ऊपर करके देखने लगेगा तो कैसे काम चल सकेगा। राजपूत वीरता और बुद्धि को अलग करके कैसे देख सकते है। मै स्त्री हूँ स्वामी! जाति से देश का गौरव तभी बढ़ता है, जब जाति देश के लिए मरने के साथ-साथ जीना

---

१ वही, पृ० २८।
२ आँधी की नीवें, पृ० ४३।
३ वही, पृ० ६ (भूमिका)।
४ वही
५ आँधी की नीवें (भूमिका)

भी जानती है और वीरता के मतवाले राजपूत जीने से ऊपर मरने को लेकर चलते हैं। जब जीने का सवाल आता है तब वे व्यक्ति और देश के बीच सामंजस्य रखने की बात नहीं सोचते।"[1] किन्तु वृद्ध राजपुरोहित के द्वारा महाराणा प्रताप के शासक होने संबंधी घटनाओं का रहस्योद्घाटन होने पर महारानी सहज भाव से कह उठती है-"मैं इस प्रहरी के बाईं ओर की रक्षिका हूँ।"[2] पत्नी के जीवन की सार्थकता उसके पति के संतोष में निहित है। महारानी के अद्भुत व्यक्तित्व को देखकर महाराणा प्रताप एक दिन हर्षातिरेक में बोल उठे-"तो सुनो लक्ष्मी, जिस दिन तुम्हें देखा था मुझे लगा था मैं इस कठिन राह पर अधिक नहीं चल सकूँगा, क्योंकि तुम अत्यन्त कोमल थीं। परन्तु तुमने प्रमाणित किया, तुम देखने में जितनी कोमल और निर्बल हो, उतना ही तुम्हारे भीतर एक हठ और सबल मन भी है। फिर भी मेरे सामने यह उलझन बनी रह गयी है कि तुम इतनी दृढ़ और कठोर होते हुए भी सबके लिए यह समान स्नेह कहाँ से ले आती हो?"[3] महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह के युद्धस्थल में चले जाने के पश्चात् महारानी ने सभी नारियों और बच्चों को मातृवत स्नेह दिया। उनकी व्यस्तता को देखकर दासी रूपा ने महाराणा को पत्र लिखा कि "महारानीजी पर काम बहुत बढ़ गया है। ... उन्होंने बहुत-से बच्चों को ठहराने में अपने कपड़े-लत्ते भी बिस्तर बनाने को दे दिये हैं। ... वह सब पलंग पर नहीं सोतीं। कहती हैं कि मेरे पति और देवर आजकल न जाने कहाँ पत्थरों पर घोड़ों के साज बिछाकर सोते हैं, उस समय क्या मुझे बिस्तर पर आराम से सोना अच्छा लगेगा।"[4] विजयी महाराणा प्रताप के लौटने के पश्चात् भी महारानी एक मृत बालक को गोद में लेकर बैठी रहीं और तब तक स्वागत न कर सकीं, जब तक कि महाराणा प्रताप ने नहीं कहा कि, "शपथ! महारानी! इस अनन्त आकाश और विपुला पृथ्वी के बीच में आज सौगंध खाता हूँ कि जब तक मेवाड़ स्वतन्त्र नहीं होगा तब तक मैं इसी तरह फटे वस्त्र धारण करूँगा।"[5] महारानी के इस अद्भुत व्यक्तित्व के कारण ही इस उपन्यास का शीर्षक 'आँधी की नीवें' रखा गया। लेखक ने शीर्षक संबंधी अपनी मान्यताओं को व्यक्त किया है-"पहले मैंने इस उपन्यास का नाम 'राणा की पत्नी' रखा था, किन्तु वास्तव में वह नाम इस विषय का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता था, ... महाराणा प्रताप ने जो अन्तिम समय तक युद्ध किया, महारानी ने उसके लिए अपना जीवन होम कर दिया था, इसलिए मैंने इसे 'आँधी की नीवें' नाम देना अधिक उचित समझा ...।"[6] महारानी के अतिरिक्त अन्य स्त्री पात्रों में ईसुरी, रूपा, चम्पादे, पन्नादाई, बारहट की पत्नी आदि मुख्य हैं, किन्तु इन नारी पात्रों का उपन्यास में केवल परिचय-मात्र होता है।

पुरुष पात्रों में महाराणा प्रताप, शक्तिसिंह, अकबर, राजपुरोहित जगमल, भामाशाह, बारहट, रहीम, सरदार झाला, बीसल एवं अमरसिंह का प्रमुख स्थान है। इन पात्रों में महाराणा प्रताप को कथा-धारा में अधिक स्थान मिला है। महाराणा का चरित्र उपन्यास में महारानी के समानान्तर ही चला है। 'महाराणा कीका' अपने शौर्य के कारण ही महाराणा प्रताप के नाम से प्रसिद्ध हुए। "महाराणा अग्नि के समान थे धीरे-धीरे सुलगते थे, परन्तु बुझने का नाम नहीं लेते थे। पानी पड़ता तो धुआँ देते और राख की तहों में जा दबते, और जब हवा चलती तो फिर हरहराने लगते।"[7] निर्लोभी महाराणा प्रताप ने शासन की बागडोर को लेना भी अस्वीकार कर दिया था किन्तु भीलों, सामन्तों एवं राजपुरोहित के आग्रह पर ही उत्तराधिकारी हुए और आजीवन कहते रहे-"मेवाड़ के वासियों! मैं तुम्हारा शासक नहीं हूं, सेनापति हूँ। मेवाड़ के स्वामी एकलिंग हैं। राजा सबसे ऊपर नहीं होता यही प्रमाणित करने को हमारे पुरखों ने मेवाड़ को अपना नहीं, प्रजा और भगवान् मानकर अपने को केवल इसका प्रबन्धकर्त्ता बनाया था।"[8] महारानी लक्ष्मी महाराणा के जीवन में प्रेरणा-स्रोत के रूप में अवतरित हुई थीं और उन्हें सदैव कर्तव्य-पथ पर अग्रसर करती रहीं। महाराणा ने भी अपनी दूरदर्शिता के कारण युद्ध की नयी प्रणाली अपना कर सम्राट अकबर को सदैव चिंता के लिए विवश किया। वे हिन्दू नेता नहीं, अपितु जननेता थे। बारहट की पत्नी महाराणा की जन-सेवा से प्रभावित होकर कहने लगी-"राणा! तेरे जैसे सपूत मिलें, सबको मिलें तो

---

१ वही, पृ० ७।
२ वही, पृ० १४।
३ वही, पृ० २०।
४ वही, पृ० ५०।
५ वही, पृ० ११७।
६ आँधी की नीवें (भूमिका)।
७ वही पृ० ५४।
८ वही पृ० ६८

स्त्री जननी बने, नहीं तो विधाता बाँझ ही बनाये रखे। ले, मैं पंक्तिवंचना नहीं करूँगी। तू भी संग सवार में खा।"[1] महारानी लक्ष्मी भी महाराणा जैसे पति को पाकर अपने भाग्य को सराहती रहीं। शक्तिसिंह का परिचय एक बहादुर किंतु क्रोधी व्यक्ति के रूप में हुआ है। उनका स्वाभिमान, अभिमान के रूप में परिणित होता जा रहा था, जिसके कारण उन्हें शत्रु की शरण में जाना पड़ा। "उस समय कोई नहीं जानता था कि एक दिन यह वीर शक्तिसिंह भाई से क्रुद्ध होकर शत्रु का दास बनने चला जायेगा और अनजाने ही व्यक्तिगत द्वेषों के कारण मेवाड़ की कुललक्ष्मी को ही ठोकर लगायेगा और अंत में अपनी ही पश्चाताप-भरी यातना में अपने ही बाल नोंचनोंचकर पत्थरों पर सिर पटकता हुआ पागल होकर धूलि में हाहाकार करता फिरेगा।'[2] अकबर का चरित्र खल पात्र के रूप में अवतरित है, जो साम्राज्य के हित के लिए किसी भी अमानवीय कार्य को सहज की कर बैठता था। विद्वान लेखक ने यह सिद्ध किया कि भारतीय संस्कृति के लिए किसी भी विदेशी शासक की अपेक्षा अकबर अधिक घातक था। अन्य पुरुष पात्र केवल कथा में विस्तार के योग के लिए चित्रित किये गये हैं।

यह जीवनचरितात्मक उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, इसलिए इसके अधिकांश पात्र ऐतिहासिक है। डॉ० रांगेय राघव ने अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास में भी ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की है। किन्तु अपनी सौजन्य-कल्पना से इस उपन्यास को इतना सरस बना दिया है कि पाठक को इतिहास की नीरसता का भान नहीं हो पाता। इनकी काव्यात्मक शैली इस उपन्यास में भी अधिक उभर आयी है। इनकी भाषा बड़ी प्राजल एवं समर्थ है।

निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते है कि 'आँधी की नीवें' लघु उपन्यास होते हुए भी अत्यन्त सशक्त एव प्रभावशाली है तथा जीवनचरितात्मक होते हुए भी अपने युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं की झाँकी प्रस्तुत करता है।

• • •

---

१ वही पृ० ८७।

२ आँधी की नीवें पृ० ६४।

अध्याय सात

उपसंहार

प्रगतिशील आन्दोलन और डॉ० रांगेय राघव

प्रगतिशील आन्दोलन

प्रगतिवाद विश्व की विविध परिस्थितियों की स्वाभाविक देन है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में होनेवाली उथल-पुथल से भारतीय जन-मानस ही नहीं, अपितु समस्त यूरोपीय जन-मानस भी उद्वेलित हो चला था। यूरोप में युद्ध और फासिज्म के गहरे होते हुए संकट के कारण वहाँ का जीवन विषाक्त परिस्थितियों के दौर से गुजर रहा था। इस सर्वक्षेत्रीय विघटन से उद्भूत अस्त-व्यस्तता के फलस्वरूप समाज तथा साहित्य को नई, स्वस्थ तथा प्रशस्त दिशाओं की ओर उबार ले जाने के लिए यूरोप के सजग बुद्धिजीवी वर्ग ने सन् १९३५ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' (प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन) नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को जन्म दिया और उसी वर्ष पेरिस में उसका प्रथम अधिवेशन आयोजित किया गया। अधिवेशन के सभापति अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार ई० एम० फार्स्टर थे। इस संस्था का उद्देश्य साहित्य को जीवन की नवीन राहों की ओर मोड़ना था और उसके माध्यम से समाज की विभिन्न समस्याओं को निपटाना था। इस संस्था की विशद् योजना, महत् उद्देश्य एवं लोकोपयोगी तत्त्व से प्रभावित होकर डॉ० मुल्कराज आनन्द, डॉ० सैयद सज्जाद जहीर, डॉ० के० एस० भट्ट जैसे कुछ भारतीय लेखकों ने लन्दन में 'भारतीय लेखक संघ' की स्थापना की और वहीं से अपने भारतीय मित्रों के पास एक परिपत्र भेजा, जिसमें लिखा गया था कि, "भारतीय समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही है और एक नये समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वे भारतीय जीवन में पैदा होनेवाली क्रान्ति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों। हम भारतीय सभ्यता की परम्पराओं की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से उन सभी बातों का संचय करेंगे जिससे हम अपनी मंजिल तक पहुँच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए और वह है हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनीतिक पराधीनता का प्रश्न। ...... वह सब-कुछ, जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अन्धविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सब-कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते है"[1] इस परिपत्र का भारतीय साहित्यकारों ने पूरी हार्दिकता से स्वागत किया। मुंशी प्रेमचन्द ने इसके उद्देश्यों और योजनाओं पर अपनी पूरी सहमति व्यक्त करते हुए अन्य साहित्यकारों से इस नये रचनात्मक उत्थान में योग देने का आग्रह किया।

डॉ० मुल्कराज आनन्द तथा सज्जाद जहीर आदि के प्रयत्नों से भारत में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का प्रथम अधिवेशन सन् १९३६ में लखनऊ में हुआ। इसके अध्यक्ष मुंशी प्रेमचन्द थे। उन्होंने साहित्यकारों के कर्तव्यों की ओर संकेत करते हुए कहा कि, "अब उनका उद्देश्य मनोरंजक, संयोग-वियोग, नायक-नायिका की कहानी मात्र का निर्माण करना नहीं है, अपितु उन प्रश्नों को भी उठाना है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते है।"[2] इस अधिवेशन के पूर्व हिन्दी साहित्य तत्कालीन सामाजिक परिवेश से कटा हुआ-सा प्रतीत होता था। जीवन और साहित्य की दिशाएँ एक ही नहीं मालूम पड़ती थीं। इसलिए मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्यकारों की मनोवृत्तियों की आलोचना करते हुए कहा कि, "हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[3] निराशा और नश्वरता के भावों से पूर्ण साहित्य की व्यर्थता बताते हुए उन्होंने साहित्य में उच्च चिन्तन, स्वाधीनता संघर्ष और कर्म की प्रेरणा को आवश्यक बताया।

भारतीय 'प्रगतिशील लेखक संघ' का दूसरा अधिवेशन सन् १९३८ में कलकत्ता के आशुतोष मेमोरियल हाल में हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी अस्वस्थता के कारण सभा-स्थल पर नहीं आ सके।

---

१ *डॉ० शिवकुमार मिश्र, प्रगतिवाद, पृ० १६*

२ *प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य, पृ० ५।*

३ *वही*

अतएव उनका लिखित भाषण पढ़कर सुनाया गया। इस समय के घोषणापत्र में देश की तत्कालीन आर्थिक सामाजिक, साहित्यिक परिस्थितियों पर अधिक स्पष्टता से प्रकाश डाला गया है। घोषणापत्र में कहा गया है, कि, "प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन में होनेवाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति दें और साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके देश में क्रान्ति की भावना के विकास में सहायता पहुँचाये। उन्हें साहित्य-समीक्षा के ऐसे दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए, जो साम्प्रदायिकता, जाति-द्वेष तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की भावना को प्रतिबिंबित करती हो। हमारे संघ का उद्देश्य साहित्य तथा अन्य कलाओं को जो अब तक रूढ़िपंथी वर्गों के हाथ में पड़कर निर्जीव होती जा रही हैं, उनको मुक्त कराके, उनका निकटतम सम्बन्ध जनता से कराना और उन्हें जीवन के यथार्थों की अभिव्यक्ति का माध्यम और नये विश्व का निर्माण करनेवाली शक्ति बनाना है।"[१]

द्वितीय महायुद्ध के कारण विश्व के समक्ष फासिज्म का नया संकट प्रस्तुत हो गया। सभी देश के बुद्धिजीवी फासिज्म के आतंक से त्रस्त मानवता की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गये। भारत में भी बुद्धिजीवी वर्ग ने दिल्ली में मई, सन् १९४२ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का तीसरा अधिवेशन किया। फासिज्म के संदर्भ में होने के कारण इस अधिवेशन को 'फासिस्ट-विरोधी लेखक-सम्मेलन' के नाम से पुकारा गया। डॉ० अलीम की अध्यक्षता में इसी समय प्रगतिशील लेखकों ने अपना एक विशेष अधिवेशन भी किया। इसमें जनवादी लक्ष्यों से प्रेरित तथा शान्ति की कामना करनेवाले सभी लेखकों ने भाग लिया। इस अवसर पर एक विशेष अपील भी की गयी, जिसे भारत के बुद्धिजीवी-वर्ग के चुने हुए प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर सहित, यूरोप में होनेवाले फासिस्ट-विरोधी सम्मेलन में भारत के सहयोग तथा सद्भावना का आश्वासन देते हुए भेजा गया। तीसरे अधिवेशन में घोषित किया गया कि, "आज हमारा कर्तव्य है कि हम फासिस्ट आक्रमण के खिलाफ अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की राष्ट्रीय भावना अपने देश की जनता में जगायें। आज हमारा कर्तव्य है कि हम फासिज्म की असली प्रकृति का पर्दाफाश करें और फासिस्ट प्रचार के चंगुल में आने से अपनी जनता को बचायें। आज हमारा कर्तव्य है कि हम देश में एकता पैदा करें और जातियों के बीच की खाई को पूरें जिसमें तत्काल राष्ट्रीय सरकार और देश के सौ फीसदी बचाव का रास्ता साफ हो सके। आज हमारा कर्तव्य है कि हम पस्त-हिम्मती के खिलाफ लड़ें और अपने देशवासियों में सभी प्रकार के विदेशी आक्रमण और आधिपत्य के खिलाफ प्रतिरोध करने का सकल्प पैदा करें। हम हिन्दुस्तान के महान् और बहुमूल्य सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रहरी हैं।"[२]

'प्रगतिशील लेखक संघ' का चौथा अधिवेशन मई, सन् १९४३ में बम्बई में युद्ध की भयावह छाया में हुआ। इस सम्मेलन के सभापति श्रीपाद अमृत डांगे थे। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि, "बाहर आइए और खुली नजरों से देखिए कि किस तरह करोड़ों आदमी शोषण और विपत्ति के गाल में पडे रहने पर भी काम करते हैं, सोचते है, लड़ते है और आगे बढ़कर स्वतन्त्रता के संग्राम में भाग लेते हैं। उनको देखिए और यदि आपका हृदय गवाही दे तो उनकी भावनाओं को वाणी दीजिए। यदि आप उनकी सच्ची स्थिति का चित्रण कर सकें और उन्हें अपनी कला में सजीव कर सकें, तो हम आपसे यह शिकवा करने कभी नहीं आयेंगे कि, "अरे साहब, आपने किसी पात्र के मुँह से कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो तो कहलाया ही नहीं।" जनता की प्रवृत्तियों के अनुसार अपनी कल्पना परिवर्तित कीजिए, अपनी मानसिक प्रवृत्तियों के अनुरूप काल्पनिक जनता मत खडी कीजिए। तभी यह साहित्यिक जड़ता दूर हो सकेगी। नहीं तो कृपया मेहनतकश जनता का पीछा छोड़िये क्योंकि शरत बाबू के शब्दों में उनके कलाकार का जन्म हो रहा है, जो शीघ्र ही सामने आकर उनकी वाणी को प्रतिध्वनित करेंगे।"[३]

इस अधिवेशन में भाग लेनेवाले जोश मलीहाबादी (उर्दू), बकुलेश (गुजराती), मामा बरेरकर (मराठी), विष्णु दे (बंगला) तथा नरेन्द्र शर्मा (हिन्दी) जैसे अनेक साहित्यकार हैं। संघ के मंत्री सज्जाद जहीर ने कहा था कि देश के विभिन्न भाषाओं के सजग और राष्ट्रप्रेमी साहित्यिकों का इस एक मंच पर एकत्र होना उनकी सांस्कृतिक मोर्चे के निर्माण की उत्सुकता को व्यक्त करता है।

'प्रगतिशील लेखक संघ' का पाँचवाँ अधिवेशन मई, सन् १९४९ में बम्बई के एक उपनगर भिवण्डी में हुआ। पहले यह अधिवेशन बम्बई में होनेवाला था, किन्तु वहाँ पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण सम्भव न

---

१ हंस, अक्तूबर १९४४ :
२ डॉ० त्रिवेदी प्रगतिवादी समीक्षा पृ० १०४।
३ और साहित्य श्री अमृतपाद डांगे का अध्यक्षीय भाषण पृ० २५।

हो सका। इसके निर्देशक डॉ० रामविलास शर्मा थे। इसके घोषणापत्र में कहा गया है कि, "अगस्त १९४७ के बाद भारतीय जनता की स्वाधीनता एक नये दौर में दाखिल हुई है। भारतीय पूँजीपति-वर्ग, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में सदा साम्राज्यवाद से समझौता किया करता था, अब साम्राज्यवाद से खुले आम उसका गठबन्धन हो गया है। ब्रिटिश कामनवेल्थ में बने रहने का जो निश्चय भारतीय सरकार ने किया है, वह इस गठबन्धन की ही चरम परिणति है। यह समझौता भारतीय जनता की इस इच्छा का विरोधी है कि इस देश में एक पूर्ण स्वतन्त्र, सार्वभौम, प्रजातांत्रिक राज्य स्थापित किया जाय।..... ...प्रगतिशील लेखक प्राचीन साहित्य और संस्कृति के सच्चे उत्तराधिकारी हैं और मानव सभ्यता की सर्वश्रेष्ठ परंपराओं को आगे ले जाते हैं। वे आज के समाज के ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि में अपनी प्राचीन सांस्कृतिक निधि का आलोचनात्मक दृष्टि से लेखा-जोखा करते हैं। वे संस्कृति को साम्राज्य-लिप्सा और थोथे रहस्यवाद का पर्याय बनाने मे इन्कार करते हैं और जो लोग ऐसा करने की कोशिश करते हैं, उनका वे पर्दाफाश करते हैं और दिखलाते है कि ऐसा करने में उनका असल उद्देश्य क्या है।"[१]

'प्रगतिशील लेखक संघ' का छठा अधिवेशन मार्च, १९५३ ई० में दिल्ली में संपन्न हुआ। संघ के मंत्री सज्जाद जहीर के पाकिस्तान चले जाने के कारण श्री किशन चन्दर को संघ का मंत्री निर्वाचित किया गया। इस अधिवेशन में 'प्रगतिशील लेखक संघ' को व्यापक बनाने के विषय पर विचार किया गया और घोषणापत्र में कहा गया कि, "भारत की जनता चाहती है कि उसके साहित्य और कला उसकी राष्ट्रीय परंपराओं के अनुकूल फलें-फूलें। सभी देशभक्त लेखक और कलाकार जनता की इस न्यायोचित इच्छा को पूरा करना चाहते हैं। उन्हें अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व है। इस विरासत में जो कुछ भी सुन्दर और महान् है, उसका वह अपने सृजनात्मक प्रयास से विकास करना चाहते हैं, जो कुछ भी उसमें मिथ्या और ह्रासोन्मुख है, उसे वे अलग करना चाहते हैं।...... हमारे साहित्य को सुन्दर और कलात्मक होना चाहिए, उसका रूप राष्ट्रीय और लोकप्रिय होना चाहिए। हम अपने देश में सभी भाषाओं के साहित्य के फलने-फूलने की पूरी सुविधाएँ चाहते है। हम लेखकों से जनता की सेवा के लिए एक होने और अपने सृजनात्मक कार्य से उसे सुखी और समृद्ध जीवन बनाने के लिए प्रेरित करने की माँग करते हैं।"[२]

इस अधिवेशन के पश्चात् 'प्रगतिशील लेखक संघ' में बिखराव आ गया और भविष्य में कोई भी अधिवेशन न हो सका। किन्तु इसका प्रभाव प्रान्तीय और क्षेत्रीय सीमाओं पर पड़ा। परिणामतः 'अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक-संघ', 'प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन', 'काशी प्रगतिशील लेखक संघ' का जन्म हुआ। इस सम्मेलनों में प्रगतिवादी साहित्य के विकास के सम्भावनाओं पर प्रकाश डाला गया।

स्वतंत्रता के पश्चात् 'प्रगतिशील लेखक संघ' के आन्दोलन का उत्कर्ष धीमा पड़ने लगा। यह आन्दोलन पार्टीबन्दी की लपेट में आ गया और इस पर वामपंथी दलों का प्रभुत्व छा गया। इस कारण अनेक लेखक इस आन्दोलन से अलग होकर इसकी कटु आलोचना करने लगे। एक समीक्षक का मत है कि, "प्रगतिशील आन्दोलन का संचालन-सूत्र वामपंथी लेखकों तथा साहित्यकारों के हाथ में खिसक आया जो आगे चलकर उसके विघटन का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। शासकीय-सूत्रों के नियन्त्रण और दमन के कारण स्थानीय शाखाएँ तो विच्छिन्न थीं ही, वामपंथी संकीर्णता के कारण अखिल भारतीय तथा प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक संघ का अवशिष्ट रूप भी दिन-ब-दिन क्षीण पड़ने लगा।"[३] कालान्तर में बौद्धिकता के अतिरेक और अति यथार्थवादिता ने इसमें प्रेषणीयता के स्थान पर वीभत्सता ला दी। अनेक लेखकों ने क्रान्ति के जोश में आकर भारतीय संस्कृति का विरोध करना शुरू कर दिया, जिससे पाठकों को गहरा आघात लगा। इस आन्दोलन के विघटन का कारण निर्देश करते हुए हंसराज 'रहबर' ने लिखा है, "नये समाज का निर्माण करनेवाली मेहनतकश जनता और मजदूर-वर्ग को नये साहित्य का नायक और मुख्य पात्र बनाने के बजाय चोर, बदमाश, गुण्डा, आवारा, रण्डी, रण्डी का दलाल आदि नकारात्मक तत्त्वों को नायक तथा मुख्य पात्र बनाकर सामाजिक परम्पराओं, धार्मिक मान्यताओं और नैतिकता की अवहेलना की गयी। इसमें साहित्य और राजनीति में अराजकता और बोहेमियनवाद का प्रादुर्भाव हुआ।

---

१ रवीन्द्र श्रीवास्तव, *प्रगतिशील आन्दोलन*, *हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखकों का नया घोषणापत्र*, २७-२८ मई, १९४९ ई०, पृ० २६५।

२ रवीन्द्र सहाय, *प्रगतिशील आलोचना*, *'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का घोषणापत्र*, मार्च, १९५३, पृ० २६१ ७०।

३ डॉ० त्रिवेदी *प्रगतिवादी समीक्षा* पृ० ११२।

प्रगतिशील आन्दोलन अन्त तक मुख्य रूप से इसी नकारात्मकता, बौहमियनवाद और अराजकता का प्रतिनिधित्व करता रहा, जिससे भीतरी असंगतियाँ बढ़ीं और यही असंगतियाँ उसके विघटन का कारण बनीं।''[१]

प्रगतिशील आन्दोलन : उपलब्धियाँ

प्रगतिशील आन्दोलन ने जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसने लेखकों को कल्पना के गगन से उतार कर यथार्थ की ठोस धरती पर ला खड़ा किया और जीवन की असंगतियों तथा समस्याओं को कार्य-कारण रूप में परखने का प्रयत्न किया। प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रभाव से साहित्य में एक ओर जहाँ जनसाधारण की आशा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति मिलने लगी, वहाँ दूसरी ओर युगीन राष्ट्रीयता के साथ साथ उसमें अन्तर्राष्ट्रीयता और मानवतावाद का भी समावेश हुआ। प्रगतिवादी साहित्य में इस व्यापक दृष्टि और महान् विचारणा को सर्वत्र स्वीकृति मिली है। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य ने मनुष्य को उसके धर्म, संस्कार जाति, रंग तथा भाषागत सीमाओं से मुक्त कर उसे केवल मनुष्य के रूप में देखने का प्रयत्न किया।

प्रगतिशील आन्दोलन ने देववंशोद्भव अथवा धीरोदात्त पात्रों के स्थान पर जन-सामान्य को नायकत्व प्रदान किया। मजदूर, किसान तथा चोर, डाकू आदि भी नायक के रूप में स्वीकार किये जाने लगे। इन पात्रों में अतिवादिता का विरोध होने लगा। ''कथाकारों को प्रगतिवादी दृष्टिकोण ने सामाजिक यथार्थवाद के दो खतरों से बचाने का प्रयत्न किया है। एक खतरा तो मनोविश्लेषणवाद की ओर से है जिसमें या तो शेखर और भुवन जैसे सर्वथा अहंवादी और असाधारण पात्रों की सृष्टि की जाती है अथवा इलाचन्द्र जोशी के सेक्सग्रस्त अद्भुत नायकों का निर्माण होता है। इन दोनों प्रकार की असाधारणताओं से उबार कर प्रगतिवाद ने साधारण पात्रों के निर्माण का गुर बताया।''[२]

लोक-निर्माण और लोक-संस्कृति का पुनरुद्धार प्रगतिशील आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस आन्दोलन ने लोक-संस्कृति के विभिन्न पक्षों को स्पर्श करने का जो प्रयत्न किया, उसके फलस्वरूप देश के विभिन्न अंचलों में वहाँ की बोलियों में साहित्य की सर्जना करनेवाले अनेक साहित्यकारों का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दी का आंचलिक उपन्यास इसी का परिणाम है, जिसमें अंचल विशेष के जन-जीवन और उनकी संस्कृति का वर्णन होता है। इस प्रकार इस आन्दोलन ने एक नवीन सांस्कृतिक अभियान के द्वारा देश में नव-जागरण का संदेश दिया, जो परिणाम की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली है। इस आन्दोलन के प्रभाव से देश में अनेक प्रगतिशील पत्र भी निकलने लगे। बंगला में 'परिचय', हिन्दी में 'नया साहित्य', उर्दू में 'नया अदब', गुजराती में 'संस्कार' और तेलगू में 'अभ्युदय' आदि इसके प्रमुख उदाहरण है।

यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि प्रगतिवादी आन्दोलन ने साहित्य और जनजीवन की चेतना में एक नया मोड़ दिया। यही कारण है कि छोटे-छोटे साहित्यिकों से लेकर कवीन्द्र रवीन्द्र और प्रेमचन्द जैसे उच्च कोटि के साहित्यकारों ने इस आन्दोलन का खुलकर समर्थन किया। यह आन्दोलन जनता को साथ लेकर चलने में ही अपनी सार्थकता मानता है। स्वाभाविक रूप से जिन देशों में शोषणमूलक पद्धतियों का अभी अन्त नहीं हुआ है, वहाँ प्रगतिवादी साहित्य शोषण के विरुद्ध संग्राम के लिए उकसावेगा, पर जहाँ सच्चे अर्थो में जनवादी शासन स्थापित हो चुका है, वहाँ वह निर्माण के हाथों को मजबूत करेगा, अवश्य वह हर हालत में शोषकों के षड्यन्त्रों के विरुद्ध जनता को जागरूक रखेगा।''[३]

यद्यपि यह आन्दोलन एक महान् साहित्यिक और सांस्कृतिक लक्ष्य को लेकर चला था, किन्तु अनेक कारणों से वह यदा-कदा लड़खड़ाता रहा है। फिर भी इन सीमाओं और अवरोधों के बावजूद यह जनसाधारण की सेवा के महत्तर लक्ष्य से कभी विचलित नहीं हुआ है। यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी तुलना भक्ति-आन्दोलन से की है। उनके अनुसार, ''प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ, तो इसकी सम्भावनाएं अत्यधिक हैं। भक्ति-आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श-निष्ठा दिखायी पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रगट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।''[४]

---

१ हंसराज, 'रहबर', प्रगतिवाद, पुनमूर्ल्यांकन, पृ० ११-१२।
२ डॉ० नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० ११५-१६।
३ डॉ० मुक्त प्रगतिवाद की रूपरेखा पृ० ११०
४ डॉ० द्विवेदी हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ० ५०१।

डॉ० रांगेय राघव ने प्रगतिशील आन्दोलन का प्रबल समर्थन किया है, किन्तु उन्होंने प्रगतिवाद की अतिवादी भूमियों का विरोध किया है। कुछ प्रगतिवादी साहित्यकारों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, इतिहास साहित्य परम्पराओं आदि का उग्र विरोध किया है। डॉ० रांगेय राघव ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया और कहा कि हमें सम्पूर्ण पुरातन का विरोध न कर केवल उसके प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का विरोध करना चाहिए। इसी आधार पर उन्होंने कबीर आदि संत कवियों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें प्रगतिशील सिद्ध किया, क्योंकि उनके साहित्य में युग-जीवन की समस्याएँ मुखरित होती हैं।

डॉ० रांगेय राघव की चेतना में अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के स्वस्थ तत्त्वों के प्रति विशेष आग्रह है, किन्तु राष्ट्रीयता का आग्रह दुराग्रह की सीमा तक पहुँचकर उनके स्वस्थ अंतर्राष्ट्रीय बोध को दबा भी नहीं सका है। यही कारण है कि देश-विदेश के उन सभी स्वस्थ चिन्तनों और प्रेरणाओं को उन्होंने निःसंकोच अपनाया है, जो मानवता की मुक्ति और विकास से किसी प्रकार सम्बद्ध है। उन्होंने भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के स्रोतों तक पहुँचकर अपनी प्रगतिशील चेतना को विकसित किया है और उसी के आधार पर उन्होंने प्रारम्भ से लेकर अब तक के सामाजिक, सांस्कृतिक विकास का मूल्यांकन किया है। वे उन फैशनपरस्त प्रगतिवादी साहित्यकारों में से नहीं हैं, जो नवीनता के नाम पर अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों को नकार कर विदेशी कचड़े को अपनाने में भी गर्व का अनुभव करते हैं।

डॉ० रांगेय राघव ने प्रगति और प्रयोग दोनों को साहित्य का शाश्वत गुण माना है। 'प्रगति आत्मा है, प्रयोग शरीर; किन्तु जिन रूपों में ये आज हिन्दी में प्रचलित है, वे दो जातिवाद हैं। इन दोनों का समन्वय इतिहास की आवश्यकता है।'[1] उनकी दृष्टि में प्रगतिशील साहित्य नया मानववाद है, जो समाज की वैज्ञानिक व्याख्या के द्वारा मनुष्य को रूढ़ियों से मुक्त करता हुआ वर्गहीन समाज की रचना में प्रयत्नशील है। प्रगतिवाद की इस व्याख्या का प्रभाव उनकी अधिकांश कृतियों में दिखलायी पड़ता है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन का आह्वान उनके अधिकांश उपन्यासों में हुआ है कि और यह 'प्रगतिशील लेखक संघ' के घोषणाओं की आत्मा के ही अनुरूप है। तात्पर्य यह है कि प्रगतिशील लेखक संघ की प्रेरणा से हिन्दी में जो प्रगतिशील आन्दोलन चला, उसके लक्ष्य के अनुरूप साहित्य-सर्जना करनेवाले साहित्यकारों में डॉ० रांगेय राघव का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

अन्त में हम अब तक के सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि "डॉ० रांगेय राघव प्रगतिवादी साहित्य के इतिहास में प्रथम पंक्ति के साहित्यकार के रूप में स्मरण किये जायँगे और प्रगतिवादी साहित्य को उनका जो प्रदेय है, वह सदा मूल्यवान माना जायगा। नयी प्रगतिशील पीढ़ी में सर्वाधिक प्रतिभावान रांगेय राघव थे और कविरूप में अन्वेषी तथा संकीर्णताओं से काफी मुक्त भी थे।"[2]

प्रारम्भिक युग

उपन्यास आधुनिक सभ्यता की देन है। इसका प्रारम्भ हिन्दी गद्य के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ ही उपन्यास का प्रारम्भ माना जा सकता है। इस काल के उपन्यास-साहित्य में उद्देश्य की दृष्टि से मनोरंजन और साथ ही सुधारवादी भावना परिलक्षित होती है। शुद्ध मनोरंजन-प्रधान उपन्यासों में चकित कर देनेवाली घटनाओं का जाल-सा बिछा रहता है। इस युग में तिलिस्मी, जासूसी और ऐयारी उपन्यासों की एक धारा-सी चल पड़ी। इस धारा के उपन्यासकारों में देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद शर्मा, राधाचरण गोस्वामी, गोपालराम गहमरी आदि मुख्य है। देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' अपनी लोकप्रियता के कारण प्रारम्भिक युग की सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये, उतने और किसी ग्रन्थकार ने नहीं। चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए ही न जाने कितने उर्दू जीवी लोगों ने हिन्दी सीखी। चन्द्रकान्ता पढ़ चुकने पर वे 'चन्द्रकान्ता' की किस्म की कोई किताब ढूंढ़ने में परेशान रहते थे। शुरू में वे 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिन्दी के लेखक हो गये।''[3] इन उपन्यासों का कथानक प्रायः एक-सा होता है और इन कथानकों में कल्पना की निर्बन्ध क्रीड़ा का चमत्कार खूब देखने को मिलता है।

प्रारम्भिक युग के साहित्यकारों को सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों और पाश्चात्य सभ्यता की अन्धी अनुकृतियों

---

१ रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदंड, पृ० ३४६।

२ श्री गिरिजाकुमार माथुर नयी कविता की सीमाएँ और सम्भावनाएँ पृ० ५५।

३ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४७८

दोनों बुरी तरह सालने लगीं। इसीलिए इनकी कृतियों में सामाजिक, धार्मिक, जागरण का स्वर सुनायी पड़ने लगा। सामाजिक जागरण का स्वर राजनैतिक जागरण के स्वर से कहीं अधिक स्पष्ट और उग्र था। इस जागरण का आभास हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' में मिल जाता है। इस काल के अन्य सामाजिक उपन्यासों में 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान' (बालकृष्ण भट्ट), 'निस्सहाय हिन्दू' (राधाकृष्ण दास), विधवा विपत्ति' (राधाचरण गोस्वामी), 'जया' (कार्तिकप्रसाद खत्री), 'लवंग लतिका', 'कुसुम कुमारी' (किशोरीलाल गोस्वामी), ''सास पतोहू', 'बड़ा भाई', 'नये बाबू' (गोपालदास गहमरी) और 'परतन्त्र लक्ष्मी' (लज्जाराम मेहता) आदि प्रमुख हैं। इन उपन्यासों में उपदेश को अधिक प्रधानता मिली है। ''समाज की सतह पर बहती हुई घटनाओं को पकड़ा गया है, उनका निरूपण किया गया है, उन घटनाओं और परिस्थितियों में किसी पात्र को डाल कर उसकी उन्नति-अवनति की दिशाएँ अंकित की गयी हैं। उसके पाप-पुण्य और अन्याय क्रिया-कलापों का स्थूल चित्रण किया गया है। इस बात को बहुत ही स्पष्ट ढंग से दिखाने का प्रयास किया गया है कि अमुक परिस्थितियों में पड़कर मनुष्य भला-बुरा कर्म करने लगता है।''[१]

इस काल मे ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना हुई है। किशोरीलाल गोस्वामी का 'हृदय हारिणी' इस परम्परा का प्रथम उपन्यास है। इसके अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में 'पृथ्वीराज चौहान', 'कुमारसिंह', 'सेनापति', 'हम्मीर', (गंगाप्रसाद), 'पंजाब पतन' (श्यामसुन्दर वध), 'वीर चूड़ामणि' (कृष्णप्रसाद सिंह अखौरी), 'नूरजहाँ' (मथुराप्रसाद वर्मा), 'लालचीन' (व्रजनंदन सहाय) आदि के नाम अग्रगण्य हैं। इन उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण है। किशोरीलाल गोस्वामी के अपने उपन्यास 'तारा' की भूमिका में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि ''हमने अपने बनाये उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से ही नमस्कार भी कर दिया है। . . यहाँ कल्पना का राज्य है, यथेष्ट लिखित इतिहास का नहीं, और इसमें आर्यों के यथार्थ गौरव का गुण कीर्तन है।....... इसलिए लोग इसे इतिहास न समझें और इसकी सम्पूर्ण घटना को इतिहास में खोजने का उद्योग भी न करें।[२]'' इन ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांचकारी घटनाओं की सृष्टि कर उन्हें मनोरंजनात्मक बनाया गया है और साथ ही साथ इनमें उपदेश का स्वर भी बुलन्द किया गया है। कल्पना और इतिहास के विचित्र संयोग से जिस परम्परा का प्रारम्भ हुआ, आगे चलकर उसी का विकसित रूप ऐतिहासिक उपन्यास-साहित्य के रूप में दिखायी देता है।

इन मौलिक उपन्यासों की रचना के साथ-साथ अन्य भाषाओं के अनुवाद भी किये जा रहे थे। ये अनुवाद कथा-साहित्य के प्रति जगी हुई जनरुचि के परिणाम थे। इस काल में मराठी, गुजराती, बंगला, उर्दू, अंग्रेजी तथा संस्कृत की कथाओं के अनुवाद हुए, पर बंगला की रचनाओं के हिन्दी रूपान्तर अधिक हुए, क्योंकि उसका उपन्यास साहित्य भारतीय भाषाओं में सबसे समृद्ध था। बंकिमचंद्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चंडीचरण सेन, चारुचंद्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत्चद्र आदि के उपन्यासों के अनुवाद इस काल में प्रकाशित हुए। अंग्रेजी के 'लंडन रहस्य', 'टाम काका की कुटिया' आदि उपन्यासों के भी अनुवाद हुए। अनुवाद-कार्य में प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा और ईश्वरीप्रसाद वर्मा आदि अनेक लेखकों ने योग दिया।

प्रेमचन्द-युग

प्रारंभिक युग के हिन्दी-उपन्यासों को कल्पना, रोमांस, ऐयारी, तिलिस्मी तथा ऐतिहासिक भूमियाँ उपलब्ध हो चुकी थीं, किन्तु उनमें बचकानापन था और प्रौढ़ता का नितांत अभाव था। 'प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यासों में हमें हाथ, पैर, कान, आँख की ही करामात अधिक मिलती है। हाँ, उनमें बुद्धि का कुछ योग अवश्य है, परन्तु वहाँ मन की करामात कम ही मिलती है''[३] प्रेमचन्द ने पहली बार उपन्यास के मौलिक क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्य को पहचाना तथा उसे भव्य समृद्धि प्रदान की। उनके व्यापकत्व के कारण ही इस काल को 'प्रेमचन्द-काल' की संज्ञा दी जाती है।

प्रारंभिक काल में हिन्दी-उपन्यास को गहरे आदर्शवाद के रंग में डुबो दिया गया था। हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में ही एक पथ-भ्रष्ट नवयुवक के सुधार की आदर्शवादी गाथा प्रस्तुत की गयी थी। किन्तु

---

१ डॉ० रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० २६।

२ 'तारा' भूमिका

३ हिन्दी [illegible] और यथार्थवाद (प्रथम संस्करण) भूमिका डॉ० [illegible] पृ० ५

इस सुधारवाद में कला का योग नहीं था। प्रेमचन्द-काल में इस सुधारवादी दृष्टिकोण को यथार्थ और कलात्मक भूमिका पर उतारा गया, जिससे वह अधिक स्वाभाविक विश्वसनीय और व्यापक स्वरूप धारण करता हुआ चला गया। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में जहाँ समाज का यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया है, वहाँ दूसरी ओर उसे एक आदर्श से भी सम्बन्धित कर दिया है। उनके साहित्य में व्यवहृत यही यथार्थ आदर्श से मिलकर 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' बन गया है। 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है कि, "इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते है। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए।"[1] उन्होंने प्राय सभी उपन्यासों में अपने इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द ने यथार्थ को गहराई से पकड़ा और उसे ही अभिव्यक्ति देना अपने उपन्यास का लक्ष्य समझा। हिन्दी के सर्वप्रथम यथार्थवादी उपन्यासकार होकर भी प्रेमचन्द ने यथार्थ को बहुत ही सही रूप में परखा। उनका यथार्थबोध न तो प्रकृतिवादियों की तरह मनुष्य की पाशव वृत्तियों का शिकार मात्र मानकर अश्लीलता और विकृत नग्नता के उद्घाटन में कृतकृत्यता अनुभव करता है, न वह मनोविश्लेषणशास्त्रियों की तरह व्यक्ति के एकान्त सत्य को चरम सत्य मानकर जनजीवन निरपेक्ष साहित्य की रचना में प्रवृत्त होता है, और न उग्र समाजवादियों की तरह व्यक्ति को सामाजिक जीवन की एक यांत्रिक इकाई मानकर सामाजिक जीवन को एक विशेष प्रकार की समाजवादी दृष्टि से प्रस्तुत करता है"।[2]

प्रेमचन्द और तत्कालीन उपन्यासकार प्रसाद, निराला, कौशिक, जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, ऋषभचरण, भगवतीचरण वर्मा, श्रीनाथ सिंह, सियाराम शरण गुप्त, भगवतीप्रसाद बाजपेयी आदि ने सामाजिक समस्याओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। जिनमें नारी-समस्या आर्थिक असमानता की समस्या, धार्मिक अंधविश्वासों को दूर करने की समस्या, अछूतोद्धार की समस्या, गाँवों के उत्थान की समस्या गोरों के अत्याचार के अंत की समस्या, शिक्षा-पद्धति की समस्या आदि ऐसे प्रमुख विषय थे, जिन पर इन लेखकों की लेखनी खुलकर चली है। सामाजिक कुरीतियों में वेश्यावृत्ति की विभीषिका से अधिक लोग परिचित थे। प्रेमचन्द का पहला उपन्यास 'सेवा-सदन' प्रकारान्तर से 'परीक्षा-गुरु' और 'सौ अजान एक सुजान' की वेश्यावृत्ति-समस्या को ही प्रस्तुत करता है।[3] उन्होंने इस समस्या को अनेक पहलुओं से उठाया और उन कारणों पर भी प्रकाश डाला, जो नारियों को वेश्या बनने पर मजबूर कर देते हैं। वेश्यावृत्ति के साथ ही उन्होंने समाज के अन्य पहलुओं को भी उठाया। 'सेवा-सदन' में ही दहेज-प्रथा, घूसखोरी, अनमेल विवाह और पारिवारिक वैमनस्य आदि की समस्याएँ गुम्फित है। असन्तुष्ट, गृहस्थ के साधु जीवनयापन पर भी इसमें तीव्र व्यंग्य उपस्थित किया गया है। अनमेल विवाह और दहेज की भीषण समस्या को 'निर्मला' में उभारा गया है। इस लघु उपन्यास में सारी पीड़ित नारियाँ अपनी गुहार मचाती हुई दिखायी देती हैं। इस समस्या को भी अनेक उपन्यासकारों ने उठाया है।[4] प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' में हिन्दू-मुस्लिम समस्या की ओर संकेत दिया है। "समाज के भीतर के अनेक वर्गों को भी प्रेमचन्द ने व्यापक रूप से देखा है और जमींदार-किसान, सूदखोर महाजन और निर्धन कर्जदार श्रमिक महाजनी संस्कृति के पाद-पीठ पण्डे-पुरोहित और स्थितिहीन वर्गों में भूमिहीन खेतिहर और भिखारी-वर्ग सामने आते हैं।"[5]

मध्यवर्गीय जीवन के चित्रण का आग्रह प्रेमचन्दकालीन प्रायः सभी उपन्यासकारों में है। इतना निश्चित था कि वे आर्थिक पहलुओं के प्रति विद्रोही थे, इसलिए अधिक से अधिक समाज के इसी प्रश्न पर वे केन्द्रित भी होते दिखायी देते हैं। प्रेमचन्द ने मध्यवर्गीय जीवन का पूरा चित्र खींचा है और उन समस्याओं का विश्लेषण किया है, जो इस वर्ग के जीवन को प्रभावित करती हैं।

"इस वर्ग की विस्तृत सीमा में कई आर्थिक स्तर के व्यक्ति सम्मिलित है। आर्थिक एकरूपता के अभाव

---

१ प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृ० ५०-५१।

२ डॉ० रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० ३५-३६।

३ वेश्या-संबंधी अन्य प्रमुख उपन्यास, 'मंच' (राजेश्वर प्रसाद), 'माँ' (कौशिक), 'वेश्यापुत्र' (ऋषभचरण), 'अप्सरा' (निराला), 'वेश्या का हृदय' (धनीराम प्रेम), 'पतिता की साधना' (भगवती प्रसाद वाजपेयी), 'पाप और पुण्य' (प्रफुल्लचंद्र ओझा) मुख्य हैं।

४ 'भ्रम' (श्रीनाथ सिंह) 'मीठी चुटकी' 'अनाथ पत्नी' (भगवती प्रसाद वाजपेयी) 'तलाक' (प्रफुल्लचंद्र ओझा)

में इनके स्वार्थों में पर्याप्त संघर्ष दिखायी पड़ता है। आर्थिक भिन्नता के फलस्वरूप इनकी मर्यादा के घेरे भी अलग-अलग हैं, यद्यपि प्रकाश्य रूप से वे इसे स्वीकार नहीं करते। कौटुम्बिक और सामाजिक मर्यादा तथा आर्थिक अनिश्चितता की चक्की के दो पाटों के बीच यह वर्ग बराबर पिसता रहता है। कौटुम्बिक तथा सामाजिक मर्यादा चक्की का ऊपरी पाट है तो आर्थिक असन्तुलन चक्की का निचला पाट इन समस्त प्रवृत्तियों का अंकन 'सेवा-सदन' (१९१४) में अच्छी तरह हुआ है।"[1] 'सेवासदन' के अतिरिक्त 'निर्मला' और 'गबन' में मध्यवर्ग की स्थूल समस्याओं को उभारा गया है। 'गबन' मध्यवर्गीय जीवन-यथार्थ को व्यक्त करनेवाला सशक्त उपन्यास है। मध्यवर्गीय जीवन की असंगतियों और मनोवैज्ञानिक सत्यों का बड़ा ही तीखा बोध इसके द्वारा व्यक्त हुआ है।

इस आलोच्य युग की अन्तिम और सशक्त कृति 'गोदान' है। गोदान में प्रेमचन्द की सम्पूर्ण साहित्यिक और वैयक्तिक उपलब्धियाँ अपने पूरे विश्वास के साथ व्यक्त हुई हैं। यह आधुनिक हिन्दी साहित्य में वस्तु और शिल्प, विचार और विवेचन, यथार्थ और आदर्श तथा भाषा की दृष्टि से युगसन्धि स्थापित करनेवाली महान् कला-सृष्टि है। यह महाकाव्यात्मक उपन्यास प्रेमचन्द की ही नहीं, समस्त हिन्दी उपन्यास साहित्य की अमूल्य निधि है।

गोदान की कहानी देहात और शहर दोनों के जीवन से सम्बन्धित है। वस्तुतः भारत के सम्पूर्ण जीवन के इसी प्रस्तुतीकरण से ही इसमें महाकाव्य की गरिमा आ गयी है। इसका नायक होरी अवध के एक गाँव का किसान है। वह केवल एक व्यक्ति नहीं, भारतीय किसान के जीवन का प्रतीक है। उसके व्यक्तिगत जीवन में भारतीय कृषक की परंपराओं, सांस्कृतिक विरासतों, उसकी रूढ़ियों और रीति-रिवाजों, उसकी कण्ठ-कथाओं और अतृप्त अभिलाषाओं आदि की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है।

गोदान में आदर्शवादी ढाँचा लड़खड़ा गया है और यथार्थ को विजय मिली है। "समझौते का स्वप्न समाप्त हो गया है और विश्वासों की नीवें ढह गयी हैं। यहीं पर प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य की विचार-भूमि की संधि रेखा है, जो पिछले युग से अधिक गहरी, व्यापक, मूलनिष्ठ और क्रान्तदर्शिनी है और जिसमें राजनीति तथा मनोविज्ञान की नई उपलब्धियों का चकाचौंध फैलाने वाला प्रकाश है, अस्पष्ट चिन्तन की रहस्य-वीथियाँ नहीं हैं।"[2]

प्रेमचन्दोत्तर काल

प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यास का व्यापक विकास हुआ है। यह विकास प्रेमचन्द की यथार्थवादी पृष्ठभूमि पर ही आधारित है। प्रेमचन्द ने एक ओर सामाजिक जीवन की यथार्थ समस्याओं को उद्घाटित किया तो दूसरी ओर परिस्थिति सापेक्ष मन- सत्यों को अभिव्यक्ति दी। प्रेमचन्द में यथार्थ के जिन दो आयामों (सामाजिक और मनोवैज्ञानिक) का उद्घाटन हुआ, वे प्रेमचन्द के बाद अलग-अलग धाराओं में बँटकर तथा अपनी-अपनी धारा की अन्य अनेक सूक्ष्म बातों में संश्लिष्ट होकर बहुत तीव्र और विशिष्ट रूप में विकसित होते गये। अत एक ओर मनोविज्ञान की धारा बही, दूसरी ओर समाजवाद की।[3]

प्रेमचन्द के पश्चात् उपन्यासों की सबसे प्रधान मौलिक प्रवृत्ति मनोविज्ञान है। यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द के मनोविज्ञान से वस्तुतः अलग है, जो मनोविज्ञान की नवीन खोजों से प्राप्त सत्यों को आधार बनाकर चली। "मनोविज्ञान की इस नई धारा ने न केवल मनोविश्लेषण शास्त्रियों द्वारा उद्घाटित रहस्यों को अपनाया बल्कि प्रकृतिवाद, अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद आदि द्वारा गृहीत मानससत्यों को भी आत्मसात् किया। कहने का अभिप्राय यह है कि यह अन्तर-लोक की यात्रा जिसमें बाहरी दुनिया से निरपेक्ष होकर या बाहरी-दुनिया को अपनी ओर उन्मुख कर मानस-सत्यों का साक्षात्कार किया गया है",[4] मनोविज्ञान की नई खोजों और प्रयोगों ने चरित्र-सम्बन्धी सारी पूर्व धारणाएँ बदल दीं। यह सिद्ध होने लगा कि मनुष्य का चरित्र उसके चेतन में नहीं, अचेतन से निर्मित और संचालित होता है।

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रारम्भ जैनेन्द्रकुमार के 'परख' और 'सुनीता' से माना जाता है। जैनेन्द्रकुमार ने प्रथमतः रूढ़िवादी शृंखलाओं और बँधी हुई परिस्थितियों से मुक्त होकर मन की परीक्षा की। उनका

---

१ डॉ० बच्चन सिंह, आलोचना, १३ अक्टूबर, १९५४, पृ० १२७।

२ डॉ० रामरतन भटनागर, आलोचना, १३ अक्टूबर. १९५४- पृ० १०।

३ डॉ० रामदरश मिश्र हिन्दी एक अन्तर्यात्रा पृ० ६३

४ वही पृ० ६३

'परख' मानसिक द्वन्द्वों और संघर्षों का सूक्ष्म अवलोकन करके व्यक्तित्व की रेखाएँ खींचता है। 'सुनीता', 'परख' से भिन्न कृति है। इसमें उपन्यासकार का दर्शन अधिक उभर आया है। हरिप्रसन्न, श्रीकान्त और सुनीता को विशिष्ट परिस्थितियों में डालकर उपन्यासकार दार्शनिक विवेचन द्वारा आगे बढ़ता है। यही प्रवृत्ति उनके अन्य उपन्यास 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्धन' और 'मुक्ति-बोध' में पायी जाती है। ''जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक विशेषताओं को चित्रित करने का बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक प्रयास उनकी आरंभिक कृतियों में किया गया था। परन्तु जैनेन्द्रजी मनोवैज्ञानिक वस्तुनिर्माण के साथ जब से दर्शन का पुट अधिक मिलाने लगे, तब से उनकी रचनाओं का प्रभाव और उत्कर्ष संदिग्ध हो गया है। कदाचित् मनोवैज्ञानिक चित्रण और परिस्थिति-निर्देश की प्रमुखता रखनेवाले उपन्यासों को दार्शनिक तत्त्वज्ञान के सम्पर्क में लाना ही खतरनाक है[१]।''

जैनेन्द्र के बाद इलाचन्द्र जोशी ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर कथा और कला का संयोजन किया है। उनके उपन्यास 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ', 'जहाज का पंछी' आदि में युवकों के असाधारण जीवन का विश्लेषण है। इन्होंने जैनेन्द्रकुमार की तरह अपने को गांधी-युग की प्रवृत्तियों से प्रभावित नहीं होने दिया। जहाँ तक मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि जोशी पर तीनों मनोविश्लेषणवादियों-फ्रायड, एडलर, युंग- का प्रभाव है, किन्तु वे सबसे निकट युंग के हैं क्योंकि वे उसके सामूहिक अवचेतनवाद से बहुत दूर तक सहमत है। इसके अतिरिक्त जोशी पर मार्क्सवाद का भी प्रभाव लक्षित होता है। इसलिए वे अंतश्चेतना का विश्लेषण एक वैज्ञानिक की तरह करके चुप नहीं हो जाते वरन् सामाजिक जीवन के साथ अलगाव पैदा करनेवाली उसकी वृत्तियों पर आघात भी करते हैं[२]।

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को प्रौढ़ रूप देने का श्रेय अज्ञेय को ही है। अज्ञेय में मनोविश्लेषण की अपूर्व क्षमता है, जाग्रत और सूक्ष्म सौंदर्य-बोध है। उसमें कलात्मकता के प्रति ईमानदारी की चेतना है और अनुकूल शिल्प-सृष्टि करने की शक्ति है। 'शेखर एक जीवनी' में उन्होंने एक व्यक्ति के जीवन तथ्यों का चित्रण प्रस्तुत किया है। यह संस्मरणात्मक उपन्यास नायक की दमित वासनाओं को उघाकर रख देता है। 'नदी के द्वीप' इने-गिने पात्रों के आधार पर जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने का प्रयास है। विभिन्न चौराहों पर खड़े होकर लेखक ने बार-बार पात्रों की मनःस्थितियों का चित्र खींचा है। ये पात्र बाहर की अपेक्षा भीतर-ही-भीतर जीते हैं, आत्म-मंथन करते है, मंथन के फल-स्वरूप जो सत्य उपलब्ध होते है, उन्हे सूक्तियों के रूप में व्यक्त करते हैं।

प्रेमचन्द के बाद सामाजिक उपन्यासों की एक लम्बी परम्परा है, जो सामाजिक जीवन के यथार्थ को लक्ष्य बनाकर चली है। इनमें व्यक्ति की अपेक्षा सामाजिक जीवन को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस उपन्यासों में लेखक किसी विशिष्ट जीवन-दर्शन से बँधा नहीं रहता। प्रेमचन्द के पश्चात् सामाजिक उपन्यासों की एक नई धारा प्रवाहित हुई, जो अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न हो गयी। इन उपन्यासों की गणना प्रगतिवादी साहित्य के अन्दर की गयी है।

हिन्दी में समाजवादी उपन्यासकारों में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त आदि मुख्य है। इनमें यशपाल सर्वप्रमुख हैं, जिनकी कृतियों में मार्क्सवादी दर्शन का आग्रह उभर कर आया है। इनके प्रथम उपन्यास 'दादा कामरेड' में रोमांस और राजनैतिक सिद्धान्तों का मिश्रण हुआ हैं। उपन्यास राजनीतिक पीठिका पर अवलम्बित है, जिसमें लेखक ने आतंकवादी क्रांतिकारी दल की कार्यपद्धति का, जो सीमित और व्यक्तिगत थी, विरोध करके सामूहित, राजनीतिक भावना और आलोचना का समर्थन किया है। 'देशद्रोही' इनका दूसरा उपन्यास है, जिसमें इन्होंने कम्युनिष्ट पार्टी की युद्ध-समर्थक नीति के औचित्य को सिद्ध करते हुए मजदूर-आन्दोलन का रूप देने का प्रयास किया है। 'दादा कामरेड' की अपेक्षा 'देशद्रोही' अधिक निखरी हुई रचना है और इसका आधार-फलक भी अधिक विस्तृत है। इनके अन्य उपन्यास 'दिव्या', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप', 'अमिता', 'झूठा सच', 'बारह घण्टे' आदि में भी मार्क्सवादी सिद्धांतों का प्रचार हुआ है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में आंचलिक उपन्यासों की एक सुन्दर, स्वस्थ और नवीन परम्परा प्रवाहित होती है। इन उपन्यासों में किसी अंचल विशेष को स्वीकार करके उपन्यासकार उसका यथार्थवादी चित्रण करता है। उस अचल के निवासियों का रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज तथा राजनीतिक, धार्मिक दशा आदि

---

१ आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १७७-७८।

२ डॉ० मिश्र हिन्दी एक अन्तर्यात्रा पृ० ८१

का पूरा ब्यौरा इन उपन्यासों में रहता है। हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास 'बलचनमा' को कहा जाता है। बलचनमा की रचना-भूमि प्रेमचन्द की वसीयत है। नागार्जुन की इस कृति के पश्चात् अनेक उपन्यासकार इस क्षेत्र में आ जाते हैं, जिनमें डॉ० रांगेय राघव, फणीश्वरनाथ 'रेणु', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', उदशंकर भट्ट, रामदरश मिश्र एवं शिवप्रसाद सिंह आदि मुख्य है।

इस आलोच्य काल में ऐतिहासिक उपन्यासों की भी एक स्वस्थ परंपरा दिखलायी पड़ती है, किन्तु ऐसी सशक्त शृंखला जो अतीत को पूर्ण सचाई और रसात्मकता के साथ प्रस्तुत कर सके, अभी हिन्दी में नहीं आ पायी है। हिन्दी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन हजारी प्रसाद द्विवेदी, भगवतीचरण वर्मा, डॉ० रांगेय राघव, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय, रामरतन भटनागर आदि मुख्य हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने सर वाल्टर स्काट के समान ऐतिहासिक रोमांस भी लिखा है और उस क्षेत्र में उनकी कृति 'विराटा की पद्मिनी' स्मरणीय है। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में 'गढ़-कुण्डार', 'झाँसी की रानी' और 'अहिल्याबाई' का नाम लिया जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन और यशपाल के उपन्यासों में मार्क्सवादी दर्शन अधिक उभर आया है, जिसमें ऐतिहासिकता को गहरा आघात लगा है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण कमियों के बावजूद भी हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक उपन्यास यथेष्ठ विकसित और वैविध्यपूर्ण होता चला जा रहा है और हमें आशा है कि शीघ्र ही हिन्दी में कुछ ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना होगी, जिनमें हिन्दी-साहित्य विश्व के श्रेष्ठ साहित्यों में अग्रणी हो सकेगा।

डॉ० रांगेय राघव प्रेमचन्दोत्तर काल के बहुमुखी प्रतिभा के उपन्यासकार हैं। इन्होंने एक साथ ही सामाजिक समाजवादी, आंचलिक, ऐतिहासिक तथा जीवनचरितात्मक उपन्यासों की रचना की। जीवनचरितात्मक उपन्यासों की रचना कर इन्होंने औपन्यासिक क्षेत्र में एक नई विधा प्रदान की। इनकी यह मौलिकता आधुनिक उपन्यास-जगत में इन्हें एक ऐसा आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान करती है, जो आज सम्भवतः सर्वाधिक चर्चा का विषय है। उपन्यास के संपूर्ण रचना-तत्त्वों में डॉ० रांगेय राघव की मौलिकता हमें दृष्टिगोचर होती है।

उपन्यासकार के रूप में डॉ० रांगेय राघव का आगमन 'घरौंदे' के साथ हुआ और इसी रचना से उनके भविष्य का संकेत भी मिल सका। "जैसी शक्ति श्री रांगेय राघव ने अपने प्रथम प्रयास में प्रगट की है, वह साहित्य की साधारण घटना नहीं। यह हिन्दी में एक नयी सृजन शक्ति के अभ्युदय की सूचना हैं[1]।" यदि मौलिक रचना का पहज़ापन छोड़ दिया जाय, तो उन्होंने 'घरौंदे' से भी पहले उपन्यास लिखा था, जो विदेशी साहित्यों के भारतीय वातावरण के अनुकूल किये गये रूपान्तर थे, जैसे बोलते खंडहर, अँधेरे की भूख[2]। इन कृतियों में रोमांस का प्रभाव अधिक था।

डॉ० रांगेय राघव प्रेमचन्द की परम्परा के उपन्यासकार हैं। जिस तरह प्रेमचन्द अपने समय की रूढ़ियों और परंपराओं से ऊपर लिखने लगे, डॉ० रांगेय राघव भी वैसे ही अपने समय की विकृत साहित्यिक गति से छँटकर ऊपर चमकने लगे। इस दृष्टि से अपने समय के उपन्यासकारों से आगे है। डॉ० रांगेय राघव सामाजिक परिवर्तन के अनुसार गतिशील रहे और युग के साथ पग मिलाकर चले। 'घरौंदे' से लेकर 'आखिरी आवाज' तक की प्रगति स्वयं इस बात की साक्षी है कि ये अपनी चौकसी में कभी ढीले नहीं पड़े।

इनके उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ और युग-चेतना का स्वर अधिक मुखर है। यहाँ तक कि पौराणिक-ऐतिहासिक कृतियों में भी युग-चेतना का प्रभाव छूटा नहीं है। उन प्राचीन प्रसंगों के वर्णनों के क्रम में भी वर्तमान सामाजिक समस्याओं का अप्रत्यक्ष स्पर्श हुआ है। इन्होंने मनुष्य की दुर्दशा को युगों से चले आते हुए शोषण के संदर्भ में देखा है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि देश और काल की सीमाओं के बावजूद भी मानव-समाज सदा से ही शोषकों और शोषितों के वर्गों में बँटा रहा है।

प्रेमचन्द-परवर्ती युग के हिन्दी-उपन्यासकारों में डॉ० रांगेय राघव गोर्की के सबसे निकट थे। गोर्की के समान इन्होंने निम्न से निम्न जनों में निस्संकोच प्रवेश कर उनके जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन किया और फिर तूफान की-सी गति से कृतियों की रचना की। "अपने दृष्टिकोण से राघव गोर्की को सर्वाधिक निकट पाते हैं, पर वे गोर्की की और परिस्थितियों के अन्तर को नहीं भूलते। उनका स्पष्ट कहना है- "रूस में और भारत में अन्तर भी है। रूस की मानवतावादी विचारधारा अल्पकालीन थी। भारत की बहुत पुरानी है।""[3]

---

१. डॉ० प्रकाशचंद्र गुप्त, आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि, पृ० १८०।

२ आधुनिक उपन्यास अंक साहित्य-संदेश जुलाई-अगस्त १९५६ पृ० ८७

३ डॉ० भारतभूषण आलोचना जनवरी मार्च १९६८ पृ० ८१

शिल्प की दृष्टि से भी डॉ० रांगेय राघव के उपन्यासों की अनेक उल्लेखनीय उपलब्धियाँ है। आत्मविश्लेषणात्मक, भाव-प्रधान, काव्यात्मक, डायरी-शैली आदि कथात्मक शिल्प-विधियों का प्रयोग उनके उपन्यासों में अत्यन्त सामर्थ्य एवं सफलता के साथ हुआ है। इनकी भाषा-शैली, रचना-तंत्र आदि ने हिन्दी के आधुनिक पाठक एवं समीक्षक- दोनों के भाव-बोध को बड़ी गहराई से स्पर्श किया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि इनकी औपन्यासिक सृजन की जो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं, वे वस्तुतः आधुनिक हिन्दी उपन्यास के गौरव-संवर्द्धन में सहायक हुई हैं। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी साहित्य के जितने भी उपन्यासकार हैं, उन सबमें डॉ० रांगेय राघव ही युग और साहित्य पर सबसे हावी रहे। इनकी कला स्वाभाविक, मौलिक तथा इनके व्यक्तित्व के पारदर्शक दर्पण के रूप में अपना पृथक् ही महत्त्व रखती है। किन्तु यह देखकर दुख होता है कि डॉ० रांगेय राघव की प्रतिभा का समुचित समादर नहीं किया गया। इसका उत्तर हिन्दी साहित्य के महारथियों को ही देना है।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

: हिन्दी

लेखक	ग्रन्थ
अमृत लाल नागर	सेठ बांकेलाल
	बूँद और समुद्र
	अमृत और विष
अमृत राय	बीज
अज्ञेय	शेखर : एक जीवनी (प्रथम और द्वितीय भाग)
	नदी के द्वीप
	अपने-अपने अजनबी
	हिन्दी साहित्य, एक आधुनिक परिदृश्य
अमृत श्रीपाद डांगे	जन-जीवन और साहित्य (अध्यक्षीय भाषण)
अर्जुन चौबे काश्यप	सामान्य मनोविज्ञान
अरविन्द गुर्टू (संपादक)	हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग
आनन्द प्रकाश जैन	कुणाल की आँखें
डॉ० (श्रीमती) ओम् शुक्ल	हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास
इलाचन्द्र जोशी	लज्जा
	संयासी
	पर्दे की रानी
	प्रेत और छाया
	जहाज का पंछी
	साहित्य-चिंतन
	देखा-परखा
डॉ० इन्द्रनाथ मदान	आज का हिन्दी उपन्यास
	प्रेमचन्द : एक विवेचन
उपेन्द्रनाथ अश्क	सितारों का खेल
	गिरती दीवारें
	शहर में घूमता आइना
	रेखाएँ और चित्र
उदयशंकर भट्ट	सागर, लहरें और मनुष्य
डॉ० उदयभानु सिंह	तुलसी काव्य-मीमांसा
कमलाकान्त पाठक	मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य
केसरीनारायण शुक्ल	रूसी साहित्य का इतिहास
	आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत
किशोरीलाल गोस्वामी	हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी
	लवंगलता का आदर्श बाला
	तारा
	राजकुमारी
	कनक कुसुम या मस्तानी
	सुल्ताना रजिया बेगम
कृष्ण प्रसाद सिंह अखौरी	वीर चूड़ामणि
डॉ० गणेशन	हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन
गिरिजाकुमार माथुर	नयी कविता की सीमाएँ और संभावनाएँ
गुलाब राय	सिद्धान्त और
	काव्य के रूप

गोपीनाथ तिवारी	ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार
गोपालराम गहमरी	नए बाबू
	बड़ा भाई
	सास-पतोहू
	उड़नखटोला
गंगाप्रसाद पाण्डेय	हिन्दी कथा-साहित्य
गंगाप्रसाद गुप्त	नूरजहाँ
	कुमार सिंह
डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी	हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन
आचार्य चतुरसेन शास्त्री	वैशाली की नगरवधू
	सोमनाथ
आचार्य चतुरसेन शास्त्री	वयं रक्षामः
जयशंकर प्रसाद	कंकाल
	तितली
	कामायनी
	काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध
जगन्नाथप्रसाद वर्मा	कहानी का रचना-विधान
जैनेन्द्रकुमार	सुनीता
	त्यागपत्र
	कल्याणी
	जयवर्द्धन
	साहित्य का श्रेय और प्रेय
तुलसीदास	रामचरितमानस
	कवितावली
	विनयपत्रिका
डॉ० त्रिभुवन सिंह	हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद,
	ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा
डॉ० देवराज	साहित्य-चिन्ता
	आधुनिक समीक्षा
डॉ० देवराज उपाध्याय	आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान
डॉ० धर्मवीर भारती	सूरज का सातवाँ घोड़ा
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (प्र० संपादक)	हिन्दी साहित्य-कोश
डॉ० नगेन्द्र	विचार और अनुभूति
	अरस्तू का काव्यशास्त्र
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी	नये साहित्य : नये प्रश्न
	हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी
	आधुनिक साहित्य
नरेश मेहता	डूबते मस्तूल
	यह पथ बन्धु था
नागार्जुन	बलचनमा
	बाबा बटेसरनाथ
	वरुण के बेटे
	दुखमोचन
डॉ० नामवर सिंह	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ

नेमिचन्द्र जैन	अधूरे साक्षात्कार
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	हिन्दी कथा-साहित्य
प्रकाशचन्द्र गुप्त	आज का हिन्दी-साहित्य
डॉ० प्रभाशंकर मिश्र	राहुल सांकृत्यायन का कथा साहित्य
प्रतापनारायण टण्डन	आधुनिक साहित्य
	हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास
	हिन्दी उपन्यास-कला
प्रभाकर माचवे	परन्तु
प्रेमचन्द	सेवा-सदन
	गबन
	प्रेमाश्रम
	कर्मभूमि
	रंगभूमि
	गोदान
	कुछ विचार
	साहित्य का उद्देश्य
फणीश्वरनाथ 'रेणु'	मैला आंचल
	परती परिकथा
डॉ० बच्चन सिंह	हिन्दी नाटक
	समकालीन हिन्दी साहित्यः आलोचना को चुनौती
बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्यशास्त्र
डॉ० बिन्दु अग्रवाल	हिन्दी-उपन्यास में नारी-चित्रण
बिहारी	बिहारी सतसई
भगवतीचरण वर्मा	टेढ़े-मेढ़े रास्ते
	चित्रलेखा
	भूले बिसरे चित्र
डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	साहित्य और कला
डॉ० भागीरथ मिश्र	काव्य-शास्त्र
	हिन्दी-साहित्य का उद्‌भव और विकास
भैरवप्रसाद गुप्त	गंगा मैया
	सती मैया का चौरा
मन्मथनाथ गुप्त	भारतीय क्रान्तिकारी आंदोलन का इतिहास
	प्रगतिवाद की रूपरेखा
महावीर अधिकारी	दस्तूर (अप्रकाशित)
डॉ० मक्खनलाल शर्मा	हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा
मैथिलीशरण गुप्त	साकेत
	द्वापर
मोहन राकेश	अँधेरे बन्द कमरे
यशपाल	दादा कामरेड
	देशद्रोही
	दिव्या
	पार्टी कामरेड
	मनुष्य के रूप
	मार्क्सवाद
	गांधीवाद की शव-परीक्षा

डॉ० रणवीर राग्रा	हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास
रवीन्द्र श्रीवास्तव	प्रगतिशील आलोचना
डॉ० रामदरश मिश्र	हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
डॉ० रामविलास शर्मा	प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ
	प्रगति और परंपरा
	प्रेमचन्द और उनका युग
	साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन
राहुल सांकृत्यायन	सिंह सेनापति
	विस्मृत यात्री
	वैज्ञानिक भौतिकवाद
डॉ० रामयतन सिंह 'भ्रमर'	आधुनिक हिन्दी कविता में चित्र-विधान
डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी	प्रगतिवादी समीक्षा
राजेन्द्र यादव	प्रेत बोलते हैं
	उखड़े हुए लोग
रामधारी सिंह "दिनकर"	कुरुक्षेत्र
डॉ० रामसागर त्रिपाठी	बिहारी-मीमांसा
डॉ० रांगेय राघव	रूप की ज्वाला
	देवदासी
	पाँच गधे
	साम्राज्य का वैभव
	जीवन के दाने
	अंगारे न बुझे
	इंसान पैदा हुआ
	समुद्र का फेन
	ऐय्याश मुर्दे
	अधूरी मूरत
	मेरी प्रिय कहानियाँ
	तूफानों के बीच
	इन्द्रधनुष
	स्वर्ग भूमि का यात्री
	विरूढ़क
	रामानुज
	आखिरी धब्बा
	मेधावी
	रूपछाया
	अजेय खण्डहर
	राह के दीपक
	पांचाली
	पंचशिखा
	प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास
	प्राचीन भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका
	भारतीय चिंतन
	संगम और संघर्ष
	काल विजय

	गोरखनाथ और उनका युग
डॉ० रांगेय राघव	आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार
	आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली
	काव्य, कला और शास्त्र
	काव्य, यथार्थ और प्रगति
	प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड
	समीक्षा और आदर्श
	काव्य के मूल विवेच्य
	तुलसीदास का कथा-शिल्प
	महाकाव्य विवेचन
	भारतीय संत परम्परा व समाज
	हिन्दी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक-पूर्वपीठिका
	संस्कृति और मानवशास्त्र
	सामाजिक समस्याएँ और रीति-रिवाज
	सामाजिक समस्याएँ और विघटन
	ऋतु संहार (चित्रसहित)
	महाकवि गेटे का काव्यलोक
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य
लक्ष्मीनारायण लाल	बया का घोंसला और साँप
	हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास
डॉ० लक्ष्मीकान्त सिन्हा	हिन्दी उपन्यास-साहित्य का उद्भव और विकास
विजयशंकर मल्ल	हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद
विजयेन्द्र स्नातक	चिन्तन के क्षण
डॉ० विजयपाल सिंह	केशव और उनका साहित्य
वृन्दावनलाल वर्मा	गढ़कुण्डार
	विराटा की पद्मिनी
	झाँसी की रानी
	मृगनयनी
	अहिल्याबाई
	दुर्गावती
शचीरानी गुर्टू (संपा०)	प्रेमचन्द : व्यक्तित्व और कृतित्व
डॉ० शशिभूषण सिंहल	उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा
डॉ० श्यामसुन्दर दास	साहित्यालोचन
डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त	हिन्दी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन
डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी उपन्यास
शिवदानसिंह चौहान	आलोचना के मान
	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष
	साहित्यानुशीलन
डॉ० शिवकुमार मिश्र	वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला
	प्रगतिवाद
शिवप्रसाद 'रुद्र'	बहती गंगा
डॉ० शिवप्रसाद सिंह	अलग-अलग वैतरणी
डॉ० शुभकार कपूर	आचार्य चतुरसेन का कथा-साहित्य
डॉ० शकरदेव अवतरे	हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग
श्रद्धाराम फिल्लौरी	भाग्यवती

श्रीनिवास दास	परीक्षागुरु
डॉ० श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास
डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री	हिन्दी उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन
डॉ० सत्यपाल चुघ	प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि
	अज्ञेय के उपन्यासों की शिल्प-विधि
सियारामशरण गुप्त	गोद
	अन्तिम आकांक्षा
	नारी
डॉ० सुषमा धवन	हिन्दी उपन्यास
डॉ० सुरेश सिन्हा	हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास
सुरेन्द्र तिवारी	यशपाल और हिन्दी कथा-साहित्य
डॉ० सुखदेव शुक्ल	हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता
स्तालिन	द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद (अनु० श्रीकृष्णदास)
डॉ० हरिवंश राय बच्चन (संपा०)	समसामयिक हिन्दी साहित्य
हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य
	साहित्य-सहचर
	विचार और वितर्क
	बाणभट्ट की आत्मकथा
	चारु चन्द्रलेख
हंसराज रहबर	प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना, कल्पना, धर्मयुग, माध्यम, सारिका, हिन्दुस्तान, हंस, समालोचक, साहित्य-संदेश, निष्ठा, राष्ट्रवाणी।

संस्कृत

दंडी	काव्यादर्श
धनंजय	दशरूपक
भरत	नाट्यशास्त्र
व्यास	श्रीमद्भागवद्गीता
विश्वनाथ	साहित्य-दर्पण
	कठोपनिषद्

मराठी

ना०स० इनामदार	झुंज
	झेप
	मंत्रावेगला
भीमराव कुलकर्णी	ओंकार
	हरिनारायण
भा०द० खेर, शैलजा राजे	यज्ञ
रणजीत देसाई	स्वामी
शिवाजी सावंत	मृत्युंजय
श्री ज० जोशी	आनंदी गोपाल

ENGLISH

Arnold Kettle	An Introduction to the English Novel.
Aristotle	The Theory of Poetry and Fine Art
Baker, Ernest	The History of the English Novel
Brewster	Representative Essays on the Theory of Style
Church, Richard	The Growth of the English Novel
Edel, Leon	The Psychological Novel
Engels	Anti-Duhring
Fast, Howard	Literature and Reality
Forster E M.	Aspects of the Novel
Gorky Maxim	Literature and Life
	Creative Labour and Culture
George Lukacs	Sutdy in European Realism
J. Middleton Murry	The Problem of style
J. Stalin	Dialectical & Historical Materialism
James Henry	Selected Letters
K. Marx & Engels	The Communist Manifesto
K Marx	Das Captial Vol. I
	The Poverty of Philosophy
Ligget H.W	The Idea in Fiction
Liddel, Robert	Some Principles of Fiction
	A Treatise on the Novel
Lawrence	Selected Literary Criticism
Mao-Tse-Tung	Problems of Arts & Literature
Marshall Percy	Masters of the English Novel
Maurice Cornforth	Dialectical Materialism-3 Vols
Dr Malik B.R.	Critical Essays
Mendilow A.A	Time and the Time
Muir Edwin	The Structure of the Novel
N. Bukharin	Historical Materialism
Prince D.A Mirsky	A History of Russian Literature
Ralph Fox	The Novel and the People
Reavey	Soviet Literature, Today
Richard Stang	The Theory of the Novel in English
Ross	Educational Psychology
Scot James	The Making of Literature
Stoddard F.H.	The Evolution of the English Novel
T. Edwards	New Dictionary of Thoughts
Turnell Martin	The Novel in France
V.D. Mahajan	Ancient India
Virian Francis	Creative Technique in Fiction
Walter Allen	The English Novel

Cassell's Encyclopaedia of Literature, Vol I

Encyclopaedia Americana, Vol, 17

●●●